जैन वस्तुस्वातंत्र्यवाद

अल्पना जैन

जैन वस्तुस्वातंत्र्यवाद

अल्पना जैन

वि.वि.प्र. सागर

जैन वस्तुस्वातंत्र्यवाद

अल्पना जैन

जैन वस्तुस्वातंत्र्यवाद

अल्पना जैन

वि.वि.प्र.
सागर

• *वस्तुस्वातंत्र्य* जिनागम की जीवन-दृष्टि होने के साथ-साथ *'विश्वदृष्टि'* भी है। अनेकान्तवाद को जैनदर्शन का मूल कहा जाता है लेकिन वस्तुस्वातंत्र्य उसका भी मूल है। वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा *जड़-चेतन* की जिस स्वतंत्रता को प्रकट करता है उससे एक ऐसी *'विश्वव्यवस्था'* उद्‌घाटित होती है, जिसमें जन-जन ही नहीं, कण-कण भी *अस्तित्त्वात्मक, क्रियात्मक* और *ज्ञानात्मक स्वतंत्रता* के भागी होते हैं।

• इस ग्रन्थ में *वस्तुस्वातंत्र्य* की अवधारणा को मूल सन्दर्भ बनाकर *'विश्वव्यवस्था'* के दार्शनिक, वैज्ञानिक प्रश्न के आलोक में *द्रव्यमीमांसा, कार्य-कारण मीमांसा, अकर्त्तावाद मीमांसा, कर्तृकर्म मीमांसा, षट्‌कारक मीमांसा, क्रमवद्धपर्याय मीमांसा, अभाव मीमांसा, अहिंसा मीमांसा एवं निश्चय-व्यवहार 'नय मीमांसा'* इत्यादि पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक रूप से विचार करते हुए यह प्रदर्शित किया गया है कि जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धांत किस तरह वस्तुस्वातंत्र्यवाद में मूलित हैं और वे किस तरह अपने-अपने तरीके से वस्तुस्वातंत्र्य को ही पुष्ट करते हैं।

• वस्तुस्वांत्र्यवाद का जनक क्या जैन दर्शन ही है? क्या ऐसा नहीं कि यह वस्तु की *प्रकृतिप्रदत्त स्वसहायस्वरूप* की मर्यादा है? हाँ, जैन दर्शन केवल विश्व के शान्ति विधायक सिद्धांत 'वस्तुस्वातंत्र्य' का उद्‌घोषक है। यदि इसे, केवल और केवल, जैन दर्शन से सम्बन्धित माना जाये तो क्या यह भी एक *'एकान्तदृष्टि'* नहीं होगी? वस्तुतः यह अनेकान्तवाद की विश्वदृष्टि में मूलित *'सर्वतंत्र स्वतंत्र'* जीवन दृष्टि है।

जैन वस्तुस्वातंत्र्यवाद

स्व. पूज्य पिताजी को

सादर

सप्रेम समर्पित

जैन वस्तुस्वातंत्र्यवाद

अल्पना जैन

विश्वविद्यालय प्रकाशन
सागर (म.प्र.)

जैन वस्तुस्वातंत्र्यवाद

© प्रकाशक

प्रथम संस्करण–2005

ISBN 81-88289-10-8

मूल्य–300/-

प्रकाशक :
विश्वविद्यालय प्रकाशन
गौर कॉम्प्लैक्स, परकोटा रोड, सागर-470 002 (म.प्र.)
फोन : 07582-243598

लेजर कम्पोजिंग :
एक्टिव कम्प्यूटर्स
सागर (म.प्र.). फोन : 503225

मुद्रक :
बुकमैन प्रिन्टर्स
दिल्ली-110092. फोन : 011-30945590, 9810367902

प्ररोचना

''जैन वस्तुस्वातंत्र्यवाद''नामक यह प्रबंध कोटि का ग्रन्थ श्रीमती अल्पना जैन के जैनदर्शन एवं जैनधर्म के सिद्धान्तों का अत्यन्त गम्भीरता और सूक्ष्मदृष्टि से किये गये अध्ययन का सुपरिणाम है। जैनदर्शन का निष्पक्षता एवं गवेषणापूर्वक अध्ययन करने वाले प्रबुद्ध पाठकों के लिए इस कृति में ऐसे अनेक स्थल प्राप्त होंगे, जहाँ अपने पूर्वाग्रहों एवं रूढ़ियों पर आधारित मन्तव्यों को विराम देकर, अतिमहत्त्वपूर्ण नवीन विचार बिन्दुओं पर निर्णय लेकर अपने चिन्तन को पुन: परिभाषित कर, स्पष्ट-नये-स्वस्थ दिशा निर्देश देने को अग्रसर होना होगा। जैनदर्शन में प्रवेश करनेवालों को एवं जैन सिद्धान्तों के मर्म को ग्रहण कर उसका तल-स्पर्शी तत्त्वज्ञान करनेवालों के लिए यह रचना दीप स्तम्भ का कार्य करने में पूर्णरूप से सक्षम होगी।

इस प्रबंध में जैनधर्म और जैनदर्शन के उन सभी विशेष महत्त्वपूर्ण और विचार- मंथन की अपेक्षा रखने वाले स्थलों का स्पर्श किया गया है जिन्हें समझने की सभी जैन व जैनेतर मनीषी विद्वानों को चिरकाल से जिज्ञासा रही है।

यहाँ जैनदर्शन के वस्तुस्वातन्त्र्य, अकर्तावाद, सृष्टि की अनादि-अनन्ता, अनेकान्त रूप वस्तु का स्वरूप, स्याद्वाद और अनेकान्त, क्रमबद्धपर्याय, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहारनय, प्रमाण और नय, प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण, केवलज्ञान, द्रव्य-गुण-पर्याय, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, षट्द्रव्यरूप स्वयंसिद्ध व्यवस्थितरूप विश्व व्यवस्था, जीवादिसात तत्त्वों का स्वरूप, वीतरागता, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय सुख, शुद्धोपयोग, कारण-कार्य व्यवस्था, संसार और मोक्ष, पुण्य और पाप, इहलोक और परलोक, विद्या-अविद्या, जीव और द्रव्यकर्मों का सम्बन्ध, जीव और भाव कर्मों का संबंध, भाव कर्म और द्रव्य कर्मों का परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध आदि अनेक गूढ़ विषयों पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार प्रगट किये गये हैं।

इस कृति में जैन आगम, अध्यात्म, न्याय, करणानुयोग, चरणानुयोग

आदि के आधार से सप्रमाण और सयुक्तिक विवेचन द्वारा सभी विषयों पर स्पष्ट एवं निष्कर्ष तक पहुँचने का सफल प्रयास किया गया है जो श्लाघनीय है।

जैनदर्शन के आलोक में सांख्य, बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक, चार्वाक आदि दर्शनों के सिद्धान्तों की समीक्षा भी इस रचना में बहुत विवेकपूर्ण, तार्किक, न्याय सहित और निष्पक्षता से की गई है। यह इसकी अत्युत्तम विशेषता है।

इस अतिभौतिक और विज्ञान के चरमोत्कर्ष तथा मत-धर्मान्धता के युग में तर्क के धरातल पर आधारित इस रचना का विद्वान पाठक वर्ग एवं प्रबुद्ध जगत् ससम्मान स्वागत हेतु सहर्ष स्वाध्याय करने का साहस दिखाकर नवोदित लेखिका की प्रथम प्रौढ़ कृति के प्रति आदरभाव व्यक्त करें - ऐसी भावना है।

अनंत चर्तुदशी
सागर (म.प्र.)

मन्नूलाल जैन

पुरोवाक्

विश्व व्यवस्था एवं वस्तुस्वातंत्र

विश्व-व्यवस्था अथवा वैश्वीय-प्रबन्ध का प्रश्न प्रारम्भ से ही मानवीय जिज्ञासा को एक मूलगामी प्रश्न. के रूप में उसे अन्दर से उद्वेलित करते रहे हैं। इसीलिए मानवीय ज्ञान-विज्ञान के विकास में प्रारम्भ से ही दर्शन, धर्म एवं विज्ञान के लिए यह प्रश्न समान महत्त्व का रहा है। जैनदर्शन में वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा अपने व्यापक अर्थों में विश्व-व्यवस्था या वैश्वीय-प्रबन्ध की समस्या में मूलित अवधारणा है। अतएव जैनवाङ्मय में बारम्बार प्रयुक्त वस्तुस्वातंत्र्य, वस्तु-व्यवस्था, विश्व-व्यवस्था, स्वकर्तावाद, अकर्तावाद जैसी पदावलियों को पर्यायवाची अर्थ में लिया जा सकता है। अवधारणात्मक दृष्टि से ये सभी पदावलियाँ एक व्यापक अवधारणा को ही, उसके विभिन्न पक्षों को अपने-अपने तरीके से उद्घाटित करते हैं।

वस्तुस्वातंत्र्य जैसा कि वस्तुस्वातंत्र्य पद से ही द्योतित होता है, यह प्रथम दृष्टया वस्तु की स्वतंत्रता को प्रस्तावित करता है। प्रश्न यह उठता है कि वह वस्तु क्या है जो स्वतंत्र है ? फिर वस्तु की स्वतंत्रता का तात्पर्य क्या है ? अवधेय है कि स्वतंत्रता एक ऐसा गुण-लक्षण है, जो प्राय: चेतनवस्तु अथवा चेतन प्रसंग में प्रयुक्त किया जाता है। जड़ वस्तुओं और जड़ीय प्रसंग में स्वतंत्रता की बात प्राय: की ही नहीं जाती। है हाँ, जड़ वस्तुओं के सन्दर्भ में जड़ीय अथवा यांत्रिक नियमों की अन्वेषणा अवश्य की जा सकती है। यहीं जिनागम की एक अभूतपूर्व विशिष्टता सामने आती है कि वह स्वतंत्रता के गुण-लक्षण और उसकी प्रयुक्ति को वस्तुमात्र तक सार्थक और सम्भव मानता है। चेतन प्रसंग में स्वतंत्रता इच्छा, संकल्प, कर्तुं, अकर्तुं अथवा हस्तक्षेप या फिर चयन की स्वतंत्रता का रूप लेता है, जो वस्तुत: एक चेतनकर्ता की अवधारणा को पूर्वापेक्षित करता है और इस पूर्वापेक्षा में नैतिक व्यवस्था का प्रश्न चेतन प्रसंगों या कहें जीव द्रव्यों तक ही सीमित रह जाता है, शेष विश्व और उसमें व्याप्त व्यवस्था नैमित्तिक व्यवस्था का रूप ले लेती है। स्वतंत्रता के गुण-लक्षण की बात को वस्तुमात्र तक प्रसारित करते हुए जैनदर्शन वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा के माध्यम से उसे एक व्यापक परिप्रेक्ष्य और अर्थवत्ता प्रदान करता है जिसमें जड़-चेतन, जीव-अजीव सभी वस्तुयें स्वतंत्रता का उपभोग करती हैं। वस्तुओं की यही स्वतंत्रता जगत्-व्यवस्था का मूलाधार है।

वस्तुओं की स्वतंत्रता की बात सामान्यत: दो तरह से की जा सकती है। प्रथमत: यह कि कोई वस्तु अस्तित्त्वात्मक दृष्टि से स्वतंत्र हो सकती है और द्वितीयत: कोई वस्तु अपने क्रिया-व्यापार में स्वतंत्र हो सकती है। जैनदर्शन वस्तु की स्वतंत्रता का प्रतिपादन दोनों ही दृष्टियों से करता है। अनन्तधर्मात्मक, उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य युक्त वस्तु-लक्षण वस्तुओं को अस्तित्त्वात्मक स्वतंत्रता प्रदान करता है। यह स्वतंत्रता का सकारात्मक अर्थ है जिसमें वस्तुयें स्वयं में अस्तित्त्ववान, अपना स्वकर्ता होती हैं। इस अर्थ में अस्तित्त्व और स्वतंत्रता वास्तव में एक ही हैं या फिर कहें कि स्वतंत्रता अस्तित्त्ववान होने की पूर्व शर्त है। दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में तमाम साम्प्रदायिक और तत्त्वमीमांसीय भेदों को भूलाकर अस्तित्त्वात्मक स्वतंत्रता की व्यापक स्वीकृति

देखने को मिलती है। स्वतंत्रता का एक दूसरा पहलू कार्य करने की स्वतंत्रता अथवा क्रियात्मक स्वतंत्रता है। यदि कोई वस्तु अस्तित्त्वात्मक दृष्टि से स्वतंत्र है लेकिन उसमें क्रियात्मक स्वतंत्रता नहीं है तो उसे पूरे तौर से स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। अस्तित्त्वात्मक स्वतंत्रता की पूर्णता के लिए वस्तुओं की गति और क्रिया को भी उनके अस्तित्त्व में ही मूलित होना चाहिए। यदि वस्तुओं की गति और क्रिया किसी अन्य वस्तु या सत्ता के हस्तक्षेप से होता है तो उन्हें कदापि स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। जैनदर्शन वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा के माध्यम से वस्तुओं की क्रियात्मक स्वतंत्रता का भी प्रतिपादन करता है। इस अर्थ में स्वतंत्रता वस्तुओं के स्वतंत्र परिणमन की स्वतंत्रता है। इसीलिए जिनागम में वस्तुमात्र को स्वकर्ता के साथ-साथ स्वसहाय भी माना गया है। स्वसहाय रूप वस्तुयें बिना किसी पर-हस्तक्षेप के स्वतंत्र रूप से परिणमन करती हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की स्वतंत्रता के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार की स्वतंत्रता भी हो सकती है जिसे पारिभाषिक अर्थ में "ज्ञानात्मक स्वतंत्रता" कहा जा सकता है। कोई वस्तु स्वतंत्रता की चरम स्थिति को तब प्राप्त होती है जब वह अस्तित्त्वात्मक एवं क्रियात्मक स्वतंत्रता के साथ-साथ स्वयं द्वारा जाने जाने की स्वतंत्रता से भी युक्त हो। यह संभव है कि कोई वस्तु अपने अस्तित्त्व और अपनी क्रिया में स्वतंत्रता का आत्म- लाभ प्राप्त करती हो लेकिन अपने ज्ञान के लिए दूसरे पर निर्भर करती हो। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में देकार्त ने द्रव्य की परिभाषा देते हुए उसे अस्तित्त्वात्मक दृष्टि से आत्मनिर्भर माना था लेकिन स्पिनोजा ने ज्ञानात्मक स्वतंत्रता को ध्यान में रखते हुए द्रव्य की परिभाषा देते हुए कहा था कि द्रव्य वह है जो अपने अस्तित्त्व के साथ-साथ अपने ज्ञान के लिए भी आत्मनिर्भर हो। भारतीय दर्शन में ज्ञानात्मक स्वतंत्रता वैसी सत्ता पर लागू की जा सकती है जो स्वयंप्रकाश अथवा स्वसंवित् हो। इस दृष्टि से संसार की वस्तुओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में जड़ पदार्थ, जो अपने ज्ञान के लिए सर्वथा एक ज्ञाता पर निर्भर करते हैं। दूसरे वर्ग में चेतन वस्तुओं को रखा जा सकता है जो दूसरे को ज्ञात करने के साथ-साथ स्वयं के ज्ञान से भी युक्त होती हैं। एक तीसरा वर्ग स्वयंप्रकाश तत्त्व का हो सकता है। उदाहरण के लिए अद्वैत वेदान्त में आत्मा और बौद्ध दर्शन में विज्ञान ऐसा ही तत्त्व है। अब यदि इस ज्ञानात्मक स्वतंत्रता की दृष्टि से जैनदर्शन के वस्तुस्वातंत्र्यवाद पर विचार किया जाय तो एक तरीके से चेतन द्रव्यों को तो ज्ञानात्मक स्वतंत्रता प्रदान की जा सकती है क्योंकि उन्हें स्व-पर प्रकाशक माना गया है, परन्तु जड़ द्रव्यों को ऐसी स्वतंत्रता प्रदान नहीं की जा सकती। तब विश्वव्यवस्था में मान्य जैन सम्मत यावत् वस्तुओं की स्वतंत्रता का समर्थन नहीं किया जा सकता। अवधेय है कि जैनदर्शन अपने वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा में इस समस्या का समाधान एक दूसरे रूप में करता है, जिसकी चर्चा इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में संकेत रूप से और परिशिष्ट में 'ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा' के द्वारा इसकी दार्शनिक विवेचना की गई है। इसका निहितार्थ यह है कि जब वस्तुमात्र में "प्रमेयत्व" नामक सामान्य गुण की सत्ता स्वीकार की जाती है तो आपातत: ऐसा

प्रतीत होता है कि यह ''प्रमेयत्व'' गुण ही वस्तुओं की ज्ञानात्मक स्वतंत्रता का विरोधी है, परन्तु जिनागम की यहाँ एक अपूर्व विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है। वह यह कि वस्तुओं के ''प्रमेयत्व'' गुण में ही उनकी स्वतंत्रता निहित है। वह इस प्रकार कि अचेतन वस्तुयें यद्यपि स्वयंप्रकाशमान नहीं होतीं लेकिन वे किसी चेतन तत्त्व के कारण-सापेक्ष भी प्रकाशित नहीं होती हैं। यदि उनमें अन्तर्निहित प्रमेयत्व या ज्ञेयत्व गुण को न स्वीकार किया जाय तो चेतन तत्त्व की विद्यमानता में भी वे प्रकाशित नहीं हो सकती हैं। अत: वस्तु मात्र में ज्ञेय बनने का जो सामर्थ्य है, वही उनकी तथाकथित ज्ञानात्मक स्वतंत्रता है।

इस प्रकार अनन्तधर्मात्मक और अनन्तसंख्यात्मक द्रव्य-पर्याय रूप वस्तुयें अपनी अस्तित्त्वात्मक, क्रियात्मक एवं ज्ञानात्मक स्वतंत्रता का उपभोग करते हुए इस वैश्वीय व्यवस्था अथवा विश्व-प्रबन्ध को बनाये रखती हैं। इस वैश्वीय प्रबन्ध का मूलभूत सूत्र वस्तुओं की अस्तित्त्वात्मक और परिणमन की क्रियात्मक व ज्ञानात्मक स्वतंत्रता ही है। वास्तव में वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा अपने व्यापक अर्थों में वस्तु और प्रक्रिया (Reality & Process) का उद्घाटन करते हुए वैश्वीय-व्यवस्था को समझाने का प्रयास करता है। वस्तु और उसकी प्रक्रिया में वैश्वीय-प्रबन्धन के मूलभूत सूत्र को खोजने के प्रयास में वैदिक ऋषियों ने समस्त ब्रह्मांड में एक ऋत के नियम को व्याप्त देखा हैं। यह ऋत ही सम्पूर्ण विश्व की शाश्वत् नैतिक व्यवस्था को धारण किये हुए, उसका मूलाधार है। जड़, चेतन, स्थावर, जङ्गम और उद्भिज सभी ऋत के नियम के ही अंगभूत हैं। विश्व विवर्तन के आद्यन्त पर्यन्त यही ऋत अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों में चूँकि ईश्वर इस चराचर विश्व का रचयिता है, इसलिए वही इसका नियामक भी है। भारतीय दर्शन के पदार्थवादी, परमाणुवादी न्याय-वैशेषिक दर्शन में ''कार्यायोजनधृत्याद्'' आदि तर्कों के द्वारा ईश्वर की सृष्टि वैज्ञानिक भूमिका को अत्युत्तम तरीके से प्रतिपादित किया गया है। भारतीय एवं पाश्चात्य सभी ईश्वरवादी दर्शन अपने-अपने तरीके से विश्व-व्यवस्था का नियमन ईश्वरमूलक ही मानते हैं जो ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। वैसे दर्शन जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर की अवधारणा स्वीकार नहीं करते, वे भी वैश्वीय प्रबन्ध के प्रश्न को अवान्तर सिद्धान्तों जैसे दैववाद, स्वभाववाद, कालवाद, नियतिवाद एवं विकासवादी अवधारणाओं के सन्दर्भ में सुलझाने का प्रयास करते हैं। यहाँ उपर्युक्त अवधारणाओं पर विस्तार से चर्चा करना उपयुक्त नहीं है। सौ. अल्पना ने प्रबन्ध में यथास्थान और प्रसंग प्राप्त होने पर इनकी चर्चा विस्तार से की है।

वैज्ञानिक चिन्तन के इतिहास में भी विश्व-व्यवस्था और वैश्वीय-प्रबन्ध सम्बन्धी प्रश्न विश्व में व्याप्त प्राकृतिक नियमों को उद्घाटित करने के उत्कट प्रयास में दिखाई देता है। आज भी विज्ञान के चार बड़े और आधारभूत माने जाने वाले प्रश्न इसी से सम्बन्धित हैं। ऐसे चार प्रश्नों को पॉल डैविस ने अपनी पुस्तक "God and New Physics" में इस प्रकार रेखांकित किया है - (1) प्रकृति के नियम क्या हैं और क्यों हैं? (2) यह प्रकृति अथवा ब्रह्माण्ड वस्तुओं का कैसा प्रबन्ध है? (3) ब्रह्माण्ड में इन

वस्तुओं का आविर्भाव कैसे हुआ है ? (4) किस प्रकार ब्रह्माण्ड एक छन्दबद्धता को प्राप्त किये हुए है ? एतद्विषयक वैज्ञानिक चिन्तन के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो हम पाते हैं कि ईसाई धर्म समर्थित टॉल्मी के 'अर्थसेन्ट्रिक थ्योरि' के विरोध में केपलर और कॉपर निकस ने ''हेलियो सेन्ट्रिक थ्योरि'' का प्रतिपादन करते हुए एक ''ऑडर्ड होल यूनिवर्स'' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। इसका विकास फिर न्यूटन के मशीनी ब्रह्माण्ड या यांत्रिक नियमों से संचालित डिटरमिनिस्टिक यूनिवर्स की अवधारणा में देखने को मिलता है। इसी काल में लाइबनित्स वैश्वीय प्रबन्ध की विस्तार से चर्चा अपने चिद्बिन्दुवाद में करता है जिसकी परिणति पूर्वस्थापित सामंजस्य के एक अलौकिक ईश्वरीय नियम में होती है। आइन्स्टाइन के काल में भी यह प्रश्न विज्ञान जगत् में गम्भीरता से उठाया जाता रहा है। आइन्सटाइन के एक प्रसिद्ध कथन का यहाँ उल्लेख स्थाने होगा ''मेरा धर्म उस उच्चतर असीम सत्ता के प्रति विनम्र प्रशंसाभाव में है जिसके व्यक्त सूक्ष्म विस्तार को हम अपने दुर्बल मस्तिष्क से देख पाने में असमर्थ हैं। इस उच्चतर सत्ता के प्रति और उसकी उपस्थिति के प्रति मेरा प्रगाढ़ भावात्मक लगाव है।'' द्रष्टव्य - (लिंकन बार्नेट-द यूनिवर्स एण्ड डॉ. आइन्स्टाइन)। ऐसे ही कई एक वक्तव्य आइन्सटाइन के एवं अन्य समकालीन वैज्ञानिकों के उद्धृत किये जा सकते हैं जो इस विश्व में, प्रकृति में, एक अलौकिक व्यवस्था होने का समर्थन करते हैं। परन्तु यह व्यवस्था क्यों है, क्यों ऐसा नहीं है, इसका समुचित उत्तर आज भी अपेक्षित है। वैज्ञानिक चिन्तन के विकास में ''सब-एटॉमिक वर्ल्ड'' का अध्ययन आरम्भ होने और हायजेनबर्ग के अनिश्चितता का सिद्धान्त प्रतिपादित होने के साथ ही यह स्वीकार किया जाने लगा कि ''सब-एटॉमिक वर्ल्ड'' में कोई निश्चित नियम नहीं बल्कि अनियम और अनिश्चितता ही अनिश्चितता है। यदि एटॉमिक स्तर और उससे आगे प्रकृति के स्थूल स्तर पर कोई निश्चित नियम क्रियाशील दिखाई पड़ते हैं तो यही मानना पड़ेगा कि दिखाई पड़ने वाले, मापन योग्य प्राकृतिक नियमों का जन्म या विकास प्रचंड अव्यवस्था के, अनिश्चितता के गर्भ से हुआ है। थर्मोडायनामिक्स के द्वितीय नियम ''एन्ट्रापी'' के अन्वेषण से एक विचित्र तथ्य सामने आया कि प्रारम्भ में इस प्रकृति में एक व्यवस्था रही होगी जो धीरे-धीरे अव्यवस्था अर्थात् ''क्योस'' में रूपान्तरित होती जा रही है। इस सन्दर्भ में E.W. Barnes की उद्घोषणा का उल्लेख यहाँ समीचीन है कि "In the begining there must have been maximum organization of energy ... In fact there was a time when God wound up the clock of cosmic mechenism and a time will come when it will spot, if he does not wind it up again"- इस प्रकार विश्व-व्यवस्था का प्रश्न आज भी विज्ञान जगत् के लिए एक अनसुलझी पहेली की तरह है, फिर भी प्रश्न की अस्मिता अपने स्थान पर आज भी अक्षुण्ण है।

भूत-वैज्ञानिक दृष्टि से वैश्वीय-व्यवस्था और प्राकृतिक नियमों से सम्बन्धित विचार का एक दूसरा पक्ष यह है कि शुद्ध जड़ प्रकृति के सन्दर्भ में यह कहने का, कि उसमें व्यवस्था है, या अव्यवस्था है, यह नियम से संचालित होती है या ऐसे ही बिना

किसी नियम के, कोई अर्थ नहीं है। व्यवस्था और अव्यवस्था दोनों शब्दों का सार्थक प्रयोग मनुष्य की बनाई हुई निर्मितियों के सन्दर्भ में ही उचित है। प्रकृति यदि जड़ है तो उसकी घटनाओं का नियमानुसारी होने और नहीं होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता है क्योंकि प्राकृतिक घटनायें जैसे घटित होती हैं, वैसे ही घटित हो सकती हैं। किसी अन्य प्रकार से नहीं। नियम की जड़ अनिवार्यता में "व्यवस्था" अथवा सार्थक अर्थ में "नियम" कहने का वास्तव में कोई औचित्य नहीं है। इसे सही अर्थों में व्यवस्था कहना तो तब सार्थक होता जब प्राकृतिक घटनाओं को व्यवस्थित करने के लिए किसी ने व्यवस्था दी होती। वस्तुस्थिति जबकि यह है कि प्रकृति में घटनायें स्वत: और एक ही प्रकार से घटित होती रहती हैं। परन्तु उपर्युक्त दृष्टिकोण के विरोध में कहा जा सकता है कि यह ठीक है कि व्यवस्था-अव्यवस्था का विचार चेतन प्रसंग अथवा मानवीय निर्मितियों के सन्दर्भ में उपयुक्त है परन्तु जड़ प्रकृति में भी घटनायें जिस रूप में घटित होती हैं, उन्हें जब हम समझने का प्रयास करते हैं, उनका मापन और उनकी गणना करते हैं तो हमारी चेतना में प्राकृतिक नियमों का उद्घाटन होता है और इस स्थिति में उन्हें "नियम" या "व्यवस्था" जैसे पदावलियों के माध्यम से कहा जा सकता है। यहाँ पर यह प्रश्न अलग है कि इस रूप में प्राकृतिक कहे जाने वाले नियम वास्तव में प्रकृति के जड़ीय नियम हैं या इनका सूत्र हमारी चेतना में है ?

वस्तुत: मानवबुद्धि प्रकृति में नियम और विश्व व्यापार में व्यवस्था तो देखती ही है और तब वह उसे समझने और व्याख्यायित करने के प्रयास से अपने को वंचित नहीं रख सकती, मानों यह उसका स्वधर्म हो। वैज्ञानिक बुद्धि अपने इस स्वधर्म का पालन वैज्ञानिक दृष्टि से, दार्शनिक बुद्धि तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से और धार्मिक बुद्धि धर्मपरायण भाव से करती है। जैनदर्शन का वस्तुस्वातंत्र्यवाद भी विश्व-व्यवस्था को समझने, उसे व्याख्यायित करने का एक दार्शनिक उपक्रम ही है। अपने इस उपक्रम का प्रारम्भ जैनदर्शन वस्तु अथवा द्रव्य की ऐसी अवधारणा से करता है जिसमें वस्तु अनन्तधर्मात्मक और अनेक संख्यात्मक होते हुए भी उनमें से प्रत्येक अपने अस्तित्त्व और क्रिया व्यापार में सर्वथा स्वतंत्र है। वस्तुओं की ऐसी स्वतंत्रता में किसी प्रकार की श्रेणीबद्धता नहीं, बल्कि उनकी स्वतंत्रता समस्तरीय है। अतएव स्वतंत्र द्रव्यों का यह जगत् प्रबन्ध एक "समुच्चय" है, संघात नहीं। किसी प्रबन्ध को जब हम "संघात" रूप से देखते हैं तो उसमें भागीदार तत्त्वों को स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता, वे परस्पर समिश्र होते हैं। जगत् के स्थूल धरातल पर प्रबन्ध की संघातवादी दृष्टि जैनेतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में पंचमहाभूत, पंचीकरण और पंचस्कन्धवादी अवधारणा में देखने को मिलती है। परन्तु जैनदर्शन की दृष्टि से यह जगत् स्वतंत्र द्रव्यों का स्वसहाय और स्वनिर्मित एक प्रबन्ध है। इसी दृष्टि को मूल मान्यता बनाकर सौ. अल्पना ने प्रबन्ध में जैनदर्शन सम्मत द्रव्य की अवधारणा और उसके विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुए हर एक दृष्टि से वस्तुस्वातंत्र्यवाद को प्रतिपादित करने का बहुत सराहनीय प्रयास किया है।

वस्तुत: वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा जैनदर्शन की सर्वाधिक मूलभूत अवधारणा है। इसे जिनागम की "विश्वदृष्टि" कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं

होगी। जैनदर्शन के सभी सिद्धान्त एक ''वंशावली तरू'' की तरह इससे जुडे हुए हैं जो अपने-अपने तरीके से उसी से अनुप्राणित एवं उसी को पुष्ट करते हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सम्प्रति जहाँ जन-जन की स्वतंत्रता की बात की जाती है वहीं जैनदर्शन अपने वस्तुस्वातंत्र्यवाद के माध्यम से कण-कण की स्वतंत्रता को उद्घाटित करता है।

वस्तुस्वातंत्र्य की ऐसी सर्वसमावेशी अवधारणा को मूलभूत दृष्टि बनाकर जब जीवन और जगत् पर विचार किया जाता है तो विभिन्न प्रकार की दार्शनिक समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। इतना ही नहीं कर्ता, कर्म, करण तथा गति,परिवर्तन और नियमन इत्यादि की प्रचलित व्याख्याओं में मूलगामी परिष्कार की आवश्यकता आसन्न हो जाती है। यद्यपि जिनागम के दार्शनिक साहित्य में ऐसे सभी प्रकरणों को सांकेतिक किया गया है और परवर्ती टीकाकारों ने उन आकर स्थलों को बड़ी बारिकी से पहचाना भी है लेकिन फिर भी ऐसे सभी दार्शनिक प्रकरणों को तुलनात्मक परिपेक्ष्य में अवधारणीकृत करने की महती आवश्यकता है। जैन वाङ्मय पर काम करते हुए विरले लोग हैं जिनका ध्यान इस ओर जाता है। सौ. अल्पना ने वस्तुस्वातंत्र्य को मूलभूत दृष्टि बनाकर द्रव्यमीमांसा, निमित्तोपादन मीमांसा, कर्तृ-कर्म मीमांसा, षट्कारक मीमांसा, क्रमबद्ध पर्याय मीमांसा और यहाँ तक कि अहिंसा और अभाव मीमांसा इत्यादि के द्वारा जिनागम के दार्शनिक मन्तव्यों को सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के तुलनात्मक परिपेक्ष्य में जिस तरह से उद्घाटित करने का प्रयास किया है उसे पारम्परिक निष्ठा में अर्हवर्ज्य प्रशंसनीय न भी कहा जाये तो भी अत्यन्त परिश्रमसाध्य शास्त्रावगाहन तो कहा ही जा सकता है।

सौ. अल्पना ने अपने अकादमिक जीवन के प्रवेश द्वार पर ही जैन शास्त्र परम्परा के जिस स्वरूप का साक्षात्कार किया है, वह एक परम्परा प्राप्त सुयोग ही है। हम आशा करते हैं कि ''शास्त्र सुचिन्तित पुनि-पुनि सेवा'' के द्वारा वह उसे विशदावभासी एवं प्रकर्ष रूप प्रदान करती रहेगी। शास्त्र को साधने के प्रयास में जब कोई शास्त्रसेवी उसे ''वाग्विग्रह '' रूप प्रदान करता है तो ऋषि-मुनि ऋण घटने के बजाय और बढ़ जाता है। ''जैन वस्तुस्वातंत्र्यवाद'' नामक यह ''वाग्विग्रह'' लेखिका एवं पाठकों के लिए शास्त्रऋण बढ़ाने वाला सिद्ध हो और इसी रूप में प्रतिष्ठ हो, यही शुभकामना है।

दर्शन विभाग
डॉ. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रस्तावना

जैनवाङ्मय में अन्तर्निहित वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा के दार्शनिक स्वरूप को उद्घाटित करने के उद्देश्य को अनुमत सीमा में चरितार्थ करते हुए यह प्रबन्ध प्रणीत हुआ है। वस्तुस्वातंत्र्य, वास्तव में, जैनदर्शन का एक ऐसा आधारभूत सिद्धान्त है जिसमें जैनदर्शन के सभी सिद्धान्त न केवल अन्तर्गर्भित हैं बल्कि उसी से अनुप्राणित भी होते हैं। एक ओर यह जैन-सम्मत सभी सिद्धान्तों का उपजीव्य है तो दूसरी ओर सभी सिद्धान्त वस्तुस्वातंत्र्य की मूलभूत दृष्टि को सम्पोषित करते हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार इस एकमात्र सिद्धान्त के द्वारा जिनागम के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण को उसके ''विश्वदृष्टि'' में मूलित कर व्यापक तौर से हृदयंगमित किया जा सकता है।

वस्तुस्वातंत्र्य जैनदर्शन का एक आधारभूत सिद्धान्त होने के साथ-साथ अपने व्यवहारिक स्वरूप में भी जीवनोपयोगी दृष्टिकोण को बतलाकर जीवन में नवीन आलोक का उद्गम कराता है जिससे जीवन में स्वत: स्फूर्त स्वतंत्रता का बोध होता है और यह व्यक्ति को स्वसहाय एवं स्वत: स्फूर्त जीवन दृष्टि प्रदान करता है।

मेरा इस गम्भीर विषय के अध्ययन में प्रवृत्त होने का दार्शनिक उद्देश्य वस्तु में अन्तर्निहित मूलभूत स्वतंत्रता का प्रगटीकरण कर विश्व के प्रत्येक पदार्थ को अनादि-निधन, परनिरपेक्ष, स्वाधीन, स्वतंत्र व स्वसहाय बतलाना है ताकि विश्व व्यवस्था को उसकी स्वाभाविक सुंदरता व अलौकिकता के साथ अवलोकित किया जा सके। साथ ही साथ जैनदर्शन के समस्त तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों में निहित आधारभूत सत्य एवं मूल्य को अपने में निमग्न कर, उसे एक नवीन दृष्टिकोण से उद्घाटित किया जा सके। इस प्रबंध में मैंने जैनसिद्धान्तों के विकास एवं अति विस्तार में न जाकर उनका संक्षिप्त में व्याख्यान करते हुए अन्य जैनत्तर दर्शनों से उसकी भिन्नता को समीक्षात्मक रूप में से उपस्थापित कर उन सिद्धान्तों में अन्तर्निहित अपनी बात को उभारने का प्रयास किया है।

इस प्रबंध में निबद्ध सात अध्यायों व परिशिष्ट के माध्यम से मैंने वस्तुस्वातंत्र्य को कई आयामों से उद्घाटित करने का प्रयास किया है। **प्रथम अध्याय** के अन्तर्गत वस्तुस्वातंत्र्य का मूल प्रतिपाद्य वस्तु के स्वभाव को कई दृष्टिकोणों के साथ प्रस्तुत करते हुए बौद्ध व वेदान्तियों की वस्तु के सम्बन्ध में एकान्त मान्यता से उत्पन्न दोषों को रखकर, अनेकान्तमयी वस्तु स्वभाव को निर्दोष दर्शाने का प्रयास किया गया है और वस्तु में अन्तर्निहित स्वतंत्रता का प्रतिपादन कर प्रबन्ध के मूल प्रतिपाद्य विषय वस्तुस्वातंत्र्य का अवलोकन कराया गया है। **द्वितीय अध्याय** के अन्तर्गत हमने जगत् में सर्वमान्य कार्य-कारण सिद्धान्त की विवेचना को जैनदर्शन सम्मत

'निमित्तोपादानवाद' के रूप में प्रस्तुत किया है और साथ ही साथ एतद्विषयक प्राप्त प्राचीन एवं अर्वाचीन जैनत्तर मतों को पूर्व पक्ष बना कर उन-उन मतों में मान्य एकान्त मान्यताओं को तर्कयुक्तिपूर्वक निराकृत करने का प्रयास किया है। अन्ततः अपनी धारणा का समीचीन पक्ष प्रस्तुत कर उसे वस्तुस्वातंत्र्य से सम्पुटित किया गया है। **तृतीय अध्याय** में अहिंसा की नूतन स्वरूप में व्याख्या कर उसको वस्तुस्वातंत्र्य से जोड़ने का प्रयास किया गया है। अहिंसा के सन्दर्भ में जैनत्तर परम्परा में प्रचलित मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण करते हुए, तदुरान्त अपने पक्ष को रखते हुए, उनके परस्पर तुलनात्मक व समीक्षात्मक स्वरूप को दर्शाकर, अपने मत को प्रमाण संगत बतलाने का प्रयास किया गया है और इस सिद्धान्त को वस्तुस्वातंत्र्य से समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है। **चौथे अध्याय** में अभाव सिद्धान्त के माध्यम से वस्तु की द्रव्यगत व पर्यायगत दोनों स्वतंत्रताओं का गहराई से निरूपण कर उसे वस्तुस्वातंत्र्य से सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया है। न्याय-वैशेषिक व बौद्धादि दर्शनों में मान्य अभाव सिद्धान्त की विवेचना कर, उनमें विद्यमान दोषों, कमियों को प्रमाणसंगत ढंग से प्रस्तुत करते हुए उनकी वस्तुस्वातंत्र्य से असम्बद्धता को विवेचित किया है। **पाँचवें अध्याय** में कर्ता-कर्म की दृष्टि से वस्तुस्वातंत्र्य की व्याख्या की गयी है। पर्-कर्तृत्व के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन में प्रचलित प्रायः सभी मान्यताओं पर विचार किया गया है और उन-उन मान्यताओं में अन्तर्निहित दूषणों का समीक्षात्मक अध्ययन कर, पर-कर्तृत्व की मान्यता को प्रत्येक दृष्टिकोण से निराकृत कर स्वकर्तृत्व का पोषण करने का प्रयत्न किया गया है। **छठवें अध्याय** में षट्कारक रूप से परिणमित वस्तु की पर्यायगत स्वतंत्रता का प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है तथा निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से षट्कारकों की विवेचना कर निश्चय दृष्टि की प्रधानता से यह अवलोकित कराने का प्रयास किया गया है कि प्रत्येक वस्तु की प्रतिसमय होने वाले पर्याय स्वतंत्र अपने षट्कारकों से स्वमेव होते हैं, उस पर्याय के होने में पर-कारकों की आवश्यकता तो दूर की बात, स्वयं अपनी पूर्व व उत्तर पर्यायों से भी किचिंत् मात्र सहयोग की आवश्यकता नहीं होती। अतः यह सिद्धान्त भी वस्तुस्वातंत्र्य से समन्वित हो जाता है। **सातवें अध्याय** में वस्तुस्वातंत्र्य को क्रमबद्धपर्याय के माध्यम से व्याख्यायित करने का प्रयास करते हुए, वस्तु में प्रतिक्षण होने वाले पर्यायों के क्रमवर्ती व स्वतंत्र परिणमन को दर्शाकर, प्रत्येक पर्याय पाँच समवायों पूर्वक होती है, नियति उसका नियामक नहीं होती, इसका प्रगटीकरण किया गया है। जैनदर्शन कथित सर्वज्ञता की अवधारणा भी प्रत्यक्ष रूप से वस्तु के क्रमवर्ती परिणमन को सिद्ध कर वस्तुस्वातंत्र्य को सम्पुष्ट करता है, यह भी दिखाने का प्रयास किया गया है। **आठवें अध्याय** ''उपसंहार'' में हमने वस्तु की अवधारणा को अस्तित्त्वात्मक एवं क्रियात्मक दृष्टि से स्वतंत्र बताते हुए एवं

वैज्ञानिक चिन्तन से इतिहास में विश्व व्यवस्था के प्रश्न को व्यापक सन्दर्भ में देखते हुए जैनदर्शन में वस्तुस्वातंत्र्यवाद और उसके विभिन्न सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पहलुओं के निहितार्थ को सारभूत रूप में उद्घाटित किया है। उक्त अध्यायों के उपरान्त परिशिष्ट में एतद्विषयक सम्पूर्ण विवेचना को ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा में घटाते हुए ज्ञान के ज्ञायत्व और ज्ञेय के ज्ञेयत्व रूप परस्पर निरपेक्ष स्वतंत्रता को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। दूसरे परिशिष्ट के अन्तर्गत जैनदर्शन में प्रचलित दो प्रमुख नयों-निश्चयनय व व्यवहारनय की व्याख्या भी इस उद्देश्य से की गयी है कि प्रकृत विषय का प्रतिपादन किस नय की मुख्यता से हुआ है और क्यों हुआ है; ताकि विषय को उसकी सम्पूर्णता और व्यवहार की मर्यादा में समझा जा सके।

प्रत्येक कार्य की पूर्णता में वैयक्तिक प्रयास के साथ-साथ परस्परोपकारी प्रयासों का भी योगदान रहता है। सर्वप्रथम मैं डॉ. हरीसिंह गौर के चरणों में सादर श्रद्धा सुमन अर्पित करती हूँ जिन्होंने इस धरा पर विद्या मंदिर स्थापित कर ग्रामीण पृष्ठभूमि के छात्र-छात्राओं को उच्च अध्ययन की सुलभता प्रदान की है। इस भूमि पर विश्वविद्यालय के अभाव में उच्च शिक्षा की मेरी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा भी शायद ही पूरी हो पाती। परम आदरणीय मेरे महिम्न गुरू एवं शोध निर्देशक डॉ. अम्बिकादत्त शर्माजी की मैं अत्यंत आभारी और चिर ऋणी रहूँगीं जिन्होंने सम्पूर्ण शोधावधि में मुझे निरंतर प्रोत्साहित किया, मेरे उत्साह और निष्ठा को सही दिशा प्रदान करते हुए अपनी उत्प्रेरक बौद्धिकता और तलस्पर्शी सूझ को मेरे शोधकार्य में प्रयुक्त कर, इस दुरुह एवं गवेषणात्मक विषय को पर्याप्त गहराई से प्रतिपादित करने में पग-पग पर उचित निर्देश एवं सहयोग प्रदान किया। मैं उनके इस मनोयोगपूर्ण दायित्व निर्वहन को सदैव अविस्मरणीय रखूगीं।

मैं सदैव ही आदरणीय मन्नूलाल जैन (वकील) एवं उनके समस्त परिवार की सहृदय कृतज्ञ हूँ जिन्होंने निष्काम भाव से अपना अमूल्य समय देकर इस जैसे दुरुह कार्य को सरल बनाने में पूर्ण सहायता की। इतना ही नहीं बल्किइस ग्रन्थ की प्ररोचना लिखकर न के केवल इस कृति को महिमा मण्डित किया बल्कि मेरे परिश्रम को शास्त्रोंन्मुखीसार्थकता भी प्रदान किया। परम श्रद्धेय श्री यशदेव शल्य जी के पितृतुल्य अगाध स्नेह, वात्सल्य और मार्गदर्शन से मुझमें ज्ञान-प्राप्ति की जो ललक पैदा हुई और मैं इस मार्ग पर कदम दो कदम चल पायी, इसके लिए मेरे पास उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए शब्द ही नहीं हैं।

मेरी माताजी श्रीमती सरोज जैन का अगाध प्रेम और स्नेह ने मुझे शोध-कार्य को तत्परता से करने में सदैव संलग्न बनाये रखा। उनके प्रति मेरा रोम-रोम सदैव ऋणी रहेगा। मेरे अग्रज अजय जैन ने अपने भ्रातृत्वमयी सम्पूर्ण स्नेह व सौहार्द प्रदान कर मेरे कार्य में जो सहयोग दिया, उनके इस पितृतुल्य कर्त्तव्य निर्वहन की मैं सदैव ऋणी रहूँगी।

मेरी दोनों बडी बहिनों और छोटे भाई विवेक का निरंतर सहृदय एवं मनोयोग पूर्ण सहयोग के प्रति मैं सादर व सस्नेह आभार व्यक्त करती हूँ। इसके अतिरिक्त मेरे परिवार के सभी सदस्यों ने मुझे निरंतर धैर्य व परिश्रम के साथ अपना कार्य करने का संबल प्रदान किया है। उन सभी के स्नेहिल सहयोग की मैं अत्यंत आभारी हूँ। इस अवसर पर आदरणीय मंजू भाभी और रचना जैन को भी मैं धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जिनका इस कार्य में महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है।

मैं अपने दर्शन-विभाग के अध्यक्ष समादरणीय प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मेरा सदैव मार्गदर्शन और सहयोग किया। अपने विभागीय अध्यापकों में डॉ. अखिलेश्वर प्रसाद दुबे, डॉ. सविता गुप्ता के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जो अपने सुझावों से मुझे लाभान्वित करते रहे। डॉ. राजेश चौरसिया, डॉ. सत्यनारायण देवलिया, डॉ. राकेश सोनी, डॉ. नरेन्द्र बौद्ध, डॉ. शत्रुघ्न चतुर्वेदी एवं श्री राजेश केशरवानी ''विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर'' तथा श्री अजय जैन ''एक्टिव कम्प्यूटर्स, सागर'' समेत सभी का इस अवसर पर समवेत रूप में शुभ स्मरण करती हूँ।

अंत में मैं भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, दिल्ली के प्रति आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जिसने मुझे इस कार्य के लिए शोधवृत्ति के माध्यम से उच्चस्तरीय आर्थिक सहायता प्रदान की।

अल्पना जैन

अनुक्रम

प्ररोचना	:	मन्नूलाल जैन	
पुरोवाक्	:	अम्बिकादत्त शर्मा	
प्रस्तावना	:	अल्पना जैन	
अध्याय 1	:	वस्तुस्वातंत्र्यमूलक द्रव्य की अवधारणा	1
अध्याय 2	:	निमित्तोपादानवाद एवं वस्तुस्वातंत्र्य	29
अध्याय 3	:	अहिंसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य	65
अध्याय 4	:	अभाव एवं वस्तुस्वातंत्र्य	101
अध्याय 5	:	कर्तृ-कर्म मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य	131
अध्याय 6	:	षट्कारक मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य	163
अध्याय 7	:	क्रमबद्धपर्याय एवं वस्तुस्वातंत्र्य	179
उपसंहार	:		201
परिशिष्ट : एक	:	निश्चय एवं व्यवहार नय मीमांसा	203
परिशिष्ट : दो	:	ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य	213
बिब्लियोग्राफी	:		

अध्याय : एक
वस्तुस्वातंत्र्यमूलक द्रव्य की अवधारणा

1 प्रस्तावना
2 वस्तु का स्वरूप
3 वस्तु का परिणामी-नित्यस्वरूप
4 द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक वस्तु का स्वरूप
(i) द्रव्य का स्वरूप
(क) द्रव्य की स्वतंत्रता
(ii) गुण का स्वरूप
(क) सामान्य गुण (ख) विशेष गुण (ग) गुण की स्वतंत्रता
(iii) पर्याय का स्वरूप
(क) पर्याय के भेद (ख) पर्याय की स्वतंत्रता
5 स्वातंत्र्य अथवा स्वतंत्रता का अर्थ
6 वस्तुस्वातंत्र्य के सन्दर्भ में जैनागम में वर्णित तथ्य

वस्तुस्वातंत्र्यमूलक द्रव्य की अवधारणा

(1) प्रस्तावना :-

स्वतंत्रता प्रत्येक प्राणी को आह्लादकारी एवं प्रिय है चाहे वह मनुष्य हो या पशु। क्षुद्र जीव चींटी, मक्खी, मच्छर से लेकर हाथी-घोड़े आदि सभी पशु तथा बुद्धिजीवी मनुष्य सभी को स्वतंत्रता प्रिय है। कोई भी प्राणी बंधन अथवा परतंत्रता में नहीं जीना चाहता, बल्कि उन्मुक्त व स्वतंत्र वातावरण में विचरण करना चाहता है; क्योंकि प्राणिमात्र के लिए बंधन दु:खदायक अथवा कष्टदायक होता है। मूलत: यही वजह है कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए विश्व के विभिन्न देशों में क्रान्तियाँ एवं आंदोलन हुए। ''स्वतंत्रता प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है'' यह विचार अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इस विचार ने जनमानस के हृदय में परतंत्रता की बेड़ियों को काटने पर विवश कर दिया।

विश्व के अनेक देशों ने स्वतंत्र होकर मानव को सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक आदि अनेक प्रकार की स्वतंत्रतायें प्रदान की। इससे व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर मिला। मानव जीवन में सुख-समृद्धि व शांति आयी जिससे विश्व के कई देश समृद्धि व विकास के उच्चतम शिखर पर पहुंचे तथा कई उसी दिशा में अग्रसर हैं। स्वतंत्रता के इसी परिप्रेक्ष्य में जैनदर्शन में मान्य वस्तु की स्वतंत्रता की ओर दृष्टिपात किया जाये तो वह स्वतंत्रता समाज अथवा राष्ट्र प्रदत्त न होने से कभी-भी परतंत्रता की बेड़ियों में वस्तु को नहीं बांधती। साथ ही, यह स्वतंत्रता प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निहित होने से स्वाभाविक अथवा प्रकृति प्रदत्त है। प्रत्येक वस्तु से तन्मय है, अभेद है जिसके कारण प्रत्येक वस्तु सदैव निर्बाध रूप से, स्वतंत्र रूप से परिणमन करती है। उसके इस अबाध गति से परिणमन में किसी परमसत्ता तथा परवस्तु का हस्तक्षेप किंचित् मात्र भी नहीं है। अतएव प्रत्येक वस्तु का स्वतंत्र रूप से परिणमन (कार्य) करते हुए, अन्य वस्तु के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं करना ही स्वतंत्रता है। सारा जगत् भी इसी को स्वतंत्रता घोषित करता है।

अब प्रश्न उठता है कि जैनदर्शन में वस्तु कैसी है ? उसका क्या स्वरूप है ? उसकी प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक स्वतंत्रता कैसी है ? किस प्रकार उसकी स्वतंत्रता में परमसत्ता व पर वस्तु का हस्तक्षेप असंभव है ? तथा किस प्रकार वह स्वतंत्र परिणमन रहते हुए अन्य वस्तु के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं करती है ? वस्तुस्वातंत्र्यमूलक द्रव्य की अवधारणा को सन्दर्भ बनाकर मैं इन्हीं प्रश्नों पर विचार करते हुए आगामी पृष्ठों में वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास करूंगी।

(2) वस्तु का स्वरूप :-

जैनदर्शन में वस्तु, सत्ता, द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ, अर्थ, सामान्य, अन्वयी, धर्मी सभी सामान्य रूप से एक ही अर्थ के वाचक हैं।[1] एक ही वस्तु को विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है इनमें शब्दभेद होते हुए भी अर्थभेद किंचित् मात्र भी नहीं है। जैनदर्शन में वस्तु या द्रव्य के स्वभाव को 'सत्‌रूप' माना गया है। सत् अस्तित्व का

सूचक है।[2] अस्तित्व स्वभाव को अथवा सत् के भाव को ही सत्ता कहते हैं।[3] सत्ता सहित वस्तु को ही जाना जा सकता है, विचार किया जा सकता है। जब तक वस्तुओं के सत् अस्तित्व को स्वीकार न कर लिया जाए तब तक उनके सम्बन्ध में विचार संभव ही नहीं है, क्योंकि असत्‌रूप वस्तु तो आकाशकुसुम, बंध्यापुत्र व श्रृशंगवत् असंभव है अत: उसका न तो ज्ञान, न विचार, न ही प्ररुपणा संभव है। इस संदर्भ में आचार्य उमास्वामी का कथन द्रष्टव्य है- 'सत्द्रव्यलक्षणम्'[4] अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत्पना है। सत् अर्थात् सत्तावान, जिनका स्वत:सिद्ध अस्तित्व हो और जिनका निरन्वय नाश असंभव हो। विश्व के समस्त पदार्थ सत्तावान हैं यह सत्ता लोक-अलोक सहित समस्त पदार्थों में व्याप्त है, सर्वपदार्थ स्थित है। सत्ता के कारण सब पदार्थों में 'सत्' ऐसे कथन की और 'सत्' ऐसे ज्ञान की उपलब्धि होती है। 'प्रवचनसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी तथ्य को रेखांकित किया है - "अस्तित्व ही द्रव्य का स्वभाव है। वह (अस्तित्व) अन्य साधन से निरपेक्ष, अनादि-अनंत, अहेतुक, एकवृत्ति रूप से सदा प्रवर्तमान, विभावधर्म से विलक्षण और भाव और भाववत्ता के कारण अनेकत्व होने पर भी प्रदेश-भेद न होने से, एकरूप अखण्ड है।"[5]

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य अस्तित्ववान है। द्रव्य को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। अत: उसका कोई रचनाकार नहीं है। द्रव्य स्वयं अनादि-अनंत है, उसे त्रिकाल स्थिति बनाये रखने के लिए किसी रक्षक की आवश्यकता नहीं है। द्रव्य अहेतुक होने से उसका प्रयोजन किसी अन्य पदार्थों के कार्यों के लिए आवश्यक नहीं है। एकरूप वृति से सदा ही प्रवर्तमान होने से उसका नाश नहीं हो सकता, इसलिए उसका कोई प्रध्वंसक नहीं है। विभावधर्म से विलक्षण होने के कारण वह किसी अन्य द्रव्य में नहीं मिलता और कोई अन्य द्रव्य आकर उसमें नहीं मिल सकता, उसका अस्तित्व त्रिकाल बना रहता है। भाव-भाववानता के कारण द्रव्य में गुण व पर्यायों का भेद तो है, किन्तु प्रदेशभेद न होने से वह एकरूप अखण्ड ही बना रहता है। इसी प्रसंग में पंचाध्यायीकार का कथन भी ध्यान देने योग्य है जिसमें उन्होंने सत्ता लक्षणयुक्त वस्तु को अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण माना है जो वस्तु के स्वतंत्र स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं।[6]

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यत: स्वत:सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥

तत्त्व सत्लक्षणवाला है या सन्मात्र ही तत्त्व है और जिस कारण से वह स्वत:सिद्ध है, इसलिए वह विनाश रहित अनादि है, अनिधन है, स्वसहाय है और निर्विकल्प अर्थात् अखण्ड है।

उक्त विवेचन का निहितार्थ है कि सत्ता इन लक्षणों से युक्त होने से पूर्णतया स्वतंत्र व स्वसहाय है। यदि सत्ता को पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त न माना जाए तो उनमें अनेक दूषणों की संभावना होगी। स्वत:सिद्ध न मानने पर असत् पदार्थ की उत्पत्ति निरंकुश मानना होगी, क्योंकि बिना सत्ता के नवीन रूप की उत्पत्ति मानने पर वस्तु की कोई मर्यादा नहीं रह जाएगी और विश्व में अनंत द्रव्य उत्पन्न होते चले जायेंगे तथा मृदा

के अभाव में घट की उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। अत: वस्तु के स्वत:सिद्ध स्वभाव को मानना उचित है। अनादि-निधन स्वभाव की स्वीकृति के अभाव में वस्तु-स्वभाव को परत:सिद्ध मानना होगा। प्रत्येक पदार्थ पर के सहयोग से उत्पन्न होगा जिससे अनवस्था नामक दोष उत्पन्न होगा। वस्तु को स्वसहाय न मानने पर सत् का नाश मानना होगा, क्योंकि वस्तु के स्वतंत्र स्थिति, टिकाव व परिणमन के अभाव में समस्त द्रव्य परस्पर एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप करने लगेगें जिससे किसी भी वस्तु का मूलस्वरूप न ठहर सकेगा तथा निर्विकल्प स्वभाव की स्वीकृति के अभाव में वस्तु को युतसिद्ध स्वीकार करना होगा। वस्तु को युतसिद्ध मानने पर गुण-गुणी के पृथक्-पृथक् प्रदेश मानने पड़ेंगे और इस प्रकार दोनों के स्वतंत्र सिद्ध हो जाने पर इन दोनों में लक्षण भेद संभव नहीं हो सकेगा।[7]

इससे प्रमाणित होता है कि सत् लक्षण से युक्त वस्तु अनेक गुण-धर्मो से परिपूर्ण है, निर्दोष है। ऐसी वस्तु को स्वीकार करने पर ही विश्व की दोषमुक्त व्यवस्था कायम रह सकती है, अन्यथा नहीं। इसी कारण जैनदर्शन पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त निर्दोष वस्तु को स्वीकृत कर स्वतन्त्र वस्तु-व्यवस्था का प्रतिपादन करता है।

(3) वस्तु का परिणामी-नित्य स्वरूप :-

सत्तावान वस्तु के स्वरूप से अवगत होने के पश्चात् यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सत्तावान वस्तु कैसी है ? क्या वह सर्वथा कूटस्थ व नित्य है या फिर सर्वथा परिवर्तनशील व अनित्य है ?

हमें जगत् के विभिन्न पदार्थ निरंतर परिवर्तनशील रूप में ज्ञात होते हैं। हम देखते हैं कि जो आम पहले हरा और खट्टा होता है वही आम कुछ दिन पश्चात् पीला और मीठा हो जाता है, फिर वही आम एक-दो दिन पश्चात् खराब हो जाता है, उसका पीला रंग, काले रंग में तथा मीठा स्वाद, कड़वे स्वाद में परिवर्तित हो जाता है। हमारे अनुभव एक ही वस्तु के प्रति 'यह वही है तथा यह वह नहीं है' इस रूप परस्पर विरोधी प्रतीतियों को समाहित किये रहते हैं। ऐसे अनुभव वस्तु के परिवर्तनशील और स्थायी स्वरूप की ओर संकेत भी करते हैं। इस प्रकार परस्पर विरोधी विशेषताओं से युक्त वस्तु-स्वरूप दार्शनिकों के लिए प्राचीनकाल से एक गंभीर समस्या रही है। दर्शन के इतिहास में प्रारंभ से ही भारतीय व यूनानी सभी दार्शनिक इन प्रश्नों से जूझते रहे हैं कि परिवर्तन का क्या स्वरूप है, परिवर्तन की प्रक्रिया के आधार रूप में कोई एक स्थायी सत्ता विद्यमान है अथवा नहीं। यदि है तो वह स्थायी सत्ता स्वयं परिवर्तनशील है अथवा नहीं। यदि स्वयं परिवर्तनशील है तो फिर 'एक स्थायीसत्ता' किस प्रकार हो सकती है ? उसे स्थायी सत्ता किस प्रकार कहा जा सकता है तथा परिवर्तन का उस स्थायी सत्ता से क्या सम्बन्ध है। यदि परिवर्तन की प्रक्रिया के आधार रूप में कोई स्थायी तत्त्व विद्यमान नहीं है तो परिवर्तन को एक प्रक्रिया किस प्रकार कहा जा सकता है ? ऐसे अनेक प्रश्नों का समाधान जैनदार्शनिक अपनी वस्तु अथवा द्रव्य की अवधारणा के द्वारा करते हैं। उनके अनुसार जगत् के प्रत्येक पदार्थ की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, इसलिए जो भी अस्तित्व है, वह द्रव्य है और वह उत्पाद-व्यय- ध्रौव्य संयुक्त तथा गुण-पर्याय का आश्रय है।

द्रव्य शब्द 'द्र' धातु से बना है। जिसका अर्थ है - 'द्रवित होना', 'गमन करना'। इस मूल धातु से व्युत्पत्ति के अनुसार द्रव्य को परिभाषित करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि "जो उन-उन सद्भावपर्यायों को द्रवित होता है, प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं तथा यह सत्ता से अभिन्न है।"(8) जैनेन्द्र व्याकरणकार कहते हैं - 'द्रव्यं भव्ये' अर्थात् जो निरंतर नये स्वरूप में बनने, स्वरूपलाभ प्राप्त करने की योग्यता से सम्पन्न हो, निरंतर भवनशील हो वह द्रव्य है।(9) अत: द्रव्य परिवर्तनशील है, परन्तु इस परिवर्तनशीलता के साथ नित्यता सदैव अवस्थित है अर्थात् प्रत्येक वस्तु सामान्य से रूप वही रहते हुए प्रतिक्षण पूर्ववर्ती विशेष स्वरूप का परित्याग और उत्तरवर्ती विशेष स्वरूप को प्राप्त करने की प्रक्रिया में विद्यमान शाश्वत सत्ता है। इस सत्ता को आचार्य कुन्दकुन्द तथा आचार्य उमास्वामी ने क्रमश: 'भगुंत्पादधुवत्ता'(10) व 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्'(11) के रूप में परिभाषित किया है।

प्रत्येक वस्तु स्वयं अपना अस्तित्व ध्रुव रूप बनाये रखते हुए भी पूर्व अवस्था को छोड़ती हुई, नवीन अवस्था का उत्पाद करती हुई अनादि-अनंत काल तक अपने अस्तित्व को कायम रखती है, ऐसा वस्तु का स्वभाव ही है। जैसे-मिट्टी अपनी पिण्ड रूप पर्याय का व्यय करती हुई, घट रूप नवीन पर्याय का उत्पाद करती हुई, घट व पिण्ड दोनों अवस्थाओं में मिट्टी रूप ध्रुव अस्तित्व से तादात्म्य रहती हुई अपने त्रिलक्षणात्मक अस्तित्व को सूचित करती है।

जैनदर्शन वस्तु के अनेकान्त स्वरूप अर्थात् अनंतधर्मात्मक स्वरूप का प्रतिपादक होने से वह वस्तु को न तो सर्वथा-कूटस्थ अथवा नित्य मानता है और न सर्वथा परिवर्तनशील अथवा अनित्य मानता है, बल्कि वह वस्तु को परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त मानकर एकान्त पक्ष का निषेध करता है और सर्वथा एकान्त पक्ष से युक्त वस्तु में दूषण बतलाता है। यदि वस्तु को सर्वथा नित्य स्वीकार कर लिया जाए तो उसमें क्रम से उत्पन्न होने वाली पर्यायों का अभाव होने से जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है वह नहीं बन सकता और द्रव्य के अभाव का प्रसंग उपस्थित होता है। यदि वस्तु को सर्वथा अनित्य स्वीकार कर लिया जाए तो 'यह वही वस्तु है जिसे मैंने पहले देखा था' ऐसे प्रत्यभिज्ञान के अभाव में एक संतानत्व का अभाव प्राप्त होता है।(12) वस्तु के सर्वथा एकान्त स्वरूप का निषेध व अनेकान्त स्वरूप का प्रतिपादन कार्तिकियानुप्रेक्षा में इस प्रकार वर्णित है कि - "**परिणाम से रहित नित्य द्रव्य न तो कभी नष्ट हो सकता है और न कभी उत्पन्न हो सकता है। ऐसी अवस्था में यह कार्य कैसे कर सकता है। क्षण-क्षण में अन्य-अन्य होने वाला विनश्वर तत्त्व अन्वयी द्रव्य के बिना कुछ भी कार्य नहीं कर सकता।**"(13)

अन्यत्र भी कहा गया है - "यदि वस्तु नित्य हो तो वह उत्पाद व अस्त को प्राप्त नहीं हो सकती और न उसमें क्रियाकारक की योजना बन सकती है। जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता है। और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता है। जैसे-दीपक भी बुझने पर सर्वथा नाश को प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकार रूप पुद्गलपर्याय को धारण किए हुए अपना अस्तित्व रखता है।"(14)

उक्त कथनों से बौद्धदर्शन में मान्य सर्वथा क्षणिक वस्तु व वेदान्तियों में मान्य सर्वथा नित्य वस्तु का निराकरण हो जाता है। तथा बौद्ध व वेदान्त दर्शन प्रणीत वस्तु का लक्षण क्रमश: "अर्थक्रियारित्व"तथा "त्रिकालाबाधितत्व" असत् ठहरता है, क्योंकि सर्वथा क्षणिक व सर्वथा नित्य वस्तु में अर्थक्रिया संभव नहीं है और जो पदार्थ अर्थक्रिया से रहित है, वह वस्तु ही नहीं है।[15] सर्वथा क्षणिक वस्तु का लक्षण अर्थक्रिया नहीं हो सकता; क्योंकि सर्वथा क्षणिक वस्तु न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत्। क्षणिक पदार्थ में देशकृत, कालकृत व स्वभावकृत क्रम नहीं बन सकते हैं। यदि एक ही पदार्थ किसी कार्य को करके पुन: दूसरे देश और दूसरे काल में भिन्न स्वभाव से किसी अन्य कार्य को करे तो उसमें देशादिकृत क्रम का सद्भाव माना जा सकता है, परन्तु जो पदार्थ सर्वथा क्षणिक है वह उसी देश व उसी काल में नष्ट हो जाता है। वह न तो दूसरे देश में जाता है और न दूसरे काल में। तब उसमें देशादिकृत क्रम कैसे बन सकता है ? क्षणिक पदार्थ अनेक शक्त्यात्मक और अनेक स्वभावात्मक न होने से युगपत् अनेक कार्यों को भी नहीं कर सकता।[16] इसी प्रकार सर्वथा नित्य वस्तु में भी अर्थक्रिया रूप क्रम व यौगपद्य नहीं बन सकते। सर्वथा नित्य पदार्थ क्रम से अर्थक्रिया नहीं कर सकता, क्योंकि नित्य पदार्थ में सब कार्यों को एक ही कार्य के उत्पादनकाल में उत्पन्न करने की सामर्थ्य है। यदि उस समय उसमें अन्य कार्यों को करने की सामर्थ्य नहीं है और बाद में वह सामर्थ्य आती है तो वह सर्वथा नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि अपने असमर्थ स्वभाव को छोड़कर समर्थ-स्वभाव को ग्रहण करने रूप परिणमन का नाम ही अनित्यता है। नित्य पदार्थ युगपत् अर्थक्रिया नहीं कर सकता; क्योंकि एक ही समय में सब कार्यो की उत्पत्ति हो जाने से दूसरे समय में कुछ भी करने को शेष नहीं रहेगा और ऐसी स्थिति में अर्थक्रिया का अभाव होने से उसके असत्व का प्रसंग आयेगा।[17]

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि सर्वथा एकान्त स्वरूप वस्तु में अर्थक्रिया लक्षण संभव न होने से ऐसी वस्तु की सत्ता ही संभव नहीं है, क्योंकि जगत् में ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है जो अपनी सत्ता रखते हुए निरंतर उत्पाद-व्यय स्वभाव से न परिणमता हो अर्थात् प्रत्येक पदार्थ त्रिलक्षणात्मक अस्तित्व से युक्त है। जगत् में नित्य-अनित्य, एक-अनेक इत्यादि अनेक धर्मयुक्त वस्तुयें ही कार्यशील दिखाई देती हैं। जैसे-स्वर्ण से कुण्डल, कंगन, कलश, अंगूठी इत्यादि कार्य बनते हैं। यदि स्वर्ण एक रूप तथा अनित्य रूप होवे तो उससे कुण्डलादि कार्य नहीं बन सकते। अत: वस्तु स्वभाव से ही अनेकान्त स्वरूप है।[18]

अब प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि द्रव्य एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य त्रिलक्षणात्मक लक्षणों से युक्त कैसे हो सकता है ? कदाचित् कालभेद से उसे उत्पाद व व्ययरूप मान लिया जाए; क्योंकि जिसका उत्पाद होता है उसका कालान्तर में व्यय अवश्य होता है तथापि ऐसी अवस्था में द्रव्य ध्रौव्य नहीं हो सकता; क्योंकि जिसका उत्पाद-व्यय होता है उसके ध्रौव्य स्वभाव मानने में विरोध आता है।

इसका समाधान यह है कि "अवस्था भेद से तीनों धर्म माने गये हैं जिस समय द्रव्य की पूर्व अवस्था नाश को प्राप्त होती है उसी समय उसकी नयी अवस्था उत्पन्न

होती है फिर भी उसका त्रैकालिक अन्वय बना रहता है।''[19] जैसे - जिस समय अंकुर की उत्पत्ति होती है, उसी समय बीज का नाश होता है और दोनों में वृक्षत्व पाया जाने के कारण वृक्षत्व का भी वही काल है।[20]

प्रवचनसार में भी कहा गया है - ''द्रव्य एक ही समय में उत्पत्ति, स्थिति और व्यय संज्ञावाली पर्यायों से समवेत है अर्थात् तादात्म्य लिए हुए है, इसलिए द्रव्य नियम से त्रिलक्षणात्मक है।''[21]

पुन: यह प्रश्न उठता है कि जब प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है तो प्रत्येक समय में बदलकर वह अन्य-अन्य क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि प्रथम समय में जो द्रव्य है वह जब दूसरे समय में बदल गया है तो उसे प्रथम समय वाला मानना कैसे संगत हो सकता है ? इसलिए या तो यह कहना चाहिए कि कोई पदार्थ परिवर्तनशील नहीं है या यह मानना चाहिए कि प्रथम समय में जो द्रव्य है वह दूसरे समय में नहीं रहता, नवीन उत्पन्न हो जाता है ?

यह शंका निराधार है, क्योंकि परिणमन प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है और यह परिणमनशीलता प्रत्यक्ष व अनुमान से सिद्ध है, अबाधित है। परिणमन रहित वस्तु अस्तित्व को धारण नहीं करती, वह गधे के सींग के समान असत् है। जहाँ-जहाँ वस्तु दिखाई देती है, वहाँ-वहाँ उसका परिणाम दिखाई देता है। जैसे - गोरस अपने दूध, दही, छांछ, घी इत्यादि परिणामों से ही युक्त दिखाई देता है। जहाँ परिणाम नहीं होता, वहाँ वस्तु नहीं होती। परन्तु वस्तु का परिणमन प्रतिसमय होने पर भी वह अन्य वस्तु रूप नहीं हो जाती, बल्कि उसकी अवस्था परिवर्तित हो जाती है जैसे-हमारे शरीर की बाल, युवा, प्रौढ़, वृद्ध आदि अवस्थायें होती हैं, पर उसमें पुद्गल का सत् रूप अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है वह नाश को प्राप्त नहीं होता।

उक्तं च - ''द्रव्य के अन्य पर्याय उत्पन्न होते हैं और अन्य पर्याय व्यय को प्राप्त होते हैं तो भी द्रव्य न तो स्वयं उत्पन्न हुआ और न नष्ट हुआ है।''[22]

यद्यपि यह कथन थोड़ा विलक्षण प्रतीत होता है कि द्रव्य स्वयं उत्पन्न और विनष्ट न होकर भी अन्य पर्याय रूप कैसे उत्पन्न होता है और व्यय को कैसे प्राप्त होता है, किन्तु इसमें विलक्षणता की कोई बात नहीं है, क्योंकि सत् अपने सामान्य स्वभाव की अपेक्षा से न तो उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है फिर भी उसमें उत्पाद-व्यय होता है वह विशेष स्वभाव (पर्याय) की अपेक्षा से है। यदि द्रव्य का ही विनाश, द्रव्य का ही उत्पाद और द्रव्य का ही ध्रौव्य माना जाए तो अर्न्तविरोध उत्पन्न हो जाएगा और सत् का विनाश, असत् का उत्पाद एवं द्रव्य की कूटस्थता का प्रसंग आएगा। अत: उत्पाद-व्यय ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्यायें द्रव्य में होती हैं इसलिए वे सब एक ही द्रव्य रूप हैं। इसलिए कहा गया है - ''द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं, सद्भाव है उसकी पर्यायें ही उत्पाद-व्यय और धुव्रता करती हैं।''[23]

उक्त कथन में दोनों नयों द्वारा द्रव्य का स्वरूप कहा गया है। द्रव्य तो त्रिकाल अवस्थायी, अनादि-अनंत है, उसका उत्पाद और विनाश उचित नहीं है, परन्तु पर्यायों द्वारा उत्पाद-विनाश घटित होते हैं। अत: द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से द्रव्य उत्पादरहित, विनाशरहित, सत्स्वभाववाला है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से उत्पाद व विनाश युक्त है। इस प्रकार के कथन में दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय अभेद हैं।

वस्तु के त्रिलक्षणात्मक स्वभाव के स्पष्टीकरण के पश्चात् अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वस्तु स्वयं में कैसी है ? जैनदर्शन वस्तु को गुण-पर्याय युक्त मानता है। आचार्य कुन्दकुन्द तथा आचार्य उमास्वामी[24] इसे क्रमश: 'गुणपज्जयासयं' तथा 'गुणपर्ययवद्-द्रव्यम्' के रूप में व्याख्यायित करते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण व पर्यायों से उसी प्रकार तन्मय होता है जिसप्रकार वस्त्र ताने-बाने से मिलकर बनता है। ताने-बाने के बिना वस्त्र का कोई स्वरूप नहीं होता, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य गुण-पर्याययुक्त होता है। द्रव्य का उत्पाद-व्यय स्वभाव पर्याय में समाहित हो जाता है और ध्रौव्य स्वभाव का नित्य विद्यमान गुणों में समावेश हो जाता है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य धर्म का धारी द्रव्य होता है या गुण-पर्याययुक्त द्रव्य होता है इन दोनों कथनों में कोई भेद नहीं है।

इस प्रकार द्रव्य इन तीन लक्षणों से युक्त है-सत्, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक और गुणपर्यायात्मक। ये तीनों लक्षण परस्पर अविनाभावी हैं, जहाँ एक हो वहाँ शेष दोनों नियम से होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द व आचार्य माइल्लधवल ने द्रव्य को इसी रूप में परिभाषित किया है - "जो सत् लक्षणवाला है, जो उत्पादव्ययध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुण-पर्यायों का आश्रय है, वह द्रव्य है।"[25]

सत्ता से अभिन्न होने के रूप में द्रव्य का लक्षण केवल 'सत्' ही है, किन्तु द्रव्य तो अनेकान्तात्मक है और अनेकान्तात्मक द्रव्य का स्वरूप केवल सन्मात्र ही नहीं हो सकता, इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का लक्षण है। अनादि प्रवाह रूप अखण्ड द्रव्य की परम्परा में पूर्व पर्यायों का विनाश व्यय है, उत्तर पर्याय का प्रादुर्भाव उत्पाद है और पूर्व पर्याय का विनाश तथा उत्तर पर्याय का उत्पाद होने पर भी अपनी जाति को न छोड़ना ही द्रव्य का ध्रौव्यत्व है। ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सामान्य कथन की अपेक्षा द्रव्य से अभिन्न हैं और विशेष कथन की अपेक्षा द्रव्य से भिन्न हैं, तीनों एक साथ होते हैं और द्रव्य के स्वभावरूप होने से उसके लक्षण हैं। द्रव्य का तीसरा लक्षण गुण और पर्याय है। पारिभाषिक रूप से अनेकान्तात्मक वस्तु में पाये जाने वाले 'अन्वयी विशेषों' को गुण कहते हैं और 'व्यतिरेकी विशेषों' को पर्याय कहते हैं। गुणों में सर्वदा एकरूपता रहती है और परिवर्तन होने पर भी अन्यरूपता नहीं होती, इसलिए उन्हें अन्वयी कहते हैं, किन्तु पर्यायों में प्रतिक्षण अन्यरूपता होती रहती है, इसलिए उन्हें व्यतिरेकी कहते हैं। गुण द्रव्य में एक साथ रहते हैं और पर्याय क्रम से रहती हैं। ये गुण-पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न और कथंचित्-अभिन्न होते हैं। ये द्रव्य के स्वभावभूत होने से द्रव्य के लक्षण ही हैं। इस प्रकार द्रव्य के तीनों लक्षणों में अभिन्नता होने से द्रव्य के एक स्वभाव का कथन करने पर अन्य दो स्वभावों का स्वत: ही उसमें अन्तर्भाव हो जाता है।

(4) द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक वस्तु का स्वरूप :-

(i) <u>द्रव्य का स्वरूप -</u>

'यथा लोकयन्ते यस्मिन् षट्द्रव्याणि इति लोक' जिसमें छ: द्रव्य अवस्थान पाते हैं, उसका नाम लोक है, ऐसी लोक की व्युत्पत्ति है। जैनदर्शन लोक में छ: द्रव्यों की सत्ता स्वीकार करता है जो जाति की अपेक्षा से छ: व संख्या की अपेक्षा अनंत हैं अर्थात् षट्द्रव्यों का समुदाय ही लोक है। ये छ: द्रव्य हैं[26] -

1.	जीव	-	अनंत
2.	पुद्गल	-	अनंतानंत
3.	धर्मद्रव्य	-	एक
4.	अधर्मद्रव्य	-	एक
5.	आकाशद्रव्य	-	एक
6.	कालद्रव्य	-	लोकप्रमाण असंख्यात्

(क) द्रव्य की स्वतंत्रता -

ये सभी द्रव्य एक साथ आकाश द्रव्य के एक भाग "लोकाकाश" में अपने-अपने स्वचतुष्टय के साथ रहते हुए, स्वतंत्र रूप से अपना-अपना कार्य करते हुए अवस्थान ग्रहण किये हुए हैं। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जैनदर्शन में मान्य जीव अनंतानंत हैं, उससे भी अनंतगुणे पुद्गल द्रव्य हैं, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालद्रव्य हैं तथा लोकाकाश प्रमाण एक धर्म द्रव्य व एक अधर्मद्रव्य है तो ये सब द्रव्य असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में किस प्रकार अवकाश प्रा त करते हैं ?

इस शंका का समाधान जैनाचार्यों ने अनुसार निम्नांकित है - "जिस प्रकार एक कमरे में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, एक छोटे से गूढ़ नागरस के गुटके में जिस प्रकार बहुत-सी सुवर्ण राशि रहती है, राख से भरे घड़े में सुई और ऊंटनी का दूध जिस प्रकार समा जाता है तथा एक भूमिगृह में जय-जय व घण्टादि के शब्द समा जाते हैं उसी प्रकार असंख्यात प्रदेशी लोक में विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण जीवादि अनंत पदार्थ सहज ही अवकाश प्राप्त कर लेते हैं।"[27] **तथा आकाश के एक प्रदेश में आकाश सहित छहों द्रव्यों की सत्ता होते हुए भी सभी द्रव्यों का अस्तित्व स्वतंत्र है, परिणमन स्वतंत्र है, यह जैन दर्शन में मान्य द्रव्यों की स्वतंत्रता की विचित्रता व अलौकिकता है।** इसका प्रतिपादन आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'पंचास्तिकाय' में स्पष्ट रूप से मिलता है - "ये छः द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक-दूसरे को अवकाश देते हैं, परस्पर (क्षीरनीरवत्) मिल जाते हैं तथापि अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।"[28]

उक्त कथनों में सभी द्रव्यों के एकक्षेत्रावगाह रूप से रहने पर भी अपने-अपने स्वभाव को न छोड़ते हुए उनके स्वतंत्र परिणमन को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है। वस्तु की स्वतंत्र सत्ता का दिग्दर्शन कराकर जैनदर्शन के आधारभूत तथ्य वस्तुस्वातंत्र्य को बतलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्र सत्ता होने के साथ-साथ उसका परिणमन पूर्णतः स्वसहाय, परनिरपेक्ष व स्वतंत्र है। उसमें किसी सर्वशक्तिमान कल्पित परमसत्ता व परवस्तु का किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप संभव नहीं है। प्रत्येक द्रव्य के स्वतंत्र परिणमन में किसी सर्वशक्तिमान सत्ता अथवा परवस्तु के हस्तक्षेप का अभाव ही वस्तुस्वातंत्र्य का प्रतिपाद्य है।

(ii) गुण का स्वरूप -

जैनदर्शन में 'गुण' शब्द वस्तु की सहभावी विशेषताओं का वाचक है। प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण होते हैं-कुछ साधारण, कुछ असाधारण, कुछ स्वाभाविक और कुछ

विभाविक।[29] 'गुण' को शक्ति, स्वभाव, धर्म, लक्षण, विशेष, ध्रुव, अर्थ, अन्वयी, सहभू, नित्य आदि नामों से अभिहित किया गया है।[30] गुण साथ में रहते हैं; इसलिए सहभू कहलाते हैं। सदा रहते हैं; इसलिए स्वभाव कहलाते हैं; उनकी पर्यायें (परिणमन) प्रगट होती हैं; अत: शक्ति कहलाते हैं। वस्तु में सहज ही स्वयं सिद्ध होते हैं; अत: धर्म कहलाते हैं। वस्तु को अन्य वस्तु से भिन्न करते हैं; अत: उन्हें लक्षण और विशेष कहा जाता है। नित्य रहते हैं; अत: ध्रुव, अन्वयी और अर्थ कहलाते हैं। जैनदर्शन में 'गुण' को अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है। यथा -

"द्रव्य का आश्रय लेकर और पर के आश्रय के बिना प्रवर्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य लिंगित होता है, पहचाना जाता है, वह लिंग गुण है।"[31]

"द्रव्याश्रयनिर्गुणा: गुणा:" गुण की विशेषता के बारे में आचार्य उमास्वामी ने गुणों को द्रव्य का आश्रय व स्वयं दूसरे गुणों से रहित अर्थात् निर्गुण बतलाया है।[32] जैनदर्शन में गुणों की सर्वाधिक प्रचलित परिभाषा इस रूप में निरूपित की गई है - "जो द्रव्य के सम्पूर्ण क्षेत्र (प्रदेश) में व्याप्त होकर रहते हैं, और उस द्रव्य की सभी अवस्थाओं (पर्यायों) में अनुवर्ती (अन्वयरूप) रहते हैं उन्हें गुण कहते हैं।"[33] इस प्रकार उपर्युक्त कथनों में गुण को द्रव्य का आश्रयभूत व उसे द्रव्य के समस्त प्रदेशों में व्याप्त बतलाकर उन्हें द्रव्य का मूल लक्षण कहा गया है जिससे द्रव्य की पहचान होती है।

जैनदर्शन में यह सर्वविदित है कि प्रत्येक द्रव्य अनंत गुणमयी होता है। गुण रहित द्रव्य का अस्तित्व संभव नहीं है, क्योंकि गुणों का समुदाय ही द्रव्य है।[34] इनमें से कुछ गुण ऐसे हैं जो षड़विध द्रव्यों में पाये जाते हैं, इन्हें सामान्य गुण कहा जाता है। कुछ गुण ऐसे हैं जो सभी द्रव्यों में न रहकर अपने-अपने द्रव्य में पाये जाते हैं, उन्हें विशेष गुण कहते हैं।[35] वास्तव में, गुण द्रव्य की विशेषतायें हैं जिनसे द्रव्य की पहचान व महिमा प्रगट होती है। इस-प्रकार प्रत्येक वस्तु में जो अनंत सामान्य व अनंत विशेष गुण पाये जाते हैं। अनंत सामान्य गुणों में मुख्य छ: गुणों की चर्चा जिनागम में विशेष रूप से की गयी है। इस सन्दर्भ में जैनदर्शन का निहित मन्तव्य यह है कि वह किसी ईश्वर की सत्ता को स्वीकृत नहीं करता है। ईश्वरकृत कोई कार्य उत्पन्न होता है, यह भी जैनदर्शन में मान्य नहीं है। इसलिए ईश्वरकर्तृत्ववाद का खण्डन करने के लिए अस्तित्व-गुण का विशेष कथन किया गया है। इसीप्रकार निमित्तवादियों के मत का खण्डन करने के लिए वस्तुत्व-गुण का, बौद्धों की क्षणिक सत्ता निराकरण के लिए द्रव्यत्व-गुण का, सर्वज्ञता की सिद्धि हेतु प्रमेयत्व-गुण का कथन किया गया है। वस्तु की सत्ता न मानने वाले चार्वाक मत का खण्डन करने के लिए प्रदेशत्व-गुण का और द्रव्य में हीनाधिकता की मान्यता से युक्त मतों का खण्डन करने के लिए अगुरुलघुत्व-गुण का विशेष कथन किया गया है।

(क) सामान्य गुण -

सामान्य गुण वह है जो सभी द्रव्यों में विशेषता रहित वर्तन करते हैं।[36] प्रमुख गुण निम्नांकित हैं - [37] (i) अस्तित्व गुण (ii) वस्तुत्व गुण (iii) द्रव्यत्व गुण (iv) प्रमेयत्व गुण (v) प्रदेशत्व गुण (vi) अगुरुलघुत्व गुण

(i) अस्तित्व गुण - जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी नाश नहीं होता है और द्रव्य किसी से उत्पन्न नहीं होता है उस शक्ति को अस्तित्व गुण कहते हैं।[38] अस्तित्व गुण यह दर्शाता है कि प्रत्येक द्रव्य की सत्ता अनादिकाल से है और अनंतकाल तक रहने वाली है। द्रव्य का रचियता कोई परमशक्ति नहीं है, क्योंकि कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। तथा दो या अधिक द्रव्य मिलकर उनकी सत्ता एक नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का पृथक्-पृथक् अस्तित्व गुण है। अस्तित्व गुण के कारण ही द्रव्य को 'सत्' कहा जाता है।

(ii) वस्तु गुण- जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व होता है अर्थात् अपनी-अपनी प्रयोजनभूत क्रिया होती है उस शक्ति को वस्तुत्व गुण कहते हैं।[39] वस्तुत्व गुण के कारण 'द्रव्य' को वस्तु कहा जाता है।[40] वस्तुत्व गुण यह दर्शाता है कि जो अर्थक्रिया शक्ति से युक्त है वही द्रव्य है और विश्व में विद्यमान प्रत्येक द्रव्य एक क्षण-मात्र भी अपने प्रयोजनभूत कार्य से रहित नहीं होता। उसे अपने कार्य में अन्य द्रव्य के सहयोग की आवश्यकता भी नहीं होती जैसे - जीव द्रव्य की प्रयोजनभूत क्रिया ज्ञान-दर्शन आदि है वह अन्य जीव द्रव्यों की अथवा पुद्गलादि द्रव्यों की क्रिया नहीं कर सकता। अतएव जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य का पृथक्-पृथक् प्रयोजनभूत कार्य है उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में विद्यमान जो अनंत गुण हैं उनमें प्रत्येक गुण अपने-अपने प्रयोजनभूत कार्य को सम्पन्न करता है, कोई भी गुण दूसरे गुण का कार्य नहीं करता। यथा - जीव में विद्यमान ज्ञान गुण दर्शन गुण का कार्य नहीं करता तथा दर्शन गुण ज्ञान गुण का कार्य नहीं करता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्येक द्रव्य और उसमें विद्यमान अनंत गुण अपने-अपने कार्य के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य व अन्य गुण का कार्य नहीं करते। अत: प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है साथ ही उसका कार्य भी स्वतंत्र है।

(iii) द्रव्यत्व गुण - जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्थाओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है उसे द्रव्यत्व-गुण कहते हैं।[41] इस गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य सदा परिणमन करता रहता है। द्रव्य की सत्ता सदैव कायम रहते हुए उसकी अवस्थायें निरंतर बदलती रहती हैं अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद-व्यय रूप अवस्था का अखण्ड प्रवाह चलता रहता है यदि अपनी अवस्था परिवर्तन का यह गुण प्रत्येक द्रव्य में न रहता तो द्रव्य के 'कूटस्थ' बनने का प्रसंग उपस्थित होता। अत: प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपनी योग्यता से परिणमित होता है, उसे अपने परिणमन में परद्रव्य के सहयोग की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है।

(iv) प्रमेयत्व गुण - जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय हो उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।[42] प्रमेयत्व गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य ज्ञान में ज्ञात होता है, जाना जाता है जिससे विश्व की कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रहती। छहों द्रव्यों में केवल जीवद्रव्य ही चेतन है उसमें जानने की शक्ति है। सभी उसके ज्ञान में ज्ञेय बनते हैं, किन्तु जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में ज्ञान का ज्ञेय बनने की शक्ति है यद्यपि ये पांचों द्रव्य अचेतन है फिर भी प्रमेयत्व गुण के कारण ही ये जीव के ज्ञान का ज्ञेय बनते हैं। प्रमेयत्व गुण प्रत्येक द्रव्य में विद्यमान होने से विश्व का कोई भी पदार्थ अज्ञात नहीं रह सकता।

(v) प्रदेशत्व गुण - जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है उस शक्ति को प्रदेशत्व गुण कहते हैं।[43] विश्व में छह द्रव्य हैं उसमें पुद्गल द्रव्य व शेष पांचों द्रव्य अमूर्तिक हैं। पुद्गल मूर्तिक होने से उसका आकार रूपी होता है, किन्तु अन्य द्रव्य अमूर्तिक होने से उनका आकार अरुपी होता है। प्रत्येक द्रव्य की उत्पाद-व्यय रूप परिणमन में जो आकार परिवर्तित होता है। वह उस द्रव्य में विद्यमान प्रदेशत्व गुण के कारण होता है, अन्य किसी परमशक्ति या परद्रव्य के कारण नहीं।

(vi) अगुरुलघुत्व गुण - जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है अर्थात् (1) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता है। (2) एक गुण दूसरे गुण रूप नहीं होता है और (3) द्रव्य में रहने वाले अनंत गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं हो जाते हैं, उस शक्ति को अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।[44] यह गुण इस तथ्य का प्रगटीकरण करता है कि प्रत्येक द्रव्य का स्वचतुष्टय अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भिन्न-भिन्न होने के कारण 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता'। एक ही द्रव्य के दो गुणों का द्रव्य एक, क्षेत्र एक, काल एक, परन्तु भाव पृथक्-पृथक् होने के कारण एक गुण दूसरे गुण रूप नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य और उसके गुण स्वद्रव्य व स्वक्षेत्र एक होने से अपना स्वद्रव्य व स्वक्षेत्र छोड़कर बाहर नहीं जाते अर्थात् गुण न तो द्रव्य से भिन्न होते है और न ही अन्य द्रव्य में जाकर मिलते हैं, बल्कि अपने स्वचतुष्टय में सदैव विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार अगुरुलघुत्व गुण प्रत्येक द्रव्य व उसमें रहने वाले अनंत गुणों के पृथक्-पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व को बतलाता है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता और एक गुण दूसरे गुण में नहीं मिलता। द्रव्य सदैव अनंत गुणों से परिपूर्ण सत्ता रखता है।

(ख) विशेष गुण -

जो गुण विवक्षित वस्तु में मग्न हो तथा 'यह वह है' इस प्रकार का ज्ञान कराने वाले गुण विशेष गुण हैं।[45] विशेष गुण प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना होता है इस कारण विशेष गुणों को उस द्रव्य का 'विशेष लक्षण' भी कहते हैं। विश्व में रहने वाले जाति अपेक्षा छः द्रव्यों के विशेष गुण निम्नांकित हैं -

(i) जीव द्रव्य - जिसमें ज्ञान-दर्शन रूप शक्ति हो, वह जीव द्रव्य है।[46] ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रद्धा, वीर्य, चेतनत्व आदि जीव के विशेष गुण हैं[47] जो उसका अन्य द्रव्यों से भिन्न अस्तित्व प्रगट करते हैं।

(ii) पुद्गल द्रव्य - जिसमें स्पर्श -रस-गंध-वर्ण आदि गुण पाये जाते हैं, वह पुद्गल द्रव्य है।[48] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण व मूर्तत्व पुद्गल द्रव्य के विशेष गुण हैं।[49]

(iii) धर्मद्रव्य - जो स्वयं गमन करते हुए जीव व पुद्गलों के गमन में साधारण निमित्त हों, वह धर्मद्रव्य है। जैसे जगत् में पानी मछलियों को गमन में अनुग्रह करता है वैसे ही धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों को गमन में अनुग्रह करता है।[50] गतिहेतुत्व धर्म द्रव्य का विशेष लक्षण है।[51]

(iv) अधर्म द्रव्य - जो स्वयं गतिपूर्वक स्थिति रुप में परिणमित होते हुए जीव व पुद्गलों के ठहरने में साधारण निमित्त हो, वह अधर्म द्रव्य है। जैसे-पथिक को ठहरने के लिए वृक्ष की छाया साधारण-निमित्त है उसी प्रकार ठहरने वाले जीव और पुद्गलों के

ठहरने में अधर्म द्रव्य साधारण-निमित्त है।[52] स्थितिहेतुत्व अधर्म द्रव्य का विशेष लक्षण है।[53]

(v) आकाश द्रव्य - जो जीवादिक द्रव्यों को रहने के लिए अवकाश (स्थान) देता है, वह आकाश द्रव्य है। यह सर्वव्यापक व सर्वत्र है। यह लोक व अलोक दो प्रकार का है- जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँच द्रव्य रहते हैं वह लोकाकाश है तथा लोकाकाश के बाहर अनंत आकाश अलोकाकाश है।[54] अवगाहनहेतुत्व आकाश द्रव्य का विशेष गुण है।[55]

(vi) काल द्रव्य - अपनी-अपनी अवस्था रूप से स्वयं परिणमते हुए जीवादिक द्रव्यों के परिणमन में जो निमित्त हो, वह काल द्रव्य है। जैसे-कुम्हार के चाक को घूमने में लोहे की कीली।[56] इसके निश्चय व व्यवहार काल के रूप में दो भेद हैं - जो द्रव्य के परिवर्तन रूप है अर्थात् द्रव्य की पर्याय के साथ संबंध वाली कालावधि रूप है तथा परिणमादि से लक्षित होता है, वह व्यवहार काल है तथा जो वर्तना लक्षण वाला है वह निश्चयकाल है।[57] वर्तनाहेतुत्व कालद्रव्य का विशेष गुण है।[58]

इस प्रकार छ: द्रव्यों में विद्यमान सामान्य व विशेष गुणों के उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि सामान्य गुण द्रव्य की (अस्तित्व) सिद्धि के सूचक हैं तथा विशेष गुण द्रव्यों की पृथकता के बोधक हैं।[59] यदि द्रव्य में सामान्य गुणों की सत्ता नहीं मानी जावें तो उसमें द्रव्यत्व के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि विशेष गुण नहीं माने जायें तो उसे अन्य द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता।

जैनदर्शन गुणों का द्रव्य के साथ नित्य-तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करता है। द्रव्य में गुणों की व्यवस्था इस प्रकार नहीं है जैसे - एक बोरे में गेहूँ के दाने भरे हैं, किन्तु जैसे नमक में खारापना, ठोसपना, सफेदी है वैसे ही द्रव्य में गुण तादात्म्य-तद्रूप हैं।

(ग) गुणों की स्वतंत्रता -

गुणों को जानने से प्रत्येक गुण की विशेषता और उसका कार्य स्पष्ट हो जाता है। जैसे- जीव के ज्ञान गुण का कार्य जानना है, चेतना गुण का कार्य चेतनपना है, श्रद्धा गुण का कार्य श्रद्धान करना है, चारित्र गुण का कार्य स्थिरता-मग्नता-लीनता इत्यादि है, सुख गुण का कार्य सुखी करना है, पुद्गल के स्पर्श गुण का कार्य स्पर्शन करना है, रसगुण का कार्य रसगुण की अवस्था को करना है, वर्ण गुण का कार्य वर्ण गुण की अवस्था को करना है, गन्ध गुण का कार्य गन्ध गुण की अवस्था को करना है। वैभाविक गुण का कार्य विभाव रूप अवस्था को करना है इत्यादि। इसी प्रकार सभी द्रव्यों के सभी गुणों का कार्य समझना चाहिए। प्रत्येक गुण अपना ही कार्य करता है, दूसरे गुण का कार्य नहीं करता। इसीलिये एक गुण दूसरे गुण रूप नहीं होता। कहा भी गया है - **''जीव में जो दर्शन नाम का एक गुण है वह न ज्ञान गुण है, न सुख है, न चारित्र अथवा न कोई अन्य ही गुण हो सकता है, किन्तु वह 'दर्शन गुण' दर्शन ही है। इसी तरह द्रव्य का जो कोई भी गुण है वह भी उससे भिन्न स्वरूप वाला नहीं हो सकता है अर्थात् सब गुण अपने-अपने स्वरूप में ही रहते हैं इसलिये ये परस्पर भिन्न अनन्त शक्तियाँ ही द्रव्य में उछलती हैं-प्रतिभासित होती हैं।''**

गुणों की अपने कार्य से अनन्यता विदित हो जाने से कार्य करने में गुणों की स्वतंत्रता का प्रगटीकरण हो जाता है। प्रत्येक कार्य का कर्त्ता उसी द्रव्य का विशेष गुण ही है, अन्य कोई नहीं। यदि द्रव्य में विद्यमान प्रत्येक गुणों का कार्य भिन्न व स्वतंत्र न हो तो द्रव्य में अनंत गुणों की सत्ता ही संभव नहीं है। 'पंचाध्यायी' में इस तथ्य को भलीभांति प्रदर्शित किया गया है - **''कोई भी गुण किसी भी गुण का अन्तर्भावी नहीं है, आधार नहीं है, आधेय नहीं है, कारण और कार्य भी नहीं है, किन्तु अपनी-अपनी शक्ति को धारण करने की अपेक्षा सब गुण अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं। इसलिए यद्यपि वे नानारूप व अनेक हैं तथापि निश्चयपूर्वक वे सब गुण परस्पर में एक ही सत् के साथ अन्वय रूप में रहते हैं।''**[60]

उक्त कथन में गुणों की द्रव्य के साथ अनन्यता व अनंत गुणों के सहभू होने पर भी प्रत्येक गुण के स्वतंत्र अस्तित्व व परिणमन की स्वतंत्रता को प्रतिपादित किया गया है। द्रव्य का अस्तित्व ही स्वतंत्र नहीं है, बल्कि उसमें विद्यमान गुण द्रव्य के सहभावी व अनन्य होने पर भी प्रत्येक गुण की सत्ता व कार्य स्वतंत्र है, भिन्न है। प्रत्येक गुण की स्वतंत्रता सत्ता स्वीकृत होने से वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा का अत्यंत गहराई व सूक्ष्मता से प्रगटीकरण होता है।

(iii) **पर्याय का स्वरूप :-**

पर्याय का वास्तविक अर्थ वस्तु का अंश है। ध्रुव-अन्वयी या सहभू तथा क्षणिक, व्यतिरेकी या क्रमभावी के भेद से वे अंश दो प्रकार के होते हैं। अन्वयी को गुण और व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं जो गुण के विशेष परिणमन रूप होती हैं। अंश की अपेक्षा यद्यपि दोनों ही अंश पर्याय हैं, परन्तु रूढ़ि से केवल व्यतिरेकी अंश को ही पर्याय कहना प्रसिद्ध है।[61] जैनआगम पर्याय को विविध रूपों में परिभाषित करता है -

आलापपद्धति में पर्याय के व्युत्पत्ति अर्थ को बतलाते हुए कहा गया है[62] -''जो स्वभाव-विभाव रूप से गमन करती है अर्थात् परिणमन करती है, वह पर्याय है।''

पंचाध्यायी व तत्त्वार्थसूत्र का कथन भी इस सम्बन्ध में क्रमश: दृष्टव्य है - ''परिणमन गुणों की अवस्था है अर्थात् गुणों की प्रतिसमय होने वाली अवस्था का नाम पर्याय है।'' ''तद्भाव: परिणाम:'' उसका होना अर्थात् गुणों का प्रतिसमय बदलते रहना ही परिणाम है।[63]

अन्यत्र द्रव्य के विकार को भी पर्याय कहा गया है। द्रव्य के विकार विशेष रूप से भेद को प्राप्त होते हैं इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं। पर्याय को पर्यय, पर्यव, अंश, पर्याय, भाग, प्रकार, भेद, छेद, भंग आदि नामों से भी कहा जाता है।[64]

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य या गुण कोई न कोई अवस्था में ही पाया जाता है। पर्याय रहित द्रव्य का अस्तित्व संभव नहीं है,[65] क्योंकि द्रव्य और गुण कथंचित् परिणामी हैं और परिणमन को ही पर्याय कहा गया है। गुणों का कार्य निरंतर परिणमन करते रहना है। कोई भी गुण कभी-भी परिणमन किये बिना नहीं रहता। इसलिए प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण की एक पर्याय सहज ही होती रहती है। इस प्रकार द्रव्य के अनंत गुणों की अनंत पर्यायें प्रतिसमय होती ही रहती हैं उन्हें करने-कराने की

आवश्यकता नहीं पड़ती। यह भी द्रव्य का स्वभाव है, जैसे - स्वर्ण, पिण्ड, मुकुट, हार, कंगन, कुण्डल इत्यादि कोई न कोई अवस्था में ही तो पाया जाएगा। हम कोई भी अवस्था के बिना स्वर्ण को पाना चाहे तो वह संभव नहीं है। पर्याय ही द्रव्य की प्रसिद्धि के हेतु हैं। पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु के परिणमन का यह वैशिष्ट्य होता है कि वह त्रिकाल परिणमन करते हुए भी अपने वस्तुत्वपने को नहीं खोती अर्थात् उसका सत्पना सदैव कायम रहता है। इसी कारण से वह अपने स्वभाव रूप से अन्य वस्तुओं से भिन्न स्वतंत्र रहती है।

(क) पर्याय के भेद -

जैनदर्शन में पर्यायों को अनंत प्रकार माना गया है। मुख्यरूप से पर्याय के भेद निम्न प्रकार किये गये हैं -[66] (1) द्रव्यपर्याय (2) गुणपर्याय

1. द्रव्य-पर्याय -

अनेक द्रव्यों में एकता प्रतिपत्ति का कारणभूत द्रव्य-पर्याय है। दूसरे शब्दों में, अनेक द्रव्यों में जिससे एकपने का ज्ञान हो उसे द्रव्य-पर्याय कहते हैं।[67] द्रव्यपर्याय की अपेक्षा से भी पर्याय के दो भेद हैं- (क) समानजातीय द्रव्यपर्याय (ख) असमानजातीय द्रव्यपर्याय।[68]

(क) समानजातीय द्रव्यपर्याय - एक जाति के अनेक द्रव्यों में जिस कारण एकपने का ज्ञान हो, वह समानजातीय द्रव्यपर्याय है। जैसे - अनेक पुद्गलात्मक द्वयणुक-त्रयणुक, स्वर्णपिण्ड, घट आदि।[69]

(ख) असमानजातीय द्रव्यपर्याय - अनेक जाति के अनेक द्रव्यों में जिस कारण एकपने का ज्ञान हो, वह असमानजातीय द्रव्यपर्याय है। जैसे - जीव-पुद्गलात्मक देव, मनुष्य आदि पर्यायें।[70]

(2) गुण-पर्याय -

जिन पर्यायों में गुणों के द्वारा अन्वय रूप से एकत्व का ज्ञान होता है, वह गुण-पर्याय है। दूसरे शब्दों में, गुणों के परिणमन को गुण-पर्याय कहा जाता है। जैसे - पुद्गल के रस-गुण की खट्टी, मीठी, कड़वी आदि अवस्थायें। जीव के ज्ञान-गुण की मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय आदि अवस्थायें। गुण-पर्याय के भी दो भेद हैं -

(क) अर्थ-पर्याय - प्रदेशत्वगुण के अतिरिक्त बाकी सम्पूर्ण गुणों के कार्य को अर्थ-पर्याय कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं - (अ) स्वभाव-अर्थपर्याय (ब) विभाव-अर्थपर्या।[71] पर-निमित्त के सम्बन्ध से रहित जो अर्थपर्याय होती है उसको स्वभाव-अर्थपर्याय कहा जाता है, जैसे-जीव का केवलज्ञान, क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि। पर-निमित्त के सम्बन्ध वाली जो अर्थपर्याय होती है, उसे विभाव अर्थपर्याय कहते हैं, जैसे-जीव में रागद्वेषादि।[72]

(ख) व्यंजन-पर्याय - द्रव्य के प्रदेशत्वगुण के विशेष कार्य को व्यंजनपर्याय कहा जाता है। इसके भी दो भेद कहे गये हैं।[73] (अ) स्वभाव-व्यंजनपर्याय (ब) विभाव-व्यंजनपर्याय। पर-द्रव्य के सम्बन्ध रहित द्रव्य का जो आकार हो वह स्वभाव-व्यंजन पर्याय है, जैसे - सिद्ध आत्मा का आकार और परमाणु का आकार। पर-निमित्त के सम्बन्ध वाले द्रव्य

का जो आकार हो वह विभाव-व्यंजनपर्याय है, जैसे -जीव की नर-नारकादि पर्याय।[74]

इसे निम्न तालिका के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है -

- पर्याय
  - द्रव्यपर्याय
    - समानजातीय-द्रव्यपर्याय
    - असमानजातीय-द्रव्यपर्याय
  - गुणपर्याय
    - अर्थपर्याय
      - स्वभाव-अर्थपर्याय
      - विभाव-अर्थपर्याय
    - व्यंजनपर्याय
      - स्वभाव-व्यंजन पर्याय
      - विभाव-व्यंजनपर्याय

(ख) पर्याय की स्वतंत्रता -

पर्याय के स्वरूप व भेदों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक द्रव्य में अन्तर्निहित गुणों का परिणमन ही पर्याय है। गुण के प्रकरण में हमने देखा कि द्रव्य के सहभू, अनन्य, अभिन्न प्रत्येक गुण का अस्तित्व व कार्य भिन्न-भिन्न व स्वतंत्र है। इससे फलित होता है कि प्रत्येक गुण के पर्यायें भी स्वतंत्र हैं क्योंकि गुणों के कार्य अथवा परिणमन का नाम ही तो पर्याय है। जैसे - एक गुण दूसरे गुण का कार्य नहीं करता, वैसे ही एक पर्याय दूसरे पर्याय का कार्य नहीं करते। अनंत गुणों की अनंत पर्यायें अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। यहाँ तक कि एक क्षण पूर्व उत्पन्न पर्याय भी दूसरे क्षण उत्पन्न होने वाले पर्यायों की कर्त्ता नहीं है। यही वस्तु का स्वतंत्र सामर्थ्य है। कहा भी गया है-**"जैसे वस्तु स्वत: सिद्ध है वैसे ही वह स्वत: परिणमनशील है।·गुण नित्य हैं तो भी वे निश्चय करके स्वभाव से ही प्रतिसमय परिणमन करते रहते हैं।"**[75]

(5) स्वातंत्र्य अथवा स्वतंत्रता का अर्थ :-

द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक वस्तु और उसके स्वभाव में अन्तर्निहित स्वतंत्रता से अवगत हो जाने के पश्चात् शोध-प्रबंध में प्रयुक्त स्वातंत्र्य का अर्थ समझना भी अपरिहार्य है। इस दृष्टि से जैनदर्शन में स्वतंत्रता के अनेक अर्थ मिलते हैं। जैसे-भिन्नता, कार्य करने की सामर्थ्य, स्वतंत्र रहना, स्वतंत्र रहकर स्वाधीन कार्य करना, विकारी परिणाम की स्वतंत्रता व शुद्ध परिणाम की स्वतंत्रता इत्यादि।

इस शोध-प्रबंध में स्वतंत्रता का तात्पर्य वस्तु की कार्य करने की स्वतंत्र परिणमनशीलता को कहा गया है। यद्यपि वस्तु का विभाव रूप परिणमन-सामर्थ्य भी स्वाधीन होती है, किन्तु जैनदर्शन में उसे पराधीन भी कहा गया है, जैसे - संसारी जीव स्वत: परपदार्थ को लक्ष्य करके राग-द्वेष आदि विभाव रूप से परिणमित होता है।

1. संसारी जीव स्वयं रागद्वेषादि विभावरूप से परिणमित होता है। इसे कोई बलात् रागद्वेष आदि विभाव रूप से परिणमित होने के लिए मजबूर नहीं कर सकता है।

2. संसारी जीव स्वयं स्वतंत्र रहकर पर-पदार्थ का लक्ष्य करता है। कोई पर-पदार्थ बलात् इसे अपना लक्ष्य नहीं कराता है।
3. इसप्रकार जब-जब संसारी जीव पर-पदार्थों का लक्ष्य करता है तब-तब ही उसमें राग-द्वेष आदि विभाव परिणाम उत्पन्न होते हैं।
4. जब भी संसारी जीव में रागद्वेष के परिणाम होते हैं तब उसके मोहनीय कर्म का उदय अवश्य रहता ही है।
5. जब-जब जीव को राग-द्वेष भाव होते हैं तब-तब जीव को नवीन कर्मों का बन्ध अवश्य होता हैं।

उक्त पांच बिन्दुओं में हम देखते हैं कि कोई कार्य जीव में हुआ है, जैसे - परलक्ष्य अथवा रागद्वेषादिक विकारी भाव। कोई कार्य कर्मों में हुआ है, जैसे कर्म का उदय या कर्म का बन्ध। इनमें जीव का कार्य जीव करता है कर्मपुद्गल नहीं करता, कर्मपुद्गल का कार्य कर्मपुद्गल करता है, जीव नहीं करता। इसे जैनदर्शन वस्तु के वैभाविक परिणमन होने पर भी स्वतंत्र परिणमन कहता है, क्योंकि यह कार्य पर-निरपेक्ष व स्वसापेक्ष ही होता है। जो भी कार्य परनिरपेक्ष व स्वसापेक्ष होता है उसे स्वतंत्र कार्य कहा जाता है। इसी कारण कर्ता की परिभाषा भी जैनदर्शन में "स्वतंत्र: कर्ता" कही गयी है।

जो जीव इस वस्तु व्यवस्था को न समझकर अपने को पर-पदार्थ का कर्ता मानकर, पर का लक्ष्य करके विभाव रूप से परिणमन करता है उसे कर्म का बन्ध व दु:ख होता है, उसकी यह कर्मबन्ध व दु:ख की परम्परा अनंतकाल तक चलती रहती है और जो जीव उस वस्तुव्यवस्था की स्वतंत्रता को समझकर अपने को परद्रव्य की अवस्था का कर्ता न मानकर मात्र ज्ञाता मानने लगता है, उसका लक्ष्य पर-द्रव्य से हटकर निज-द्रव्य पर आ जाता है और उस काल में उस जीव को रागद्वेष आदि विभावरूप परिणमन नहीं होते है, न ही नवीन कर्म का बन्ध होता है और न दु:ख ही होता है। उस काल में उस जीव का लक्ष्य स्व-द्रव्य होने से शुद्ध पर्याय, स्वभाविक पर्याय उत्पन्न होते हैं तथा अतीन्द्रिय आनंद व वीतरागता प्रगट हो जाती है। यह स्वभाविक पर्याय सहज, स्वसापेक्ष, परनिरपेक्ष और स्वतंत्र होती है। कालान्तर में यह जीव मोक्ष को प्राप्त करके अनंत काल के लिए सुखी हो जाता है अर्थात् उसे फिर संसार में नहीं आना पड़ता। वास्तव में, जीव की यह शुद्ध पर्याय भी पूर्ण स्वतंत्र होने से जैनदर्शन में इसे प्रयोजनभूत स्वतंत्रता कहा गया है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए किसी परपदार्थ की सहायता की अपेक्षा नहीं होती है तथा न किसी कर्म की किसी भी प्रकार की अवस्था की अपेक्षा होती है।

संसार अवस्था में जीव में जो राग-द्वेषादिक विभाव परिणाम होते हैं उन्हें स्वतंत्र होते हुए भी पराधीन कहा गया, क्योंकि वे विभावरूप परिणाम जीव को पर का लक्ष्य करने पर व पूर्वकर्मों का उदय होने पर ही होते हैं। बिना पर को लक्ष्य किये और बिना कर्मोदय हुए जीव को वे रागादि विभावरूप परिणाम नहीं हो सकते। इसलिए उन परिणामों को पराधीन, औपाधिक, विकारी, दु:खरूप, बन्धसाधक कहा जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय होने वाले पर्यायों को वस्तुदृष्टि से अर्थात् निश्चय रूप से देखा जाय तो वे पूर्ण पर-निरपेक्ष, स्वसापेक्ष और स्वतंत्र होते हैं; किन्तु

संसारी जीव को इस वस्तुव्यवस्था के सिद्धान्त का ज्ञान न होने से वह किसी न किसी को इन पर्यायों का कर्ता मान लेता है और वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को विस्मृत कर देता है जबकि वे सभी अवस्थायें पूर्ण स्वतंत्र, स्वाधीन और निरपेक्ष ही होती हैं। चाहे प्रत्येक जीव कर्मोदय सहित संसारी अवस्था में हों या कर्मोदय रहित सिद्ध अवस्था में हों। प्रतिसमय प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र ही होती है। किसी भी पर्याय को होने के लिए किसी पर-पदार्थ, कर्म, निमित्त, उपादान, पूर्वपर्याय या भविष्य की पर्याय की ओर देखना नहीं पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मोदय रूप अवस्था में होने पर भी जीव ज्ञान-दर्शन चेतना रूप परिणमन ही करता है और कर्म या अन्य पुद्गल के स्पर्श-रस-गंध-वर्ण पर्याय रूप परिणमित नहीं होता तथा पुद्गल भी जीव के ज्ञान-दर्शन पर्याय रूप परिणमित नहीं होता है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र व स्व-रूप (निजरूप) ही होती है, पररूप नहीं होती। यहाँ पर जीव की विकारी दशा एवं अविकारी दशा दोनों अवस्थाओं की अपेक्षा से स्वतंत्रता की बात कही गयी है और विकारी अवस्था में भी जीव अपना ज्ञान-दर्शन रूप परिणमन अथवा कार्य में पूर्ण स्वतंत्र है यह बतलाकर जीव की स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया है, जो कि वस्तुस्वातंत्र्य का मूल मंतव्य है।

इस प्रकार इस शोध प्रबंध में प्रतिपादित स्वतंत्रता का मन्तव्य वस्तु के स्वतंत्र कार्य करने की अथवा स्वतंत्र परिणमित होने की योग्यता को बतलाना है। प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वतंत्र है चाहे वह बंध-अवस्था में हो या निर्बंध-अवस्था में हो। जैसे - पुद्गल द्रव्य चाहे स्कंध अवस्था में हो या परमाणु रूप में हो।प्रत्येक पुद्गल परमाणु का परिणमन स्वतंत्र है अर्थात् प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र रूप से स्पर्श-रस-गंध-वर्ण रूप परिणमन करता है। अन्य परमाणु रूप नहीं होता व अन्य परमाणु के कार्य में हस्तक्षेप भी नहीं करता। इस प्रकार जैनदर्शन न केवल जन-जन की, बल्कि कण-कण की स्वतंत्रता को प्रतिपादित करता है। यहाँ पर जीव व पुद्गल द्रव्य के स्वतंत्र परिणमन को बतलाना हमारा विशेष उद्देश्य रहा है। अन्य चार द्रव्य बन्ध अवस्था को प्राप्त नहीं होते हैं भले ही वे एकक्षेत्रावगाह रूप से रहते हों, वे अपना अस्तित्व स्वतन्त्र ही रखते हैं।

(6) वस्तुस्वातंत्र्य में सन्दर्भ में जैनआगम में वर्णित तथ्य :-

वस्तुस्वातंत्र्य जैनदर्शन की मूलभूत भित्ति व आधारशिला है। प्रत्येक सिद्धान्त में निहित मर्म को यदि सूक्ष्मता व गहराई से अवलोकित किया जाय तो उसमें अंतिम रूप से एक ही अवधारणा अन्तर्निहित प्रतीत होती है - "वस्तु की स्वतंत्रता" या कहें 'वस्तु की स्वतंत्र परिणमनशीलता' जो वास्तव में वस्तु का स्व-सामर्थ्य ही है। उसका कर्ता कोई परमसर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ सत्ता या कोई पर-वस्तु नहीं।

अब यहाँ पर जैनआगम में विद्यमान कुछ उद्धरणों पर प्रकाश डालकर इस विषय को पूर्ण रूप से शास्त्रीय मन्तव्य द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं। जैन परम्परा में वस्तुस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का इतिहास एवं उसका अवधारणीकरण न तो बहुत स्पष्ट है और न ही व्यवस्थित है। वास्तव में यह एक अन्तर्निर्हित सिद्धान्त जैसा प्रतीत होता है जो समय-समय पर विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में हुए परिष्कारों के माध्यम से प्रकट

होता रहा है। तब भी जैनागम में कुछ ऐसे आकर स्थल हैं, जिनका उल्लेख कर हम इस सिद्धान्त की मूलगामिता एवं इतिहास को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

इस सन्दर्भ में तीर्थंकर महावीर के पश्चात् सर्वमान्य आचार्य कुन्दकुन्द व उनके टीकाकार का कथन दृष्टव्य हैं - **समयसार, गाथा 3 की आत्मख्याति की टीका में कहा गया है कि** - "धर्म-अधर्म-आकाश-काल-पुद्‌गल-जीवद्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जितने भी पदार्थ हैं वे सभी निश्चय से (वास्तव में) एकत्व निश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से सर्वसंकर आदि दोष आ जायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अपने अनंत धर्मों के चक्र (समूह) का चुम्बन करते हैं-स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते, अत्यंत निकट एकक्षेत्रावगाह रूप से स्थित रहते हैं तथापि वे सदैव अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, पररूप परिणमन न करने से उनकी अनंत वैयक्तिकता नष्ट नहीं होती, इसलिए वे टंकोत्कीर्ण की भांति (शाश्वत) स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता से सदा विश्व का उपकार करते हैं - टिकाये रखते हैं।"(76)

पुन: समयसार, गाथा 103 भी इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है - "जगत् में जो वस्तु जिस द्रव्य में और गुण में वर्तती है वह अन्य द्रव्य में तथा गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती (बदलकर अन्य में नहीं मिल जाती) अन्य रूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह (वस्तु) अन्य वस्तु का कैसे परिणमन करा सकती है अर्थात् नहीं करा सकती।"

उक्त कथन का मन्तव्य आचार्य अमृतचंद्र ने अत्यंत सूक्ष्म ढंग से स्पष्ट किया है-"जगत् में जो कोई भी वस्तु अपने चैतन्य स्वरूप या अचैतन्य स्वरूप द्रव्य में और गुण में निज रस से ही अनादि से ही वर्तती है वह, वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से, उसी में (अपने उतने ही द्रव्य-गुण में) वर्तती है, परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूप संक्रमण को प्राप्त नहीं होती और द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूप संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह, अन्य वस्तु को कैसे परिणमित करा सकती है ?" (कभी नहीं करा सकती)(77)

समयसार, गाथा 185 की आत्मख्याति टीका पूर्णत: उपर्युक्त मन्तव्य को दृढ़ करती है - "जैसे प्रचण्ड अग्नि द्वारा तप्त होता हुआ सुवर्ण स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार प्रचंड कर्मोदय के द्वारा घिरा हुआ होने पर भी (विघ्न किया जाय तो भी) ज्ञान ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता, क्योंकि हजारों कारणों के एकत्रित होने पर भी स्वभाव छोड़ना अशक्य है, उसे छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जाएगा और वस्तु का उच्छेद होता नहीं, क्योंकि सत् का नाश होना असंभव है।"(78)

आचार्य माइल्ल धवल का कथन भी इसी मन्तव्य की पुष्टि करता है - "वे सब द्रव्य परस्पर में मिले-जुले हुए हैं और एक दूसरे को अवकाश दिये हुए हैं तथा सदा एकक्षेत्र में रहते हैं, फिर भी अपने-अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य स्वभाव रूप नहीं होते।"(79)

समयसार कलश 213 का उल्लेख न करना उक्त विषय के साथ अन्याय होगा जिसमें वस्तु स्वभाव से ही स्वतंत्र है, का स्पष्ट खुलासा किया गया है -

"वस्तु का तो स्वभाव ऐसा है कि एक वस्तु अन्य वस्तु को नहीं बदल सकती। यदि ऐसा न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही न रहे। इस प्रकार वस्तु अन्य को परिणमित नहीं करा सकती वहाँ एक वस्तु ने अन्य का क्या किया ? कुछ नहीं। चेतन वस्तु के साथ पुद्गल एकक्षेत्रावगाहरूप से रह रहे हैं तथापि वे चेतन को जड़ बनाकर अपने रूप में परिणमित नहीं करा सके; तब फिर पुद्गल ने चेतन का क्या किया ? कुछ भी नहीं।[80]"

ऐसे ही अनेक कथन समस्त जिनागम में बहुतायत है जो वस्तु की स्वतंत्रता का पूर्ण गहनता से प्रगटीकरण करते हैं। जो वस्तु की स्वतंत्र सत्ता व परिणमनशीलता की उद्घोषणा करते हैं और इस तथ्य को बहुत ही सूक्ष्मता व गहराई के साथ उभारते हैं कि "**अनादि-निधन वस्तुयें भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं। कोई भी किसी के आधीन नहीं है, किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती, पर को परिणमित कराने का भाव मिथ्यादर्शन है।**"

उपर्युक्त सन्दर्भों के मूलगामी अर्थ को उद्घाटित करने पर स्पष्ट होता है कि सत् रूप वस्तु सदैव परिणमनशील है और उसकी स्वतंत्र परिणमनशीलता में अन्य शक्ति या दूसरी सत्ता का किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप संभव नहीं है, चाहे उन वस्तुओं की सत्ता एकक्षेत्रावगाह रूप में हो या बिल्कुल पृथक-पृथक हो। पूर्व में आकाश द्रव्य का सन्दर्भ देकर इस तथ्य को युक्तिपूर्वक स्पष्टीकृत किया गया है।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि कोई भी द्रव्य या उसकी पर्याय अन्य द्रव्य या उस अन्य द्रव्य की पर्याय में हस्तक्षेप नहीं कर सकता लेकिन जगत् में हमें इसका विरूद्ध ही सर्वत्र प्रत्यक्षत:भासित होता है। प्रत्येक कार्य में किसी दूसरे द्रव्य की सहायता देखने को मिलती है। जैसे - कुम्हार के बिना घड़ा नहीं बनता, रसोईये के बिना रोटी नहीं बनती, स्वर्णकार के बिना आभूषण नहीं बनते। किसी ने हमें गाली दी तो क्रोध आता है, प्रशंसा की तो मान-कषाय उत्पन्न होती है लेकिन अनायास बिना प्रसंग के कषाय उत्पन्न नहीं होते ? शरीर और मन क्रियाकलापों में भी ऐसा परस्पर सहयोग देखने को मिलता है।

यद्यपि ऊपरी दृष्टिकोण से यह शंका सत्य प्रतीत होती है परन्तु गंभीरता से विचार करने पर यह अनुभव में आता है कि कोई मुझे गाली दे और लेकिन मैं क्रोध करूँ या न करूँ अथवा कम या ज्यादा करूँ ऐसी स्वतंत्रता है या नहीं ? इसी प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा प्रशंसा करने पर मानभाव करने या न करने की स्वतंत्रता मुझे है। इससे सिद्ध होता है कि बाह्य कारण एक सरीखे मिलने पर भी सभी व्यक्तियों के प्रति उत्तरीय भाव समान नहीं होते। इसी प्रकार यदि हमारे पास शरीर को अपने अनुरूप परिणमन करने की सामर्थ्य होती तो हम शरीर में रोग ही न होने देते और यदि हो जाये तो शीघ्र ठीक कर लेते परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि शरीर के परमाणु अपने गुणों और पर्यायों में परिणमन करते हैं और आत्मा अन्य द्रव्य होने से वह अपने गुणों और पर्यायों में ही परिणमन कर सकता है, लेकिन शरीर के परमाणुओं में बदलाव अथवा परिवर्तन नहीं कर सकता है।

घट, रोटी, आभूषण भी मिट्टी, आटा, स्वर्ण आदि से बनते हैं; कुम्हार, रसोईयाँ,

सुवर्णकार आदि से नहीं। वे तो निमित्त मात्र हैं। वस्तु-व्यवस्था (जैनदर्शन) दो द्रव्यों के बीच कर्ता-कर्म संबंध को सर्वथा अस्वीकृत करती है एवं उनके बीच केवल निमित्त-नैमित्तिक संबंध को स्वीकार करती है कि पर-द्रव्य कार्योत्पत्ति में निमित्त मात्र तो होता है पर, वह कार्य का कर्त्ता नहीं होता, उसमें किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जैसे-मिट्टी स्वयं घट रूप परिणमित होती है कुम्हार, चक्र, दण्ड आदि तो केवल निमित्त रूप से विद्यमान रहते हैं। यदि कुम्हार को घट कर्ता माना जाए तो उसे बलुआ मिट्टी से घट बनाना चाहिए, जो कि असंभव है।

इस प्रकार जैनदर्शन केवल ईश्वर के जगत् कर्तृत्व का निषेध ही नहीं करता, अपितु विश्व में व्याप्त समस्त द्रव्यों के परस्पर कर्तृत्व या उनके परिणमन में हस्तक्षेप का भी निषेध करता है एवं स्वकर्तृत्व के पोषक वस्तुस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है।

निष्कर्ष :-

उक्त सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि वस्तुस्वातंत्र्यमूलक द्रव्य की अवधारणा में मैंने संक्षेप में वस्तु के स्वरूप का रहस्योद्घाटन कर स्पष्ट रूप से जैनदर्शन के मूल आधार वस्तुस्वातंत्र्य को दिखलाने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम वस्तु के सत् अस्तित्व को सिद्ध करते हुए वस्तु उत्पाद-व्यय रूप परिणमन करते हुए भी ध्रौव्य अस्तित्व को बिना किसी सहयोग के किस प्रकार अनादि-अनंत स्वरूप धारण किये हुए है। इस तथ्य का प्रगटीकरण किया है और यह भी दिखलाया है कि अन्य दर्शनों में मान्य एकान्त क्षणिकवाद व एकान्त नित्यवाद में किस कारण अर्थक्रिया संभव न होने से वस्तु की सत्ता ही संभव नहीं है तथा जैनदर्शन में वस्तु का लक्षण सत् कहो, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यता कहो, द्रव्य-गुण पर्यायत्व कहो; उन कथनों में कोई भी अन्तर नहीं है क्योंकि प्रत्येक लक्षण में अन्य लक्षण समाविष्ट रहते हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय की जैनदर्शन में मान्य स्वरूप की विवेचना करते हुए द्रव्य-गुण-पर्याय में प्रदेश भेद न होने पर भी द्रव्य व उसमें विद्यमान अनंत गुण और अनंत गुणों की अनंत पर्यायें सभी का अस्तित्व व परिणमन स्वतंत्र है, यह दिखलाने के पूर्व द्रव्य में रहने वाले सामान्य व विशेष गुणों का कथन कर वस्तु की स्वसहाय, निरपेक्ष व अखण्ड सत्ता को उपस्थापित किया है। आगामी पृष्ठों पर हम अलग-अलग अध्यायों में वस्तुस्वातन्त्र्य से अनुप्राणित एवं वस्तुस्वातन्त्र्य के पोषक जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना करेंगे।

संदर्भ-सूची

(1) *सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु।*
अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः॥
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध), गाथा 143.

(2) *(क)* *सद्द्रव्यस्तित्वनिर्देशः।*
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 8 की टीका।
(ख) *अस्तित्वं नाम सत्ता।*
नियमसार, गाथा 34 की तात्पर्यवृति टीका.

(3) *(क)* *अस्तित्वं हि सत्ता नाम सतो भावः सत्त्वम्।*
पंचास्तिकाय, गाथा 8 की समयव्याख्या टीका।

(ख) अत्थि सहावे सत्ता।
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 60.

(4) तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 29.

(5) अस्तित्त्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया-हेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च भावभाववद्भावन्ना-नात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद्द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत्
प्रवचनसार, गाथा 96 की तत्त्वप्रदीपिका टीका

(6) पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 8.

(7) वही, गाथा 9-14.

(8) दवयदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो॥
पंचास्तिकाय, गाथा 9.

(9) जैनेन्द्र व्याकरण 4/1/158.

(10) पंचास्तिकाय, गाथा 10.

(11) तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 30.

(12) न सर्वथा नित्यतया सर्वथा क्षणिकतया वा विद्यमानमात्रं वस्तु। सर्वथा नित्यस्य वस्तुस्तत्त्वतः क्रमभुवां भावानामभावात्कुतो विकारवत्त्वम्। सर्वथा क्षणिकस्य च तत्त्वतः प्रत्यभिज्ञानाभावात् कुत एकसंतानत्वम्।
पंचास्तिकाय, गाथा 8 की समयव्याख्या टीका।

(13) परिणामेण विहीणं, णिच्चं दहवं विणस्सदे णेव।
णो उप्पज्जेदि सया, एवं कज्जं कहं कुणदि॥
पज्जयमित्तं तत्त्वं विणस्सरं खणे खणे वि अण्णण्णं।
अण्णइदव्वविहीणं, ण य कज्जं किं पि साहेदि॥
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 227-228.

(14) न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारमत्त युक्तम्।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति॥
स्वयंभूस्त्रोत, श्लोक 24.

(15) ण हु तं वत्थू भणियं जं रहियं अत्थ किरियाहिं।
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 45.

(16) (क) न्यायकुमुदचंद्र, भाग 1, पृ. 379.
(ख) प्रो. उदयचंद जैन: न्यायकुमुदचंद्र परिशीलन, पृ. 214.

(17) (क) न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-1, पृ. 372-374.
(ख) प्रो. उदयचंद जैन : न्यायकुमुदचंद्र परिशीलन, पृ. 210.
(ग) द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, गाथा 45, पृ. 23.

(18) जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।
वहुधम्मजुदं अत्थं, कज्जकरं दीसदे लोए॥
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 225.

(19) सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5, सूत्र 30, हिन्दी पृ. 230.

(20) अपि चाङ्कुरसृष्टेरिह य एव समयः स बीजनाशस्य।
उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपत्वस्य॥
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 239.

(21) समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एककम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं॥
प्रवचनसार, गाथा 102.

(22) पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदिअण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं॥
प्रवचनसार, गाथा 103.

(23) (क) उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगुमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया।
पंचास्तिकाय, गाथा॥

(ख) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 40.

(ग) आप्तमीमांसा, श्लोक 57.

(24) (क) पंचास्तिकाय, गाथा 10.

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 38.

(25) (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र गाथा 36.

(ख) पंचास्तिकाय, गाथा 10

(26) (क) आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीव गुणा।
तेसिं अचेदणत्थं भणिदं जीवस्स च. णदा॥
पंचास्तिकाय, गाथा 124.

(ख) द्रव्यभेदेन षड्विधानां।
गोम्मटसार (जीवकाण्ड), भाग-2, गाथा 561 की संस्कृतटीका, पृ.801.

(ग) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 35.

(27) (क) वृहद द्रव्यसंग्रह, गाथा 20 की ब्रह्मदेव विरचित संस्कृत टीका, पृ. 68-69.

(ख) पंचास्तिकाय, गाथा 98 की तात्पर्यवृति टीका, पृ. 135.

(28) (क) अण्णोण्णं पविसंता देंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति॥
पंचास्तिकाय, गाथा 7.

(ख) वही, गाथा 7 की समयव्याख्या टीका, पृ. 19.

(29) (क) दव्वाणं सहभूदा... ।
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 11.

(ख) गुणास्त्रिविधा भवन्ति। केचन साधारणाः केचनासाधारणाः, केचन साधारणासाधारणा इति।
परमार्थप्रकाश, अध्याय 1, श्लोक 58 की टीका।

(30) (क) जैनसिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग 1, पृ. 79.

(ख) पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) गाथा 478.

(31) द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानै लिंङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः।
प्रवचनसार, गाथा 130 की तत्त्वप्रदीपिका टीका।

(32) तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 41.

(33) यावदद्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवत्तिनो गुणाः।
न्यायदीपिका, अध्याय 3, संस्कृत पृ. 114, हिन्दी पृ. 464.

(34) (क) गुणपर्यायसमुदायो द्रव्यं।
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 72.

(ख) गुण समुदायोद्रव्यं।
वही, गाथा 73.

(35) (क) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 14-15, पृ. 3.
(ख) ...सामण्णविसेसदो गुणा णेया।
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 11.
(ग) अध्यात्मकमल मार्तण्ड /2/7-8.
द्वारा - क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी: जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग-2, पृ. 240.
(घ) ते द्विविधा: सामान्यविशेषात्मकत्वात्।
प्रवचनसार, गाथा 95 की तत्त्वप्रदीपिका टीका।

(36) सर्वेष्वविशेषेण हि ये द्रव्येषु च गुणा: प्रवर्तन्ते।
ते सामान्यगुणा इह यथा सदादिप्रमाणत: सिद्धम्॥
अध्यात्म कमलमार्तण्ड/2/7.
द्वारा - क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी : जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग - 2, पृ. 240.

(37) अत्थित्तं वत्थुत्तं दव्वत्त पमेयत्र अगुरुलहुगत्तं।
देसत्त-वेदणिदरं मुत्तममुत्तं वियाणेह॥
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 12.

(38) (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 12 का विशेषार्थ, पृ. 7.
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 17, पृ. 4.

(39) (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 12 का विशेषार्थ, पृ. 7.
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 20, पृ. 4.

(40) जैनसिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग 1, प्रश्न 10, पृ. 120.

(41) (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 12 का विशेषार्थ, पृ. 7.
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 23, पृ. 5.

(42) (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 12 का विशेषार्थ, पृ. 7.
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 26, पृ. 6.

(43) (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 12 का विशेषार्थ पृ. 7.
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 32, पृ. 9.

(44) (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 12 का विशेषार्थ पृ. 7.
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 29, पृ. 8.

(45) तस्मिन्नेव विवक्षितवस्तुनि मग्ना: इहेदमिति चिज्जा:।
ज्ञानादयो यथा ते द्रव्यप्रतिनियतो विशेषगुणा:॥
अध्यात्मकमल मार्तण्ड/2/8.
द्वारा - क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी: जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-2, पृ. 240.

(46) (क) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 38, पृ. 10.
(ख) तत्र चेतनालक्षणो जीव:।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 4 की टीका।

(47) (क) जीवस्य ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि चेतनत्वममूर्तत्वमिति षद्।
आलाप पद्धति, पृ. 210.
(ख) तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनम् सुखम्।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेष गुणा: स्फुटम्॥
पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध), गाथा 945.

(48) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 40, पृ. 10.

(49) पुद्गलस्य स्पर्शरसगन्धवर्णा: मूर्तत्वमचेतनत्वमिति षट: ।
आलाप पद्धति, पृ. 210.

(50) (क) द्रव्यसंग्रह, गाथा 17.
(ख) पंचास्तिकाय, गाथा 85.
(ग) गतिपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गत्युपग्रहे कर्त्तव्ये धर्मास्तिकाय: साधारणाश्रयो जलवन्मत्स्यगमने ।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5, सूत्र 17 की टीका ।

(51) धर्मद्रव्येगतिहेतुत्व... ।
आलाप पद्धति, पृ. 210.

(52) (क) द्रव्यसंग्रह, गाथा 18.
(ख) पंचास्तिकाय, गाथा 86.
(ग) स्थिति परिणामिनां जीवपुद्गलानां स्थित्युपग्रहे कर्त्तव्ये अधर्मास्तिकाय साधारणश्रय: पृथिवीधातुरिवाश्वादिस्थितािविति ।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5, सूत्र 17 की टीका ।

(53) अधर्मद्रव्ये स्थितिहेतुत्व... ।
आलाप पद्धति, पृ. 210.

(54) (क) अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेणहं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥
धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये ।
आयासेसो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति ॥
द्रव्यसंग्रह, गाथा 19-20.
(ख) पंचास्तिकाय, गाथा 90-91.
(ग) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), भाग-2, गाथा 587.

(55) आकाशद्रव्ये अवगाहनहेतुत्व... ।
आलाप पद्धति, पृ. 210.

(56) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 71, पृ. 14.

(57) (क) पंचास्तिकाय, गाथा 100-101.
(ख) द्रव्यसंग्रह, गाथा 21.

(58) कालद्रव्ये वर्तनाहेतुत्व... ।
आलाप पद्धति, पृ. 210.

(59) तेषामिह वक्तव्ये हेतु: साधारणैर्गुवर्यस्मात् ।
द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरै: ॥
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 162.

(60) (क) पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 51-52.
(ख) न गुण: कोऽपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भव: क्वचित् ।
नाधारोऽपि नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥
किन्तु सर्वोऽपि स्वात्मीय: स्वात्मीयशक्तियोगत: ।
नानारूपा ह्यनेकेऽपि सत्ता सम्मिलिता मिथ: ॥
पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) गाथा 1012-1013.

(61) क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी: जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 3, पृ. 44.

(62) स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति पर्यायस्य व्युत्पत्ति:।
आलाप पद्धति, पृ. 220.

(63) (क) स च परिणामोऽवस्था तेषामेव (गुणानामेव)।
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 117.
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 42.

(64) (क) दव्व विकारो हि पज्जवो भणिदो। तेषां विकारा विशेषात्मना भिद्यमाना: पर्याया:।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5, सूत्र 38 की टीका।
(ख) अपि चांश: पर्यायो भागो हारोविधा प्रकाश्च।
भेदश्छेदो भंग: शब्दश्चैकार्थवाचका एते॥
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 60.

(65) णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामी।
प्रवचनसार, गाथा 10.

(66) द्विधा पर्याया द्रव्यपर्याया गुणपर्यायश्च .... । स च द्रव्यपर्याया द्विविध: समानजातीयोऽसमानजातीयश्चेति।... अथवा द्वितीय प्रकारेणार्थ- व्यंजनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति।
पंचास्तिकाय, गाथा 16 की तात्पर्यवृति टीका, पृ. 35-36.

(67) (क) तत्रानेकद्रव्यात्मकैकयप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्याय: ।
प्रवचनसार, गाथा 92 की तत्त्वप्रदीपिका टीका।
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 101, पृ. 18.

(68) द्रव्यपर्याय: । स द्विविध:, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च।
प्रवचनसार, गाथा 93 की तत्त्वप्रदीपिका टीका।

(69) (क) पंचास्तिकाय, गाथा 16 की तात्पर्यवृति टीका।
(ख) प्रवचनसार, गाथा 93 की तत्त्वप्रदीपिका टीका।

(70) (क) प्रवचनसार, गाथा 52 की तत्त्वप्रदीपिका टीका
(ख) वही, गाथा 93 की तत्त्वप्रदीपिका टीका।
(ग) पंचास्तिकाय, गाथा 16 की तात्पर्यवृतिटीका।

(71) (क) पंचास्तिकाय, गाथा 16 की तात्पर्यवृत्ति टीका।
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 95, पृ. 17.

(72) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 96, पृ. 17.

(73) (क) पर्यायस्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात्।... विभावद्रव्य-व्यजंनपर्याय: ... विभावगुणव्यंजनपर्याय... स्वभाव-द्रव्यव्यंजनपर्याय... स्वभावगुणव्यंजनपर्याय:।
आलाप पद्धति, श्लोक 3.
द्वारा - क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 3, पृ. 46.
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 97-98, पृ. 17.

(74) (क) नियमसार, गाथा 16 की तात्पर्यवृत्ति टीका, पृ. 339.
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, प्रश्न 93-94, पृ. 17.

(75) वस्त्वस्ति स्वत:सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध), गाथा 89.
अपि नित्या: प्रतिसमयं विनापि यत्नं हि परिणमन्ति गुणा:।
वही, गाथा 117.

(76) धर्मधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावंत: केचनाऽप्यर्थास्ति सर्व एव स्वकीयद्रव्यांत- र्मग्नानंतस्वधर्मचक्रमचुम्बिनोपि परस्परमचुम्वंतोत्यंत- प्रत्यासत्तावपि...। पृ. 11.

(77) जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥
इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चिदात्मन्य-चिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत: ;... । पृ. 186.

(78) यथा प्रचंडपावकप्रतप्तमपि सुवर्ण न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाको-पष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति... । पृ. 306.

(79) अवरोप्परं विमिस्सा तह अण्णोण्णावगासदा णिच्चं ।
संता वि एयरवेत्ते ण परसहावे हि गच्छंति ॥
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 7.

(80) वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य क: किं करोति हि बहिर्लुठन्नापि ॥

अध्याय : दो
निमित्तोपादानवाद एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1. *भूमिका*
2. *कार्य-कारण सिद्धांत का प्रयोजन*
3. *कार्य-कारण के संबंध में प्राचीन मत*
4. *भारतीय दर्शन में कार्य-कारण विचार*
5. *जैनेत्तर कार्य-कारण सिद्धान्तों की जैनदर्शन सम्मत समीक्षा एवं निमित्तोपादानवाद*
6. *कारण का अर्थ*
7. *कारण के भेद*
8. *कार्य का नियामक कारण कौन है ?*
9. *उपादान कारण के भेद*
10. *एक द्रव्य में कार्य-कारण की निर्विरोधता*
11. *निमित्त कारण के भेद*
12. *निमित्त कारण कार्य का नियामक नहीं होता*
13. *परिणमन में विचित्रता-विशेषता निमित्तों के कारण नहीं आती*
14. *प्रेरक निमित्त भी कार्य का नियामक नहीं है*
15. *निमित्त की अपेक्षा उपादान से सम्पन्न कार्य को नैमित्तिक कहा जाता है*
16. *वस्तु के परिणमन को सर्वथा निमित्ताधीन मानना मिथ्या है*
17. *निमित्त में बाह्य हेतुता की स्वीकृति*
18. *क्षणिक उपादान ही कार्य का समर्थ कारण है*
19. *क्या त्रिकाली उपादान कारण महत्वहीन है ?*
20. *उपादान की अपेक्षा कार्य को उपादेय कहा जाता है*
21. *निमित्त-उपादान की समन्वित स्थिति*
22. *कार्य-कारण के संबंध में अनेकान्त*
23. *निमित्तोपादान से वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि*

निमित्तोपादानवाद एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1. भूमिका :-

कारण-कार्य का सिद्धान्त दर्शनशास्त्र का अत्यंत मौलिक, प्राचीन एवं सार्वभौमिक सिद्धान्त है। इसके सम्बन्ध में प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों दर्शनों में पर्याप्त विचार किया गया है। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि संसार की समस्त घटनाओं के पीछे एक नियम काम कर रहा है। इस नियम के अनुसार प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। इसी को कारण-कार्य या कार्य-कारण का सार्वभौम नियम कहा जाता है।

भारतीय-दर्शन में चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी दर्शन कार्य-कारण सिद्धान्त की भिन्न-भिन्न रूपों में व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और इसी सिद्धान्त के आधार पर जगत् की उत्पत्ति, विकास एवं परिवर्तनों की रूपरेखा का प्रकटीकरण करने का प्रयास करते हैं। अत: कार्य-कारण सिद्धान्त को दर्शन रूपी भवन की आधारशिला कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि इसे स्वीकार किये बिना हम अन्य सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सकते। प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा, जो सृष्टि के उद्भव-विकास का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना चाहती है और विश्व की अनेकता एवं विविधता के मूल में एकता की खोज करना चाहती है, का आधारभूत स्तंभ कार्य-कारण सिद्धान्त ही है। केवल दार्शनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं, बल्कि विज्ञान में भी कारणता का महत्व अपरिमेय है, क्योंकि वैज्ञानिक जगत् के तथ्यों एवं घटनाओं की व्याख्या के लिए कार्य-कारण सिद्धान्त पर ही अबलंबित हैं। वह कार्य-कारण नियम की अनदेखी करके एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते, क्योंकि ऐसा करने पर वैज्ञानिक खोजों एवं गवेषणाएँ निरर्थक हो जाएँगी। इस प्रकार आज आधुनिक विज्ञान के युग में जब कोई शोध प्रामाणिकता की कसौटी पर कसे बिना स्वीकार नहीं की जाती, तब यह सिद्धान्त और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। परन्तु दार्शनिक चिन्तन के सन्दर्भ में यह प्रश्न इस रूप में और भी महत्वपूर्ण है कि जिस कार्य-कारण मीमांसा द्वारा विश्व व्यवस्था का प्रतिपादन किया जाता है वह स्वयं प्रामाणिक है या नहीं ? यदि वह अप्रामाणिक है या तर्क-युक्ति की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो उस सिद्धान्त पर आधारित विश्व व्यवस्था असत् सिद्ध हो जाएगी।

2. कार्य-कारण सिद्धांत का प्रयोजन :-

दर्शन का मुख्य प्रयोजन जगत् की व्याख्या करना है। ये व्याख्याएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं, किन्तु उनमें से एक मुख्य प्रकार हमारे आनुभाविक जगत् का मूल कारण खोजना तथा उस मूल तत्त्व के सन्दर्भ में इस व्यक्त जगत् के सम्बन्ध का निर्धारण करना भी रहा है। इसलिए जगत् तथा इसके विभिन्न पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, यह प्रश्न भारतीय दार्शनिकों के लिए महत्वपूर्ण रहा है तथा लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने इस प्रश्न पर गंभीरता से चिंतन किया है। कार्य-कारण की समस्या के प्रति दर्शन-विशेष का दृष्टिकोण एक प्रकार से उस दर्शन के स्वरूप को

समझने की कुंजी कही जा सकती है। स्पष्टत: इस समस्या के समाधान पर ही उनके दर्शन का सामान्य रूप निर्भर करता है। इस जगत् का कोई मूल उपादान कारण है अथवा नहीं, यदि है तो उस मूल तत्त्व का इस व्यक्त जगत् से क्या सम्बन्ध है तथा किस प्रकार उस मूल तत्त्व से इस जगत् की सृष्टि संभव है ? इन समस्याओं का समाधान कारण तथा कार्य के स्वरूप तथा उनके सम्बन्ध का निर्धारण करके ही किया जा सकता है।[1]

अब यहाँ पर विभिन्न दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में कार्य-कारण विचार की समीक्षात्मक विवेचना अपेक्षित है, तभी हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि कौन-सा सिद्धान्त कारणवाद की युक्तिसंगत व्याख्या करता है। लेकिन इसके पूर्व उन मतों का परिचय भी आवश्यक है जो कार्य-कारणवाद को स्वीकृत न कर नियतिवाद, स्वभाववाद, कालवाद एवं यदृच्छावाद के आधार पर कार्योत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं।

3. कार्य-कारण के सम्बन्ध में प्राचीन मत :-

वैदिक ग्रंथों में इन प्राचीन मतों के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है। श्वेताश्वतर[2] तथा मैत्रायणी उपनिषदों में मूल कारण की मीमांसा करते समय नाना मतों का उल्लेख किया गया है जिनके अनुसार काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत आदि जगत् के मूल कारण माने गये हैं।

(अ) कालवाद -

यह सर्वाधिक प्राचीन मत है। काल को सृष्टि का मूल कारण मानना वैदिक मतों में अनन्यतम है। अथर्ववेद में काल की महिमा का विशद विवेचन है।[3] महाभारत के आदिपर्व में इस मत पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। उसमें कहा गया है कि "काल ही समस्त भूतों का सृजन करता है, काल ही प्रजा का संहार करता है, काल ही सोते हुए जगत् में स्वयं जागता रहता है, काल के सामर्थ्य का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।"[4]

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में भी इस मत का उल्लेख मिलता है कि "काल ही सबको उत्पन्न करता है, काल ही सबका विनाश करता है। सोते हुए प्राणियों में काल जागता है ऐसे काल को ठगने को कौन समर्थ हो सकता है अर्थात् कोई नहीं हो सकता।"[5]

इस प्रकार कालवादियों का मानना है कि सभी सामग्री के रहते हुए भी तब तक कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जब तक कि उस कार्य के होने का समय नहीं आ जाता।

उपर्युक्त मतानुसार विश्व की व्यवस्था संभव नहीं हो सकती, क्योंकि एक अखण्ड नित्य व निरंश काल परस्पर विरोधी अनंत परिणमनों का कारण कैसे हो सकता है ? काल रूपी समर्थ कारण के रहतें हुए भी अमुक कार्य कदाचित् हो, कदाचित् नहीं हो, यह नियत व्यवस्था कैसे संभव हो सकती है ? फिर काल अचेतन है उसमें नियामकता संभव नहीं हो सकती, इत्यादि शंकायें कालवादी अवधारणा पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करती है और यह स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है कि प्रतिनियत कार्यों की उत्पत्ति

अपने प्रतिनियत कारणों से होती है, कालादि से नहीं।[6] कालादि तो निमित्तमात्र है।

(ब) स्वभाववाद -

स्वभाववादियों का मानना है कि सारी सृष्टि और उसके कार्यों का कारण 'स्वभाव' है। संसार के सभी प्राणियों का शुभ-अशुभ, सुख-दु:ख आदि स्वभाव से है। सभी कार्य स्वभाव से होते हैं अत: प्रयत्न निष्फल है। सभी पदार्थ अपने-अपने परिणमन स्वभाव से निष्पन्न होते हैं। जैसे - मिट्टी से घड़ा ही बनता है, कपड़ा नहीं। सूत से कपड़ा ही बनता है, घड़ा नहीं। यह प्रतिनियत कार्य-कारण स्वभाव के बिना नहीं हो सकता इसलिए सारा जगत् स्वभाव से ही उत्पन्न है। **उक्तं च** :- "यह सारा संसार स्वभाव से ही अपनी सारी प्रवृति कर रहा है इसमें किसी की इच्छा या प्रयत्न का कोई हस्तक्षेप नहीं है। बताओ काँटों में तीक्ष्णता और नुकीलापन किसने पैदा किया ? हिरण और पक्षियों के विचित्र स्वभाव किसने किये ?"[7]

परन्तु स्वभाववादियों का मत अहेतुवादी होने से सर्वथा बाधित है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का अपने सम्भव कार्यों को करने का स्वभाव होने पर भी उसका विकास बिना सामग्री के नहीं होता। मिट्टी के पिण्ड में घट उत्पन्न करने का स्वभाव विद्यमान होने पर भी उसकी उत्पत्ति दण्ड, चक्र, कुम्हार आदि पूर्ण सामग्री के विद्यमान होने पर ही होती है। अत: 'न कामाचारोऽस्ति कुत: प्रत्यन:' निराशावाद से स्वभाववाद का अवलम्बन लेना उचित नहीं है, क्योंकि स्वभावनियतता होने पर भी कार्यकारण भाव की ओर से आँख नहीं मूंदी जा सकती।

(स) नियतिवाद या दैववाद -

इस मत के प्रतिपादक मक्खलि गोसाल माने जाते हैं। इस की मूलभूत धारणा यह है कि संसार में नियति ही परम तत्त्व है जिसके कारण जगत् के सारे क्रियाकलाप संचालित होते हैं। जगत् की कोई घटना, कोई वस्तु पुरुष प्रयत्न के द्वारा सिद्ध नहीं होती, बल्कि वह नियति के वश होकर ही कार्य करती है। सत्त्वों के क्लेश का कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है, बिना हेतु व प्रत्यय के प्राणी क्लेश पाते हैं। जिसका जैसा होना नियत है, वह वैसा ही बनता है, उसमें पुरुष-पराक्रम कुछ भी नहीं कर सकता, क्योंकि - 'नत्थि कम्मं, नत्थि किरियं, नत्थि विरियं' अर्थात् कर्म, क्रिया, वीर्य, बल, नाम की कोई वस्तु नहीं है।[8] जैसे - मृतिका भाण्ड नियति बल से बनते हैं, कुम्हार, दण्ड, चक्र की करामात से नहीं। 'सूत्रकृतांग सूत्र' में भी नियतिवाद का वर्णन मिलता है "नियति (होनहार) के बल से शुभ-अशुभ जो कुछ भी मिलने वाला है वह मनुष्य को अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु जो नहीं होना है, वह महान प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होता और जो होने वाला है, उसका नाश नहीं होता है।"[9]

वास्तव में नियतिवाद कार्य-कारण व्यवस्था को सर्वथा अस्वीकृत करता है। इसके द्वारा कर्म, स्वतन्त्रता एवं मूल्य इत्यादि की मानवोचित व्याख्या नहीं की जा सकती है। इस पर विस्तार से चर्चा क्रमबद्ध पर्याय नामक अध्याय में द्रष्टव्य है।

(द) यदृच्छावाद -

इस मान्यता के अनुसार कारण और कार्य में कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। दोनों

का सम्बन्ध आकस्मिक या संयोगिक है। कभी किसी कारण के रहते कोई कार्य होता है और कभी वह अन्य कारण के रहने पर होता है, कभी वह किसी कारण के बिना ही हो जाता है और कभी वह समस्त कारणों के रहने पर भी नहीं होता है। अत: कारण और कार्य में एकमात्र सम्बन्ध यादृच्छिक है। न्यायसूत्र के अनुसार - यदृच्छावाद का मन्तव्य है कि अनिमित्त अर्थात् किसी निमित्त विशेष के बिना ही काँटों की तीक्ष्णता के समान भावों की उत्पत्ति हो जाती है।[10]

इस प्रकार यदृच्छावाद स्पष्ट रूप से पर कारणता का निषेध करता है, क्योंकि इस वाद के अनुसार सारे परिवर्तन काकतालीय न्याय से होते हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है। कोई वस्तु अकारण नहीं होती। यदि सभी वस्तुएं अकारण होती तो संसार में अव्यवस्था होती, अनियम रहता, हर वस्तु हर जगह हर व्यक्ति को सुलभ होती, किन्तु ऐसा नहीं है। फिर कारण और कार्य का साहचर्य अनुभवगम्य है। हम अपने अनुभव में पाते है कि पानी तभी बरसता है जब आसमान में बादल रहते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि पानी बरसे और आसमान में बादल बाद में हो। अत: कारण और कार्य एक व्यवस्था में बंधे हैं। उनके बीच नियमबद्धता का सम्बन्ध है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी वाद या सिद्धान्त किसी न किसी रूप में कारण-कार्यवाद की पूर्णरूप से समीक्षा न करते हुए यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करते हैं कि वस्तु कालानुसार, दैवयोग से, अपने स्वभाव से ही तथा बिना क्रिया के अकस्मात् उत्पन्न होती है, परन्तु ये सभी वाद अहेतुक, अतार्किक एवं अवैज्ञानिक हैं, क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रत्येक घटना या परिवर्तन का कारण ढूँढ़ने का प्रयास करता है एवं कारण का ज्ञान होने पर ही संतुष्ट होता है।

4. भारतीय दर्शन में कार्य-कारण विचार :-

अब उन सिद्धान्तों पर भी विचार करना प्रासंगिक है जो किसी वस्तु की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश की व्याख्या के लिए कार्य-कारण भाव को अपरिहार्य रूप से स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन में कार्य-कारण सम्बन्ध और कार्योत्पत्ति के विषय में प्रचलित प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं :-

(1) सत्कार्यवाद -

सांख्यदर्शन का कार्य-कारण सिद्धान्त सत्कार्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' में सत्कार्यवाद के पक्ष में पांच युक्तियाँ दी हैं।[11] उनका मत है कि प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में अव्यक्त रूप से, सत्रूप में विद्यमान रहता है। उत्पत्ति व विनाश का अर्थ केवल अविर्भाव व तिरोभाव है। जैसे- घट, मिट्टी में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। कुम्भकार द्वारा केवल घट का अविर्भाव किया जाता है, उत्पत्ति नहीं। इसी प्रकार दण्डादि के प्रहार द्वारा घट का केवल तिरोभाव होता है, विनाश नहीं। तात्पर्य यह है कि कारण, कार्य को उत्पन्न नहीं करता, केवल उसको प्रकट करता है। सत्कार्यवाद, उनके प्रधानकारणवाद का आधारभूत सिद्धान्त है, क्योंकि उनकी मान्यतानुसार यह सम्पूर्ण जगत् अपने अस्तित्व में आने के पूर्व अपने कारण प्रकृति (प्रधान) में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, सृष्टि में वह कार्यरूप में व्यक्त हो जाता है तथा प्रलय में पुन: प्रकृति में विलीन हो जाता है।

आक्षेप -

सांख्यवादियों द्वारा प्रस्तुत सत्कार्यवादी सिद्धान्त कार्य-कारण मीमांसा के सन्दर्भ में एकांगी मत प्रस्तुत करता है जिससे विश्व के विकास एवं परिवर्तनों का सम्यक् व निष्पक्ष निर्णय संभव नहीं हो पाता। अत: इस मत के विरुद्ध की गई निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं -

(i) कारण में कार्य की सत् विद्यमानता मानने पर उपादान एवं निमित्त कारणों की उपस्थिति का कोई प्रयोजन नहीं रह जाएगा, क्योंकि यदि घट पहिले से ही विद्यमान है तो मिट्टी, पानी, कुम्भकार व उसके चाक, दण्ड आदि व्यर्थ सिद्ध होंगे। उनकी कार्योत्पत्ति में कोई उपयोगिता नहीं रह जाएगी, परन्तु हम प्रत्यक्षत: अनुभव करते हैं कि इन कारणों के अभाव में मिट्टी से घट उत्पन्न नहीं होता।

(ii) यदि सांख्य अपने पक्ष में यह कहें कि कारण के भीतर कार्य पहले से विद्यमान है तो रहता है, किन्तु वह अविर्भाव रूप से व्यक्त न होकर, तिरोभाव रूप से अव्यक्त रहता है। इस पर आक्षेप यह है कि अविर्भाव एवं तिरोभाव की कल्पना इन्द्रजालियों के इन्द्रजाल के समान सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि मृत्पिण्ड रूप कारण ही कुम्भकार आदि के सहयोग से घट के आकार रूप परिणमित हो जाता है। ऐसा नहीं है कि मृत्पिण्ड रूप कारण में घट रूप कार्य कहीं छिपा बैठा है। किन्तु कुम्भकार के प्रयत्न व चाक, दण्डादि के सहयोग से वही मृत्पिण्ड अपने पूर्व पर्याय को छोड़कर घट रूप पर्याय से परिणत होता है और मिट्टी रूप द्रव्य दोनों अवस्थाओं में ज्यों का त्यों बना रहता है।[12]

(iii) सांख्यों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि कारण, कार्य की उत्पत्ति न करके उसकी अभिव्यक्ति करता है, क्योंकि यहाँ भी यह प्रश्न होता है कि अभिव्यक्ति सत् है या असत्? यदि अभिव्यक्ति सत् है तो वह कैसे की जा सकती है वह तो पहले से ही है। अभिव्यक्ति को असत् मानने पर भी दोष आता है कि आकाशकुसुम की तरह असत् की अभिव्यक्ति की ही नहीं जा सकती। इस प्रकार अभिव्यक्ति का पक्ष दूषित हो जाता है।[13]

(iv) सांख्याभिमत सत्कार्यवाद में प्रश्न किया जा सकता है कि कार्य सर्वथा सत् है या कथंचित सत् है? प्रथम विकल्प ठीक नहीं है। यदि क्षीर में दधि सर्वथा सत् है तो फिर दधि के उत्पादक कारणों द्वारा क्षीर से किस वस्तु की उत्पत्ति की जाती है। अत: जो सर्वथा सत् है वह किसी से जन्य नहीं होता है, जैसे - प्रकृति। अब यदि कार्य को कथंचित् सत् माना जाए तो जैनमत का प्रसंग प्राप्त होता है।

(v) सत्कार्यवाद को मानने से कारण व कार्य में भेद सिद्ध नहीं हो सकता एवं उनके लिए प्रयुक्त भिन्न-भिन्न नामों का प्रयोग भी अनुचित ठहरता है। यदि कहा जाए कि कार्य एवं कारण में आकारगत भेद है तब तो यही मानना पड़ेगा कि सहकारी कारणों की सहायता से कारण में ऐसी विशेषता उत्पन्न हो गयी। जो मूल कारण में विद्यमान नहीं थी।

(2) असत्कार्यवाद -

सांख्यवादियों के पूर्णत: विपरीत न्याय-वैशेषिक कार्य-कारण के संदर्भ में

अपना असत्कार्यवादी या आरंभवादी मत प्रस्तुत करते हैं। इस मत के अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में असत् या अविद्यमान रहता है। जैसे - घट उत्पत्ति के पूर्व मिट्टी में असत् था अर्थात् उसका प्रागभाव (अभाव) था। यह प्रागभाव घट के उत्पन्न होने से दूर हो जाता है। इसलिए यह कार्य को नवीन आरंभ मानता है जो पहले कारण में नहीं था। इस कारण इस सिद्धान्त को 'आरंभवाद' भी कहा जाता है। यह कार्य की उत्पत्ति समवायी, असमवायी और निमित्त इन तीनों कारणों के द्वारा स्वीकार करता है। जिस कारण में समवेत होकर कार्य उत्पन्न होता है, वह समवायी कारण है।[14] जैसे - तन्तु पट का समवायी कारण है। जिस कारण में कार्य समवेत नहीं रहता, वह असमवायी कारण है। तन्तु-संयोग पट का असमवायी कारण है[15] और जो इन दोनों कारणों से अतिरिक्त है, वह निमित्त कारण है।[16] जुलाहा, तुरी, वेम, शलाका आदि पट का निमित्त कारण है। साथ ही, कारण को कार्य से सर्वथा भिन्न मानने पर भी वह दोनों के मध्य समवाय सम्बन्ध को मानता है एवं निमित्त कारणों पर अत्यधिक जोर देता है।

आक्षेप -

यद्यपि असत्कार्यवाद कार्य-कारण में भेद को स्वीकार करते हुए उत्पन्न कार्य की नवीनता को व्याख्यायित करता है फिर भी उसके प्रति भी अनेक दोषों की उद्भावना की जा सकती है -

(i) सांख्यदर्शन की आपत्ति है कि यदि कार्य की कारण में किसी भी प्रकार से पूर्व विद्यमानता न मानें तब कार्य विशेष के लिए कारण विशेष के चुनाव की क्या आवश्यकता है ? कारण में कार्य की अनुपस्थिति का अर्थ है - शून्य में से किसी वस्तु उत्पन्न करना तथा अभाव तो सर्वथा विद्यमान है ही, फिर उसके लिए उपादान कारण लेने की आवश्यकता क्यों होनी चाहिए।[17]

(ii) यदि कारण में कार्य सत् न हो तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न किया जा सकता है। जैसे तिल में तेल असत् है वैसे रेती में भी। फिर तेल के लिए तिल न लेकर रेती क्यों नहीं ली जाती ? अत: कारण में कार्य की पूर्वसत्ता स्वीकार करना आवश्यक है।

(iii) कार्य-कारण में समवाय सम्बन्ध संभव नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध दो सत् वस्तुओं में ही हो सकता है परन्तु न्याय-वैशेषिक कारण को सत् एवं कार्य को असत् मानते हैं। इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। जब दोनों में सम्बन्ध नहीं बन सकेगा तो फिर कार्य का उत्पन्न होना असंभव होगा।

(iv) सांख्य व अद्वैत वेदान्त की आपत्ति है कि प्रमुख कारण दो हैं - उपादान कारण और निमित्त कारण। असमवायिकारण को पृथक् रूप से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि निमित्तकारण में ही अन्य कारणों का समावेश हो जाता है। अत: समवायी व असमवायिकारण में भेद मानना अनुचित है।

(v) कार्य को सर्वथा असत् मानने पर 'यही इसका कारण है' यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि इसका कोई नियामक नहीं है और यदि कोई नियामक हो तो वह कारण में कार्य के अस्तित्व को छोड़कर कौन हो सकता है ?[18]

(vi) कारण व कार्य सर्वथा भिन्न नहीं होते। कारण, कार्य का ही पूर्वरूप है और कार्य, कारण का उत्तररूप। असत्कार्यवाद के अनुसार, कार्य-कारण एक ही सत्य के दो पहलू न होकर दोनों स्वतंत्र बन जाते हैं इसलिए यह युक्तिसंगत नहीं है।[19]

(3) प्रतीत्यसमुत्पादवाद -

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का विशिष्ट सिद्धान्त है जिसके द्वारा वे विश्व-वैचित्र्य का वर्णन एवं नियमन करते हैं। उनका मानना है कि यह विश्व-वैचित्र्य प्रधान, ईश्वर आदि की अपेक्षा के बिना ही प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा उत्पन्न होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है - 'सापेक्ष कारणतावाद'। किसी वस्तु की अपेक्षा रखकर अन्य वस्तु की उत्पत्ति। बुद्ध ने कहा है - 'अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादामुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थ: प्रतीत्यसमुत्पादार्थ:'[20] अर्थात् इसके होने पर यह होता है। जगत् की समस्त वस्तुओं या घटनाओं में सर्वत्र यह कार्य कारण का नियम क्रियाशील है। कुछ भी अकारण नहीं है, प्रत्येक कार्य हेतु व प्रत्यय सापेक्ष होते हैं। जैसे - घट की उत्पत्ति मिट्टी, कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि के सापेक्ष होती है। 'इस सिद्धान्त के द्वारा बौद्धदर्शन में संसार चक्र के द्वादश कारणों की व्याख्या (चर्चा) की गयी है। चूँकि बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है।'[21] वस्तु या सत् क्षणों का निरन्तर प्रवाह है उसमें कारण रूप पूर्वक्षण व कार्यरूप उत्तरक्षण में कोई समान तत्त्व नहीं होता, वे पूर्णरूपेण भिन्न-भिन्न होते हैं, उनमें पूर्ववर्तिता एवं उत्तरवर्तिता के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। उनके अनुसार, ज्यों ही कोई वस्तु, जिसे वे क्षण कहते हैं, उत्पन्न होती है, नष्ट हो जाती है तथा उसके स्थान पर अन्य क्षण की उत्पत्ति हो जाती है, इससे प्रथम क्षण को द्वितीय क्षण का मात्र पूर्वभावी होने से "कारण" कहा जा सकता है और द्वितीय क्षण को पश्चाद्भावी होने से कारण "कार्य" कहा जा सकता है, किन्तु यह पूर्वक्षण किसी भी प्रकार से उत्तरक्षण को उत्पन्न नहीं करता। परन्तु पूर्व व उत्तर क्षणों में अन्योन्य भाव पाया जाता है अर्थात् इस पूर्वक्षण के पश्चात् यही निश्चित उत्तर क्षण होगा, अन्य नहीं। प्रथम व द्वितीय क्षण में पौर्वापर्य के अतिरिक्त कोई वास्तविक सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया है।[22]

आक्षेप -

बौद्धदर्शन की कार्य-कारण मीमांसा क्षणिकवाद पर आधारित है। क्षणिकवादी विचारधारा आत्म विरोधी होने के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि से भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि विज्ञान भी यह मानता है कि वस्तु या पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता, केवल उसका आकार मात्र रूपान्तरित या परिवर्तित होता है। बौद्धदर्शन कारण के निरन्वय नाश होने पर कार्य की उत्पत्ति को स्वीकार करता है जो कि असंगत है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप किये जा सकते हैं -

1. शंकराचार्य का आक्षेप -

(i) शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र की टीका करते हुए बौद्धों के असत्कारणवाद की आलोचना करते हैं कि कार्य के क्षण में कारण क्षण बीत जाता है अत: दोनों में कारण-कार्य सम्बन्ध कैसे बनेगा ? हमें यह मानना पड़ेगा कि कार्य, कारण के अभाव में होता है अर्थात् बिना कारण के होता है या सत् कार्य, असत् कारण से होता है जो कि असंभव है।

(ii) यदि यह कहा जाए कि कार्य-कारण का नया रूप है तो फिर क्षणिकवाद में विरोध आता है, क्योंकि कारण, कार्य के क्षण में यानि दूसरे क्षण में था। यदि अपने पक्ष के बचाव में बौद्ध यह कहें कि कार्य बिना कारण के होता है तो वे अपने सिद्धान्त के विरुद्ध हो जाते हैं कि प्रत्येक कार्य का कारण होता है।

(iii) यदि यह मान लिया जाए कि कारण और कार्य दोनों एक साथ हैं तो यह हम कैसे जान सकते हैं कि अमुक कारण है एवं अमुक कार्य है।

2. न्याय-वैशेषिकों का आक्षेप -

बौद्धों के कारणवाद का खण्डन करते हुए न्याय-वैशेषिक कहते हैं कि बीज कारण के नष्ट होने पर पौधा रूप कार्य प्रकट होता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि कार्य, कारण की असद्वस्था का नाम है, परन्तु बीज का अभाव मिट्टी के लौदें के अभाव समान ही है, क्योंकि एक के अभाव से दूसरे के अभाव में भिन्नता नहीं है अतएव इससे यह मानना होगा कि बीज के अभाव में हमें घट प्राप्त होना चाहिए अर्थात् किसी भी कारण के अभाव में कार्य उत्पन्न होना चाहिए, जो कि सही नहीं है।

3. मीमांसकों का आक्षेप -

अभाव में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति या गुण कैसे रहेगा। शक्ति के लिए आश्रय की आवश्यकता होती है जो कि अभाव में नहीं पायी जाती। इस तरह बौद्ध जो कि असत् या शून्य कारण से सत् परिणाम निकालते हैं; वह गलत है।

4. सांख्यवादियों का आक्षेप -

सांख्य भी अलोचना करते हैं कि बौद्धमतानुसार प्रस्तुत कारण-कार्यता के ज्ञान से अवगत होना संभव नहीं है, क्योंकि जब कारण है तब कार्य नहीं है और जब कार्य है तब कारण नहीं है। कारण, कार्य का नियत पूर्ववर्ती है यह भी नहीं जाना जा सकता। अत: बौद्धों की कार्य-कारण मीमांसा अनवबोध्य है।

5. जैनाचार्यों का आक्षेप -

सर्वथा अनित्यपक्ष के पोषक बौद्ध लोग किसी भी अन्वयी कारण से निरपेक्ष मात्र सन्तान तत्त्व को स्वीकार करके जिस प्रकार सर्वथा पृथक्-पृथक् कार्यों में कारण-कार्यभाव घटित करने का प्रयास करते हैं, वह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।[23]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य, न्याय-वैशेषिक एवं बौद्ध कार्य-कारण के सम्बन्ध में केवल एकांगी मतों को प्रस्तुत करते हैं जिनसे शंकाओं का समाधान तो नहीं हो पाता, परन्तु शंकाओं का जाल अवश्य बुन जाता है। इन दर्शनों के विपरीत, जैनदर्शन अनेकान्तवादी पृष्ठभूमि पर आधारित होने से एकपक्षीय मतों का निराकरण करते हुए अपनी सम्यक् कार्य-कारण मीमांसा प्रस्तुत करता है।

5. जैनेत्तर कार्य-कारण सिद्धान्तों की जैनदर्शन सम्मत्त समीक्षा एवं निमित्तोपादानवाद :-

जैनदर्शन में कार्य-कारण विचार 'निमित्तोपादान' के नाम से प्रचलित है। जैनदर्शन के अनुसार, द्रव्य का न तो सामान्य अंश उपादान-कारण होता है और न विशेष अंश, अपितु सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य ही उपादानकारण होता है। आचार्य

विद्यानंद ने इसी भाव को ध्यान में रखकर उपादानकारण को इस प्रकार परिभाषित किया है :- ''जो द्रव्य (पर्याय विशिष्ट) तीनों कालों में अपने रूप को छोड़ता हुआ भी नहीं छोड़ता है और पूर्व रूप से अपूर्व रूप में वर्तन करता है, वह उपादानकारण है।''(24)

द्रव्य के केवल सामान्य और केवल विशेष अंश को उपादान कारण मानने पर जो आपत्तियाँ आती हैं उनका निर्देश भी आचार्य विद्यानंद ने 'अष्टसहस्त्री' में किया है कि ''जो अपने स्वरूप को छोड़ता ही है ऐसी केवल क्षणिक पर्याय और जो अपने स्वरूप को सर्वथा नहीं छोड़ता है ऐसा केवल शाश्वत सामान्य पदार्थ किसी कार्य का उपादान नहीं हो सकता है।''(25)

यद्यपि सर्वथा क्षणिक और सर्वथा शाश्वत कोई पदार्थ नहीं है, परन्तु जो लोग पदार्थ को सर्वथा क्षणिक मानते हैं उनके यहाँ सर्वथा क्षणिक पदार्थ कार्य का उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि वह पदार्थ उसी क्षण विनष्ट हो जाता है तब उसमें कारणपना कैसे संभव है ? जो लोग पदार्थ को सर्वथा शाश्वत मानते हैं उनके यहाँ सर्वथा शाश्वत पदार्थ कार्य का उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें परिणमन का अभाव होने से कार्य ही उत्पन्न नहीं हो सकता ? अत: द्रव्य का केवल सामान्य अंश (नित्यस्वभाव) व केवल विशेष अंश (क्षणिक स्वभाव) उपादान नहीं होता, बल्कि दोनों अंशों से समवेत द्रव्य ही कार्य का उपादान कारण है।

आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्त मीमांसा' में सांख्यदर्शन के नित्यत्वैकान्त एवं बौद्धों के क्षणिकत्वैकान्त इन दोनों पक्षों में दूषण बतलाते हुए उनका निराकरण किया है और अपने पक्ष का पोषण किया है। सर्वप्रथम उन्होंने 37 से 40 कारिका तक सांख्यदर्शन के मन्तव्य का खण्डन किया है -

''नित्य एकान्त पक्ष में विक्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती। जब पहले से ही कारक का अभाव है, तब प्रमाण और प्रमाण का फल ये दोनों कहाँ बन सकते हैं।''(26) ''यदि कार्य सर्वथा सत् है, तो पुरुष के समान उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और उत्पत्ति न मानकर कार्य में परिणाम की कल्पना करना नित्यत्वैकान्त का बाधक है।''(27)

'वस्तु को सर्वथा नित्य मानने पर उसमें कोई भी क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती। सर्वथा नित्य पदार्थ न तो कार्य की उत्पत्ति के पहले कारक है और न ही कार्योत्पत्ति के समय कारक है। ऐसी स्थिति में कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? जब पदार्थ अकारक है और विक्रिया रहित है तो प्रमाण व प्रमाण का फल भी नहीं बन सकता। प्रधान को सर्वथा नित्य मानने पर उसके द्वारा महत् आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी तथा अव्यक्त को नित्य मानने से उससे अभिन्न व्यक्त भी नित्य होगा। यदि व्यक्त को भी सर्वथा नित्य माना जाय तो उसमें प्रमाण, कारक आदि का व्यापार न हो सकने से उसका ज्ञान भी नहीं हो सकेगा। इस प्रकार सांख्य का सर्वथा नित्यत्वैकान्त युक्ति तथा प्रमाण विरुद्ध है।'(28)

सांख्य का यह कहना भी ठीक नहीं है कि पदार्थ की उत्पत्ति व नाश नहीं होता है, केवल अविर्भाव व तिरोभाव होता है, क्योंकि एक आकार के तिरोभाव और दूसरे आकार के अविर्भाव का अर्थ नाश और उत्पत्ति ही है, दोनों कथनों का अर्थ तो एक ही

है केवल नाम में ही भेद है। उत्पत्ति और नाश की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी होती है। प्रत्यक्ष से यह अनुभव होता है कि पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होते हैं।

आगे नैयायिकों के असत्कार्यवाद एवं बौद्धों के क्षणिकैकान्त भी कार्य-कारण की सिद्धि में असंगत होने के कारण आचार्य ने उनमें दूषण बतलाया है कि -

''यदि कार्य सर्वथा असत् है तो आकाश पुष्प की तरह उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथा कार्य की उत्पत्ति में उपादान कारण का नियम व विश्वास भी नहीं हो सकता।''(29)

कार्य कथंचित् सत् और कथंचित् असत् ही हो सकता है। द्रव्य की अपेक्षा से कार्य सत् है और पर्याय की अपेक्षा से कार्य असत् है। यदि द्रव्य की अपेक्षा से भी कार्य असत् हो, तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। आकाश पुष्प के सर्वथा असत् होने से त्रिकाल में भी उसकी उत्पत्ति संभव नहीं है। ''क्षणिक पक्ष में अन्वय के अभाव में कार्य-कारण आदि नहीं बन सकते हैं, क्योंकि कारण से कार्य संतानान्तर के समान सर्वथा पृथक् है, संतानियों से पृथक् कोई सन्तान भी नहीं है।''(30)

कार्यकारण भाव अन्वय-व्यतिरेक के सद्भाव में ही सिद्ध होता है। इसी कारण न्याय शास्त्र में कार्यकारणभाव को 'अन्वय-व्यतिरेकगम्य' कहा गया है। सर्वथा क्षणिकवाद में कार्य-कारण में अन्वय-व्यतिरेक बन ही नहीं सकता, क्योंकि वहाँ कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति मानी गयी है और कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं मानी गयी है। इस कारण क्षणिकवाद में अन्वय-व्यतिरेक के अभाव में कार्य-कारण सम्बन्ध किसी प्रकार संभव नहीं है।'(31)

इसी विषय को और अधिक सुस्पष्ट करते हुए 'कार्तिकियानुप्रेक्षाकार' ने कहा है - ''जो वस्तु अनेकान्तस्वरूप है वही नियम से कार्यकारी है, क्योंकि बहुधर्मो से युक्त अर्थ ही लोक में कार्यकारी देखा जाता है। एकान्त रूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य करने में समर्थ नहीं होता और जब वह कार्य नहीं कर सकता तो उसे द्रव्य कैसे कहा जा सकता है।''(32)

अवधेय है कि द्रव्य सत् स्वभावी है और सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। जिनागम में ध्रौव्य को द्रव्यशक्ति एवं उत्पाद-व्यय को पर्यायशक्ति के रूप में अभिहित किया गया है।(33) द्रव्यशक्ति के अनुसार, कार्य का नियामक कारण त्रिकाली उपादान है। अत: इस अपेक्षा से सत्कार्यवाद का सिद्धान्त सही ठहरता है, परन्तु केवल द्रव्यशक्ति के अनुसार कार्योत्पत्ति मानने पर कार्य के नित्यत्व का प्रसंग उपस्थित होता है, इस कारण पर्यायशक्ति को स्वीकार कर इस बात का निर्धारण करना आवश्यक हो जाता है कि विवक्षित कार्य विवक्षित समय में ही सम्पन्न होगा। इस अपेक्षा से असत्कार्यवाद सही ठहरता है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा से कार्य कारण में सत् है और पर्याय की अपेक्षा कार्य, कारण में असत् है, इसे सत्-असत्कार्यवाद या परिणामी नित्यत्ववाद भी कहा जाता है। द्रव्यदृष्टि से सत्कार्यवादी है और पर्याय दृष्टि से असत्कार्यवादी है। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से सत् का नाश और असत् का उत्पाद नहीं है।(34) और पर्याय दृष्टि की अपेक्षा सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है।(35)

वस्तुस्वातंत्र्यात्मक इस कारण-कार्य-व्यवस्था के सम्यक्स्वरूप का अवबोधन करने के लिए प्रथमत: कारण और कार्य के स्वरूप से अवगत होना आवश्यक है। विश्व की प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणमनशील है। वस्तु के परिणमन स्वभाव को ही कार्य कहते हैं।[36] दूसरे शब्दों में, कार्य का लक्षण बताते हुए आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है "जो कारण से उपलब्ध हो उसे कार्य कहा जाता है।"[37] जिनागम में कार्य को पर्याय, अवस्था, हालत, दशा, कर्म, व्याप्य, परिणाम, परिणति, नैमित्तिक एवं उपादेय आदि शब्दों से अभिहित किया गया है।[38]

यह तथ्य सर्वमान्य है कि 'सर्वत्र कारणानुसार ही कार्य निष्पन्न होता है।'[39] समयसार की 130-131 गाथा एवं 68 गाथा की आत्मख्याति टीका 'कारणानुविधायित्वादेवकार्याणि' और 'कारणानुविधायीनि कार्याणि, यवपूर्वका यवा-यवा एवेति' के अनुसार कारण जैसा ही कार्य होता है जैसे - जवा पूर्वक जवा ही होता है एवं स्वर्ण से स्वर्णाभूषण ही बनते हैं।

6. कारण का अर्थ :-

कार्य के प्रति नियामक हेतु को कारण कहते हैं।[40] जिसके बिना जो नहीं होता है वह उसका कारण है।[41] कारण को इस प्रकार से भी परिभाषित किया जाता है - कार्य के पूर्व जिसका सद्भाव नियत हो और जो किसी विशिष्ट कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य को उत्पन्न न करे, वही कार्य की उत्पादक सामग्री है जिसे कारण कहा जाता है। कारण के स्थान पर कहीं-कहीं निमित्त, हेतु, अथवा साधन आदि शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है।[42] जिस निमित्त से वस्तु उत्पन्न होती है, वह साधन है।[43]

'न्यायशास्त्र' में कार्य-कारणभाव को अन्वय-व्यतिरेकगम्य कहा गया है। "जो जिसके होने पर होता है और नहीं होने पर नहीं होता है या जिसके बिना जो नियम से नहीं होता है वह उसका कारण व दूसरा कार्य कहलाता है।"[44]

कारण व कार्य में धूम-अग्निवत् नियम से अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति होती है।[45] जिस प्रकार जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है, परन्तु सर्वत्र सभी अग्नियाँ धूम की जननी नहीं होती, अपितु विशिष्ट लक्षण युक्त अग्नि ही धूम की उत्पादिका होती है। उसी प्रकार सर्वत्र कारण सदृश ही कार्य होता है, परन्तु सर्वकारण कार्य के उत्पादक नहीं होते।

7. कारण के भेद :-

जैनदर्शन में कार्य की उत्पादक सामग्री के रूप में दो कारणों की चर्चा की गयी है :[46]

(अ) उपादान कारण या अन्तरंग कारण।

(ब) निमित्त-कारण या बहिरंग कारण।

(अ) उपादान कारण या अन्तरंग कारण -

उपादान दो शब्दों से मिलकर बना है - उप + आदान। 'उप' का अर्थ है समीप और 'आदान' का अर्थ है ग्रहण होना। जिस पदार्थ के समीप से कार्य का ग्रहण हो, वह उपादान है। यही उपादान का व्युत्पत्तिगम्य अर्थ है। उपादान का कारण वह है जो स्वयं

कार्य रूप में परिणमित हो अथवा जिसमें कार्य निष्पन्न हो।[47] इसे 'निजशक्ति' भी कहा जाता है।[48]

उपादान कारण के पर्यायवाची नाम :- जिनागम में उपादान कारण को समर्थकारण[49] मूल हेतु[50], अन्तरंग साधन, [51] मुख्यहेतु,[52] कर्ता[53] इत्यादि नामों से भी अभिहित किया गया है।

(ब) निमित्तकारण या बहिरंग कारण -

जो पदार्थ स्वयं कार्य रूप में परिणमित न हो, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने से जिस पर कारणपने का आरोप आता है उसे निमित्त कारण कहते हैं।[54] इसे 'परयोग'[55] भी कहा जाता है।

'श्लोकवार्तिक' में निमित्तकारण को इस प्रकार परिभाषित किया गया है - ''कार्यकाल में एक क्षण पहले से रहते हुए कार्योत्पत्ति में सहायता करने वाले अर्थ को निमित्तकारण कहते हैं।''[56]

निमित्तकारण के पर्यायवाची नाम :- जिनागम में प्रत्यय, कारण व निमित्त को एकार्थवाची माना गया है।[57] इसके अतिरिक्त हेतु,[58] साधन,[59] सहकारी,[60] उपकारी,[61] उपग्राहक,[62] आश्रय,[63] अवलंबन,[64] अनुग्राहक,[65] उत्पादक,[66] हेतुकर्ता,[67] प्रेरक,[68] हेतुमत,[69] अभिव्यंजक, [70] बहिरंग-साधन,[71] आश्रयकारण,[72] उदासीन हेतु,[73] आदि नामान्तरों का प्रयोग भी निमित्त के कारण अर्थ में हुआ है।

उदाहरणार्थ - (अ) घटरूपी कार्य का उपादान कारण मिट्टी है एवं कुम्हार, दण्ड, चक्र आदि निमित्त कारण हैं।

(ब) सम्यग्दर्शन रूप कार्य का उपादान कारण आत्मा या उसका श्रद्धा गुण है एवं सद्गुरु का उपदेश निमित्तकारण है।

8. कार्य का नियामक कारण कौन है ? :-

उपादान व निमित्त कारण के स्वरूप को जानने पर यह प्रश्न उठता है कि दोनों कारणों में नियामक या समर्थकारण किसे माना जाए ? यदि उपादानकारण को कार्य का नियामककारण माना जाए तो द्रव्य या गुण रूप उपादान के हमेशा विद्यमान रहने पर कार्य की निरंतर उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि जब कारण उपस्थित है तो कार्य होना चाहिए, किन्तु ऐसा दिखाई नहीं होता। यदि इसके उत्तर में यह कहा जाए कि उपादानकारण तो सदैव विद्यमान रहता है, पर निमित्त कारण के न होने से कार्य नहीं होता, जब निमित्तकारण मिलेगा, तब कार्य सम्पन्न होगा। ऐसा मानने पर निमित्तकारण ही कार्य का नियामक कारण ठहरेगा, क्योंकि इसके होने या न होने पर ही कार्य का होना या न होना निर्भर करेगा।

इस आपत्ति से बचने के लिए यदि यह कहा जाय कि कार्य की उत्पत्ति में तो दोनों ही कारणों की उपस्थिति अनिवार्य होती है तो हम कहेंगे कि भले ही दोनों कारणों की उपस्थिति अनिवार्य हो, पर नियामक कारण तो निमित्त ही है, क्योंकि उसके होने पर ही कार्य होता है और नहीं होने पर कार्य नहीं होता।

अत: कार्य का नियामक कारण कौन है ? इस प्रश्न के समाधान के पूर्व उपादानकारण के भेदों-प्रभेदों को जानना आवश्यक है, क्योंकि उपादान के भेदों-प्रभेदों के सम्यक् परिज्ञान में ही उक्त प्रश्न का समाधान निहित है।

9. उपादान के कारण भेद :-

उपादान कारण दो प्रकार का है -[74]

(अ) त्रिकाली या ध्रुव उपादान

(ब) क्षणिक या तात्कालिक उपादान

(अ) त्रिकाली या ध्रुव उपादान -

जो द्रव्य या गुण स्वयं कार्य रूप में परिणमित हो, उस द्रव्य या गुण को उस कार्य का त्रिकाली उपादान कहते हैं। जैसे - घट की उत्पत्ति में मिट्टी त्रिकाली उपादान कारण है। पूर्वाकार का परित्याग रूप-व्यय और उत्तराकार का उत्पाद इन दोनों अजहद्वृत (अपने मूल स्वभाव को न छोड़कर) होता हुआ अन्वय रूप से ज्ञान का विषयभूत जो पदार्थ है, वही उपादान है।[75]

(ब) क्षणिक उपादान कारण - इसके भी भेद हैं -

(i) अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय* रूप क्षणिक उपादान कारण

(ii) तत्समय की योग्यता रूप क्षणिक उपादान कारण

(i) अनंतरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय -

अनादिकाल से द्रव्य में जो पर्यायों का प्रवाहक्रम चला आ रहा है उस प्रवाहक्रम में अनन्तरपूर्व- क्षणवर्तीपर्याय क्षणिक उपादानकारण है और अनन्तरउत्तरक्षणवर्ती पर्याय कार्य है।[76] जैसे - मिट्टी से घट निर्माण में मिट्टी का पिण्ड वह घट की अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय है और घट रूप कार्य वह पिण्ड की अनन्तर उत्तरक्षणवर्ती पर्याय है।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्त्रीकार आचार्य विद्यानंदजी लिखते हैं - "नियत पूर्व समय में रहना कारण का लक्षण है और नियत उत्तरक्षण में रहना कार्य का लक्षण है।"[77] उक्त संदर्भ में 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' का कथन भी द्रष्टव्य है - "अनंतरपूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य कारण रूप से परिणमित होता है और अनन्तर उत्तरपरिणाम से युक्त द्रव्य नियम से कार्य होता है।"[78] इसी तथ्य को पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री ने इस प्रकार व्यक्त किया है - 'जो अनन्तरपूर्वपर्याय विशिष्ट द्रव्य है, उसकी उपादान संज्ञा है और अनन्तर-उत्तरपर्याय विशिष्ट द्रव्य है, उसकी कार्य संज्ञा है।'[79]

(ii) तत्समय की योग्यता -

उस समय की पर्याय की उसी समय होने रूप योग्यता क्षणिक उपादान कारण है और वह पर्याय कार्य है।[80] यहाँ यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि अनन्तर उत्तरक्षणवर्ती पर्याय एवं तत्समय की योग्यता दोनों एक ही बात हैं, क्योंकि अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय का अभाव होकर उसके बाद जो अनन्तरउत्तरक्षणवर्ती पर्याय आती है वह पर्याय ही तत्समय की योग्यता है, क्योंकि उस पर्याय में ही कार्य सम्पन्न होता है। अत: नाम भेद होने पर दोनों का अर्थ समान है। आगम में दोनों नामों का उल्लेख मिलता है।

10. एक द्रव्य में कार्य-कारण की निर्विरोधता :-

"सभी वादी पूर्वावस्था को कारण और उत्तरावस्था को कार्य मानते हैं अत: एक ही पदार्थ में अपनी पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय की दृष्टि से कारण-कार्य-व्यवहार निर्विरोध रूप से होता ही है।"[81] 'नयचक्र' (वृहद) में भी यही बात कही गयी है - "उत्पद्यमान कार्य होता है और उत्पन्न करने वाला आत्मा कारण होता है इसलिए एक ही द्रव्य में कारण-कार्य भाव विरोध को प्राप्त नहीं होता।"[82]

इस प्रकार उपर्युक्त शास्त्रीय उद्धरणों से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि कार्य-कारण भाव एक द्रव्य में ही अविरोध रूप से घटित होता है।

उपादान शब्द की निरुक्ति ही यह है कि "जो अभिन्न रूप से या तन्मयता से पर्याय को धारण करता है अर्थात् पर्याय से तन्मय होता है, उसे उपादान कहते हैं।"[83] 'परमार्थ दृष्टि से कारण और कार्य में कोई भेद नहीं है, इसलिए पूर्व पर्यायविशिष्ट द्रव्य कारण है और उत्तर पर्याय उसका कार्य है। यही नहीं, वर्तमान पर्याय की दृष्टि से भी विद्यमान पर्याय स्वयं कारण है और स्वयं कार्य है, क्योंकि वर्तमान पर्याय मात्र सत् है। उसके परिणमन में कोई नियामक कारण नहीं है।'[84] योग्यता ही विषय की प्रतिनियामक कारण कही गयी है।[85] इसलिए वर्तमान पर्याय की योग्यता उपादान कारण है और विद्यमान पर्याय स्वयं कार्य है। इस प्रकार पर्याय विशिष्ट द्रव्य में जो कार्य होता है, उसमें वस्तु की योग्यता ही वास्तविक कारण है।

योग्यता के पर्यायवाची नाम -

योग्यता के लिए समर्थ उपादान शक्ति, भवितव्यता[86] के अतिरिक्त सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत आदि शब्दों का प्रयोग होता है।[87] इसका पूर्णतया स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिक के इस उद्दरण से होता है :- "कारण की कार्य को उत्पादन करने की शक्ति का नाम योग्यता है और कार्य कारणपूर्वक जन्यत्व शक्ति वाला है इसी का नाम योग्यता का प्रतिनियम है। जैसे - शालिबीज और अंकुर में काल भेद होने पर भी शालि-बीज में ही शालिअंकुर उत्पन्न करने की शक्ति है, यव बीज में नहीं। वैसे ही यव बीज में ही यव-अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति है, शालि-बीज में नहीं।"[88]

इस प्रकार उपादान कारण के वास्तव में तीन ही प्रकार हैं -

(अ) त्रिकाली उपादान कारण (ब) अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय (स) तत्समय की योग्यता

इन भेदों में द्रव्य का मूल स्वभाव ध्रुव उपादान या त्रिकाली उपादान है, उसमें अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय एवं कार्योत्पत्ति के समय की पर्यायगत योग्यता क्षणिक उपादान कारण है और त्रिकाली उपादान द्रव्यरूप तथा अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय एवं तत्समय की योग्यता रूप उपादान पर्यायरूप है।

उपादान के उपर्युक्त तीनों भेदों की स्थिति स्पष्ट करने के लिए उसे इस प्रकार सारणीकृत किया जा सकता है -

उपादान कारण

त्रिकाली उपादान | क्षणिक उपादान

क्षणिक उपादान: अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय | तत्समय की योग्यता

जिस प्रकार कार्य-कारण मीमांसा में उपादान के भेदों का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि यही कार्य का नियामक है, उसी प्रकार निमित्तकारण के भेदों से परिचित होना भी आवश्यक है, क्योंकि इसके परिज्ञान के बिना वस्तु की स्थिति का आंकलन नहीं हो सकता।

11. निमित्त कारण के भेद :-

उपादान की भाँति निमित्तकारण के भी दो भेद हैं -[89]

(अ) प्रेरक निमित्त। (ब) उदासीन निमित्त।

(अ) प्रेरक निमित्त -

प्रेरक निमित्त, वे निमित्त हैं जो अपने आप में क्रियाशील या सक्रिय रहकर अन्य वस्तु के परिणमन में अनुकूल रहते हैं। इच्छावान एवं क्रियावान द्रव्य प्रेरक निमित्त कहलाते हैं।[90] जीवद्रव्य इच्छावान व क्रियावान और पुद्गलद्रव्य क्रियावान होने से प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं।

उदाहरणार्थ -: छात्रों को पढ़ाने में अध्यापक इच्छावान होने से एवं ध्वजा के फड़कने में हवा सक्रिय होने से प्रेरक निमित्त है।

(ब) उदासीन निमित्त -

वह निमित्त, जो अपने आप में क्रियारहित-निष्क्रिय रहकर अन्य वस्तु के परिणमन में अनुकूल होते हैं। दूसरे शब्दों, में इच्छाशक्ति व क्रियाशक्ति से रहित निष्क्रिय द्रव्य उदासीन निमित्त कहलाते हैं।[91] जैसे - घट के निर्माण में चाक, कीली, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य आदि उदासीन निमित्त हैं।

(i) पानी में स्वमेव गमन करती हुई मछली की तरह धर्मद्रव्य स्वमेव गतिपरिणत जीव व पुद्गलों के गमन में उदासीन रूप से अनुग्रह करता है।[92]

(ii) स्थिति क्रियायुक्त पृथ्वी की भाँति अधर्मद्रव्य स्वमेव क्रिया परिणत जीव व पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारण मात्र की भाँति स्थिति में अनुग्रह करता है।[93]

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी ने उनको उपगृह या उपकारक शब्द से कहा है और उसके टीकाकार पूज्यपाद स्वामी ने 'निष्क्रियाणि' सूत्र की व्याख्या में उन्हें 'बालाधान निमित्त' कहा है और आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्तिक में लिखा है कि 'उपकारो बलाधानं अवलम्बनम् इत्यनर्थान्तरम्'।[94] अर्थात् उपकार बलाधान, अवलम्बन सब एकार्थक हैं।

(iii) आकाश-द्रव्य सभी द्रव्यों को अवगाहन (अवकाश) देने में सहकारी निमित्त है।[95]

(iv) कालद्रव्य स्वमेव परिणाम को प्राप्त जीव व पुद्गलादि द्रव्यों के परिणमन में

बहिरंग निमित्त है।[96] कालद्रव्य के सम्बन्ध में गोम्मटसार (जीवकाण्ड) का कथन भी द्रष्टव्य है -

'कालद्रव्य स्वयं अन्य द्रव्य रूप परिणमन नहीं करता, न ही अन्य द्रव्य को अपने रूप परिणमाता है। नाना परिणामों से युक्त द्रव्य जब स्वयं परिणमन करते हैं उनके परिणमन में वह हेतु होता है अर्थात् उदासीन रूप से निमित्त मात्र होता है।'[97]

इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश व कालद्रव्य इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्ति से रहित हैं अत: ये उदासीन निमित्त कहे जाते हैं।

यह बात विशेषत: ध्यान देने योग्य है कि जैनआगम में किसी भी द्रव्य को निमित्त या उपादान की संज्ञा से अभिहित नहीं किया गया है, अपितु कार्य को परिलक्षित कर ही द्रव्यों को निमित्त या उपादान की संज्ञा प्राप्त होती है।

12. निमित्त कारण कार्य का नियामक नहीं होता :-

पूर्व में निमित्त कारण को नियामक कारण मानने संबंधी जो तर्क दिया गया है वह निमित्त कारण के स्वरूप व भेदों को जानने से स्वत: ही निरस्त हो जाता है, क्योंकि यदि निमित्त को नियामक कारण माना जाए तो धर्मद्रव्य रूप निमित्त सदैव विद्यमान रहता है, परन्तु सभी जीव व पुद्गल सदैव गमन करते हुए नहीं देखे जाते। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी सदा विद्यमान रहता है तो सभी जीव व पुद्गलों को स्थिर रहना चाहिए। यदि निमित्त कारण को नियामक कारण माना जाए तो धर्म-अधर्म द्रव्य भी परस्पर विरुद्ध क्रिया होने के कारण जीव व पुद्गलों के समक्ष गंभीर संकट उत्पन्न हो जाएगा, क्योंकि गति और स्थिरता जैसी दोनों क्रियायें एक साथ संभव नहीं हो सकती। अत: निमित्त कारण कार्य का कर्ता कदापि नहीं होता, क्योंकि वह परद्रव्य के कार्य रूप परिणमन की शक्ति से रहित है उसमें परद्रव्य रूप परिणमन की योग्यता नहीं होती। 'जिस वस्तु में स्वयं परिणमन की योग्यता या शक्ति न हो, उसमें अन्य वस्तु योग्यता पैदा नहीं कर सकती।'[98] इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन का स्वयं कर्ता है।

'राजवार्तिक' में इसका स्पष्टीकरण उदाहरण सहित इस रूप में किया गया है :- जैसे - 'चलने में आलसी समर्थ व्यक्ति के लिए को लाठी सहायक होती है, किन्तु उसके गमन क्रिया को करने वाली नहीं होती। यदि वह चलने में असमर्थ को भी चला सकती हो मूर्छित और सोते व्यक्ति भी लाठी के सम्बन्ध से चलने लगते। अथवा - जैसे - 'स्वयं देखने में समर्थ नेत्र का दीपक उपकारक होता है, किन्तु दीपक नेत्र के देखने की शक्ति का कर्ता नहीं होता है। यदि दीपक देखने में असमर्थ की भी दर्शन शक्ति का कर्ता हो तो वह मूर्च्छित, सुषुप्त और जन्मांधों को भी बाह्य वस्तु का दर्शन करा देगा। उसी प्रकार स्वयं ही गति रूप व स्थिति रूप परिणमन करने वाले जीवों और पुद्गलों के लिए धर्म-अधर्म उपकारी हैं, लेकिन गति-स्थिति के कर्ता नहीं हैं।'[99] यही बात 'पंचास्तिकाय' की 89 गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट की है।[100] उसकी टीका में आचार्य अमृतचंद ने लिखा है कि वे मुख्य हेतु नहीं हैं, व्यवहारनय से स्थापित उदासीन हेतु हैं। निश्चय से तो गति-स्थितिमान पदार्थ स्वभाव से ही गति-स्थिति करते हैं। इस तरह दोनों आचार्यों ने निश्चय व व्यवहार दोनों ही कथनों को अपनाया है।

जीव के रागादि विभाव रूप व पुद्गल के कर्म रूप परिणमन के सन्दर्भ में भी यही बात कही गयी है - ''जीव के रागादि परिणामों का निमित्त प्राप्त कर पुद्गल स्कंध स्वयं ही कर्म रूप परिणमन करते हैं।''(101)

उक्त गाथा में यह बात स्पष्ट की गयी है कि पुद्गल स्कंधों में जो कर्मदशा रूप कार्य उत्पन्न हुआ, उसका उपादानकारण तो तद्रूप परिणमन शक्ति सम्पन्न पुद्गल स्कंध ही है। उस शक्ति से पुद्गलस्कंध कर्म रूप परिणमा है यह बताने के लिए 'स्वमेव परिणमन्ते' पद का प्रयोग गया है तथा पुद्गल स्कंधों को कर्म रूप में परिणमित करवाने की शक्ति से रहित जीव के परिणाम उस परिणमन के निमित्त मात्र हैं। इसी प्रकार - ''जीव भी निश्चय से अपने चैतन्य स्वरूप रागादि भावों से स्वयं परिणमन करते हैं, क्योंकि उनमें भी वैसे परिणमन की स्वयं की शक्ति है उनके इस परिणमन में पुद्गल कर्मों का उदय निमित्त मात्र होता है, वह रागादिभाव कराता नहीं है।''(102)

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन का स्वयं उपादान है, उसमें अन्य द्रव्य निमित्त मात्र हैं।

13. परिणमन में विचित्रता-विशेषता निमित्तों के कारण नहीं आती :-

जो पुद्गलस्कंध कर्म रूप परिणमन करते हैं, उनमें आठ प्रकार के विचित्र परिणाम होते हैं। इन आठ प्रकारों को ही ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र के नाम से अभिहित किया जाता है। इन आठों प्रकारों के 148 उत्तरोत्तर प्रकार होते हैं अत: पुद्गल-स्कंध 148 प्रकार की विशेषता-अर्थात् विचित्रता को प्राप्त होते हैं, इस विचित्र परिणमन का भी कारण पुद्गलों की स्वयं की ही परिणाम शक्ति है। आत्मा उनका कर्ता नहीं है, निमित्त मात्र है।(103) प्रवचनसार में कहा गया है कि ''जब आत्मा रागद्वेष के वशीभूत होता हुआ शुभाशुभ भावरूप में परिणमित होता है तब अन्य योगद्वारों को प्रविष्ट होते हुए कर्म पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप में परिणमित होते हैं। अतएव कर्मों की विचित्रता का होना स्वभावकृत है, किन्तु आत्मकृत नहीं।''(104) इससे स्पष्ट है कि समस्त कार्यों की नियामक शक्ति समस्त द्रव्यों में निहित अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता ही है। किसी प्रकार का निमित्त परसंयोग मात्र है।

14. प्रेरक निमित्त भी कार्य का नियामक नहीं है :-

पूर्व में निमित्त के उदासीन व प्रेरक दो भेदों का उल्लेख किया गया है। सामान्यत: लोगों की धारणा होती है कि उदासीन निमित्त तो कार्य का कर्ता नहीं होता है लेकिन प्रेरक निमित्त कार्य का नियामक है या उसमें विशेषता पैदा करने की सामर्थ्य रखता है और इसके पीछे उनका तर्क रहता है कि प्रेरक निमित्त कार्य का प्रत्यक्ष में कर्ता दिखाई देता है अत: वह उदासीन निमित्तवत् कार्य का अकर्ता नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में प्राय: अध्यापक या गुरु का प्रसिद्ध उदाहरण भी दिया जाता है। जैसे - 'छात्रों के अध्ययन कार्य में अध्यापक, पुस्तक और दीपक तीनों ही निमित्त हैं, पर अध्यापक प्रेरक निमित्त है और पुस्तक व दीपक उदासीन निमित है अत: पुस्तक व दीपक को भले ही कर्ता मत कहो, परन्तु अध्यापक को कर्ता तो मानना ही होगा, क्योंकि छात्रों को पढ़ाने में उसका

योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहता है वह सक्रिय होकर, छात्रों को पढ़ने हेतु प्रेरित करता है, फिर भी यदि छात्र अध्ययन में प्रवृत नहीं होते तो दण्ड भी देता है आदि-आदि।'(105)

प्रेरक निमित्त के सम्बन्ध में उक्त प्रश्न को आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' में उठाया है जिसमें आचार्य ने आत्मा का गुरु आत्मा को ही कहा है इस पर उनका शिष्य पूछता है कि - तब तो मुमुक्षु को धर्माचार्य आदि का सेवन नहीं करना चाहिए। इसके उत्तर में जो श्लोक आचार्यदेव ने दिया है, वह निम्नांकित है -

''नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञोनाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेधर्मास्तिकायवत्॥''

'अज्ञ (अज्ञानी) को उपदेशादि निमित्तों के द्वारा न विज्ञ (ज्ञानी) किया जा सकता है और न विज्ञ को ही अज्ञ कर सकते हैं, क्योंकि परपदार्थ तो निमित्त मात्र हैं, जैसे कि स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गलों को धर्मास्तिकाय होता है।'(106) इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार का कहना है कि ''यहाँ यह शंका हो सकती है कि इस प्रकार तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जाएगा। इसका उत्तर यह है कि अन्य जो गुरु आदि तथा शत्रु आदि हैं, वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में तथा विध्वंसन (नाश) में निमित्तमात्र हैं। वस्तुत: किसी कार्य के होने या बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक है।''(107)

अतएव वास्तव में कार्य का साधकतम कारण तो तत्समय की योग्यता रूप क्षणिक उपादान ही है। सभी प्रकार के निमित्त, चाहे वे प्रेरक ही क्यों न हो, कार्योत्पत्ति में धर्मास्तिकायवत् उदासीन ही होते हैं। कार्य में किंचित् भी असर, प्रेरणा या मदद नहीं करते। यदि अध्यापक को कर्ता माना जाए तो एक कक्षा में अनेक छात्र पढ़ते हैं, उनमें कोई प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होता है और कोई अनुत्तीर्ण हो जाता है, कोई पढ़कर विद्वान बनता है तो कोई मूर्ख ही बना रहता है। यदि अध्यापक कर्ता हो तो सभी को प्रथम श्रेणी में पास होना चाहिए एवं विद्वान बनना चाहिए। एतावता स्पष्ट है कि कार्य की उत्पत्ति में कोई भी प्रयत्न स्वाभाविक गुण की अपेक्षा रखता है, जैसे - तोता अपनी योग्यता के कारण बाह्य सामग्री के सद्भाव में पढ़ने लगता है, किन्तु योग्यता के अभाव में लाख प्रयत्न के बावजूद बगुले को तोते की भाँति नहीं पढ़ाया जा सकता।

प्रेरक निमित्त के सन्दर्भ अज्ञानी जीव की मान्यता को 'निमित्तोपादान संवाद' में बहुत ही सुंदर व सरल दोहों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है -

गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन।
ज्यों नर दूजे पाँव बिन, चलवे को आधीन॥
हो जाने था एक ही, उपादान सों काज।
थके सहाई पौन बिन, पानी मांहि जहाज॥

अर्थात् जैसे - आदमी दूसरे पैर के बिना चल नहीं सकता उसी प्रकार सद्गुरु के उपदेश रूप निमित्त के बिना उपादान (शिष्यादि) असमर्थ हैं। जो यह मानते हैं कि मात्र उपादान से ही काम हो जाता है, उनकी मान्यता समीचीन नहीं है, क्योंकि पवन की सहायता के बिना जहाज पानी में नहीं चल सकता।(108)

अज्ञानी जीव की उपरोक्त मान्यता को निराकृत करते हुए कहा गया है -

उपादान बल जहाँ तहाँ, नहिं निमित्त को दाव।
एक चक्र सौं रथ चलै, रवि को यही स्वभाव ॥
सधै वस्तु असहाय जहाँ, तहाँ निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह मैं, तिरे सहज बिन पौन ॥(109)

जहाँ देखो वहाँ सदा उपादान का ही बल है। निमित्त होते हैं, परन्तु निमित्त कुछ भी दाव (बल) नहीं है। जैसे - एक चक्र से सूर्य का रथ चलता है वैसे ही प्रत्येक कार्य उपादान की योग्यता से होता है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्रता से अपनी अवस्था को प्राप्त करती है वहाँ निमित्त कौन है ? जैसे प्रवाह में जहाज सहज ही बिना पवन के तैरता है। इन दोहों से अत्यंत सरलतापूर्वक यह विदित हो जाता है कि कार्य का साधकतम् कारण उपादान है। निमित्त को साधकतम कारण मानने पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता मानने पर द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता में दूषण उत्पन्न होता है। नीतिकारों ने भी कितना सच कहा है -

''यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पण: किं करिष्यति ॥

जिसकी गांठ में अक्ल नहीं है, शास्त्र उसे बुद्धिमान नहीं बना सकता। जो दोनों नेत्रों से हीन है, उसके लिए दर्पण क्या कर सकता है ? प्रेरक निमित्त को कर्ता मानने की भूल का मूल कारण 'प्रेरक' शब्द का यथार्थ अर्थ न समझना है। प्रेरक निमित्त यथार्थ में परद्रव्य की क्रिया का प्रेरक नहीं होता, अपितु स्वयं सक्रिय रहकर परद्रव्य के परिणमन में अनुकूल रहता है।(110) अत: प्रेरक निमित्त के सद्भाव में भी परिणमन द्रव्य में स्वत: ही होता है। इस तथ्य की पुष्टि समयसार के इस कथन से भी होती है 'प्रेरक निमित्त को परद्रव्य का कर्ता कहना केवल उपचार कथन है, परमार्थ नहीं।'(111)

15. निमित्त की अपेक्षा उपादान से सम्पन्न कार्य को नैमित्तिक कहा जाता है :-

अवधेय है कि जैनदर्शन में कार्य-कारण सम्बन्ध दो प्रकार से माना गया है -(112) इसमें पहला उपादेय सम्बन्ध के रूप में (उपादान) और दूसरा नैमित्तिक संबंध के रूप में (निमित्त) कारण होता है। जब उपादान स्वयं कार्य रूप परिणमित होता है तब भाव या अभाव रूप किस उचित निमित्त कारण का उसके साथ सम्बन्ध है उसका ज्ञान कराने के लिए उस कार्य को नैमित्तिक कहा जाता है।(113) जैसे - मिट्टी से घट निर्माण में कुम्भकार निमित्त कारण है और घट रूप कार्य नैमित्तिक है।

निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्ध में भी निमित्त-नैमित्तिकरूप कार्य का कर्ता नहीं होता, क्योंकि व्याप्य-व्यापक भाव के बिना कर्ता-कर्म सम्बन्ध घटित नहीं होता।(114) निमित्त, नैमित्तिक रूप कार्य में अव्यापक है। अत: निमित्त, नैमित्तिक भाव का कर्ता नहीं है। उन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र घटित होता है।(115) 'यह सम्बन्ध दो भिन्न व स्वतंत्र पदार्थों की वर्तमान पर्याय में घटित होता है, परन्तु यह परतंत्रता का द्योतक नहीं है, बल्कि सहज संयोग सम्बन्ध है।' 'समयसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने

स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि जीव के परिणाम व पुद्गल के परिणाम में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। वे गाथा 80-81 में कहते हैं कि "जीव के परिणामों के निमित्त मात्र से पुद्गल कर्म रूप से परिणमन करते हैं इसी प्रकार जीव, पुद्गल कर्म के निमित्त से परिणमन करता हैं, किन्तु न तो जीव कर्मों के गुणों को कर्ता हैं और न कर्म जीव के गुणों को कर्ता हैं, परन्तु दोनों के निमित्त से परिणाम उत्पन्न होते हैं।"(116)

इस सम्बन्ध समयसार कलश 175 में आचार्य अमृतचंद्र का उदाहरण दृष्टव्य है कि "जैसे सूर्यकान्तमणि स्वत: से ही अग्नि रूप परिणमित नहीं होती, उसके अग्नि रूप परिणमन में सूर्यबिम्ब निमित्त रूप से उपस्थित रहता है, वैसे ही आत्मा परद्रव्य बिना रागादि रूप नहीं परिणमता, उसके राग रूप परिणमन में परद्रव्य का संग उपस्थित रहता है, ऐसा वस्तु का स्वभाव प्रकाशमान है किसी ने बनाया नहीं है।"(117)

इस प्रकार दो द्रव्यों के परस्पर समकाल कार्यपना तथा अनुकूलता देखकर ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को माना गया है, परन्तु इसे केवल व्यवहार से ही स्वीकार किया गया है, परमार्थ या निश्चय से नहीं। पं. कैलाशचंद शास्त्री ने भी अपने जैन-सिद्धान्त में यह दिखाया है कि अन्य दर्शनों में भी निमित्त-नैमित्तिक भाव व्यवहार से है, परमार्थत: नहीं।(118) इस सम्बन्ध में मोक्षमार्गप्रकाशक में आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी ने बड़े सुन्दर व सशक्त भाषावली में अपने विचार व्यक्त किये हैं - "यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे, बाह्य सामग्री को मिलावे तब तो कर्म को चेतनपना भी चाहिए और बलवानपना भी चाहिए - सो तो है नहीं, सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्मों का उदयकाल हो, उस काल में स्वयं ही आत्मा स्वभावरूप परिणमन नहीं करता है तथा जो अन्य द्रव्य है वे वैसे ही सम्बन्ध रूप होकर परिणमित होते हैं। जिस प्रकार सूर्योदय के काल में चकवा-चकवियों का संयोग होता है, वहाँ रात्रि में किसी द्वेष-बुद्धि से बलजबरी करके अलग नहीं किये हैं। दिन में किसी ने करुणाबुद्धि से लाकर मिलाये नहीं हैं। सूर्यास्त का निमित्त पाकर स्वयं ही बिछड़ते हैं और सूर्योदय का निमित्त पाकर स्वयं ही मिलते हैं ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है उसी प्रकार कर्म का निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना।"(119)

16. वस्तु के परिणमन को सर्वथा निमित्ताधीन मानना मिथ्या है :-

निमित्त को नियामक या कार्य का कर्ता मानने वाले आत्मा में होने वाले रागादिभाव का कारण कर्मोदय को मानते हैं, परन्तु रागादि की उत्पत्ति में कर्मोदय रूप निमित्तों को दोष देना उचित नहीं। आचार्य अमृतचंद्र निमित्तों को दोष देने का परिणाम घोषित करते हुए कहा है कि "जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य (कर्मोदय) को ही निमित्तत्व (कारणत्व) मानते हैं अपना कुछ भी कारण नहीं मानते हैं उनकी बुद्धि शुद्धज्ञान से रहित अंध है, वे कभी मोह नदी को पार नहीं कर सकते।"(120) और भी कहा गया है कि "परद्रव्य कोई जबरन बिगाड़ता नहीं है, अपने भाव बिगड़े तब वह बाह्य निमित्त है तथा इसके बिना भी भाव बिगड़ते हैं, इसलिए यह नियमरूप से निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार परद्रव्य का दोष देखना मिथ्याभाव है।"(121) यहाँ यह भी स्पष्ट है कि जिस प्रकार

विकारी भावों की उत्पत्ति में निमित्तों को दूषण देना भूल है, उसी प्रकार अन्य कार्य की उत्पत्ति का श्रेय निमित्तों को देना भूल है, क्योंकि कार्योत्पत्ति में बाह्य हेतु या निमित्त किंचित् मात्र भी कर्ता नहीं है।

17. निमित्त में बाह्य हेतुता की स्वीकृति :-

कार्य की उत्पत्ति में उपादान अन्तरंग या मुख्य हेतु होने पर भी निमित्तकारण की अनिवार्य उपस्थिति को स्वीकार किया गया है। ऐसा नहीं है कि निमित्तों की सन्निधि के अभाव में केवल उपादानगत योग्यता से कार्य सम्पन्न हो जाता है। 'यदि एकांत रूप निमित्तों को स्वीकृत न किया जाए तो अद्वैत एकान्त का प्रसंग प्राप्त होगा। साथ ही, आत्मा में होने वाले रागादि भावों के निमित्तों का निषेध किये जाने पर रागादिभाव आत्मा के स्वभाव बन जायेंगे तथा स्वभाव का अभाव न होने से रागादि भावों का कभी अभाव नहीं होगा, इसलिए राग की उत्पत्ति में परद्रव्य की निमित्तता अवश्य स्वीकृत की गई है और कर्तापने का निषेध किया गया है।'[(122)]

'राजवार्तिक' में एक कार्य में अनेक उपकरणों को साध्य बतलाते हुए कहा गया है कि "जैसे मिट्टी घट परिणाम रूप होने के लिए अभ्यंतर में सामर्थ्य होते हुए बाह्य कुम्भकार, दण्ड, चक्र, सूत्र, जल, काल, आकाश आदि उपकरणों की अपेक्षापूर्वक घट पर्याय रूप से प्रकट होती है। अकेली मिट्टी कुम्भकार आदि बाह्य साधनों के अभाव में घट रूप से होने में समर्थ नहीं है।"[(123)]

यहाँ उपादान कारण की सामर्थ्य को स्वीकार करते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए बाह्य निमित्तों पर जोर दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि कार्य की उत्पत्ति में निमित्तों का निषेध नहीं किया जाता है बल्कि उनके कर्तृत्व का निषेध किया जाता है। 'निमित्त अकिंचित्कर है' ऐसा जानकर यदि निमित्तों के अस्तित्व का ही निषेध कर दिया जाए तो फिर बिना पटरी के भी ट्रेन चलने जैसे लोक व्यवहार के अनेक अनुकूल प्रसंग प्राप्त होगें जबकि यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि पटरी ट्रेन को एक इंच भी नहीं चलाती। (अर्थात् निमित्त अकर्ता है) लेकिन पटरी के बिना भी ट्रेन नहीं चलती (अर्थात् निमित्त के अस्तित्व से इंकार नहीं किया जा सकता)। इसलिए निमित्त की उपस्थिति अवश्यम्भावी है। कार्य के समय निमित्त की उपस्थिति अवश्यम्भावी होने के कारण ही 'यद्यस्मिन सत्येवे ---' इत्यादि कारण भी पूर्वोक्त परिभाषा निमित्त पर बखूबी घटित होती है इसलिए जैन-दर्शन में निमित्त को अकर्ता कारण के रूप में स्वीकार करना ही उसका गूढ़ार्थ है।[(124)]

18. क्षणिक उपादान ही कार्य का समर्थ कारण है :-

उपादान के स्वरूप व भेदों-प्रभेदों व निमित्त कारण पर विचार करते समय यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कार्य का नियामक या समर्थ कारण क्षणिक उपादान है, क्योंकि उसके बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है।[(125)] और वह अपना कार्य करने में अन्तक्षण को प्राप्त होता है। समर्थ उपादान कारण उसे ही कहा जाता है जो अपना कार्य के करने में अन्तक्षण को प्राप्त होता है।[(126)] त्रिकाली उपादान को नियामक कारण मानने से कार्योत्पत्ति की निरंतरता का दोष उत्पन्न होता है, साथ ही इसके रहने पर भी कार्य

सम्पन्न नहीं होता। इसे घट के उदाहरण से समझा जा सकता है। यदि मिट्टी रूप त्रिकाली उपादान को घट का समर्थ कारण माना जाए तो घट मिट्टी में पूर्व से ही मौजूद है, वह घट पूर्व में ही क्यों नही बना, अभी क्यों बना ? क्योंकि कारण विद्यमान हो और कार्य न हो यह संभव नहीं है। साथ ही मिट्टी से घट के निर्माण के बीच में होने वाली पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायें नहीं होनी चाहिए, पर हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि घट का निर्माण पूर्वोक्त पर्यायों को प्राप्त हुए बिना नहीं होता है, परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार केवल खान से निकली मिट्टी घट का समर्थ कारण नहीं है उसी प्रकार पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल अवस्था रूप से परिणत मिट्टी भी घट का समर्थ कारण नहीं है, बल्कि जो मिट्टी अनन्तर समय में घट पर्याय रूप से परिणत होने वाली है, मात्र वही मिट्टी घट कार्य का उपादान है।

इसी बात को अन्य उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है कि सम्यक्दर्शन जीव का स्वाश्रित पर्याय है। द्रव्यार्थिक नय से सम्यक् दर्शन का उपादान कारण जीव को ही कहा जाता है, अजीव को नहीं। परन्तु जीवद्रव्य अर्थात् त्रिकाली उपादान को सम्यक्दर्शन का समर्थ कारण माने तो समस्त जीवों को सम्यक्दर्शन की प्राप्ति एवं संसार मार्ग के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। इसी कारण पर्यायार्थिक नय से मिथ्यात्व कर्म के अभाव एवं सम्यक्दर्शन रूप कार्य की उत्पत्ति की पर्यायगत योग्यता को ही कार्य का समर्थ कारण माना गया है।

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि 'कार्य का नियामक क्षणिक उपादान है, त्रिकाली उपादान नहीं है, क्योंकि कार्य एक समयवर्ती है। यदि उसका कारण अनादि-अनंत त्रिकाली हो तो कार्य भी अनादि-अनंत मानना होगा। अत: त्रिकाली उपादान कार्य का समर्थ कारण नहीं हो सकता। साथ ही, अनन्तर- पूर्वक्षणवर्ती पर्याय भी कार्य का समर्थ कारण नहीं है, क्योंकि उसके अभावपूर्वक कार्य की उत्पत्ति होती है। यह न्याय है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, पर्याय में से पर्याय नहीं आती, इसलिए कार्य का समर्थ कारण तत्समय की पर्याय योग्यता रूप क्षणिक उपादान कारण है।'[127]

उक्त संदर्भ में राजवार्तिककार आचार्य अकलंकदेव का कथन उल्लेखनीय है - ''जैसे मिट्टी के स्वयं भीतर से घट होने रूप परिणाम के सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न आदि निमित्त मात्र होते हैं, क्योंकि दण्डादि निमित्तों के रहने पर भी बालुकाबहुल मिट्टी का पिण्ड स्वयं भीतर से घट के होने रूप परिणाम (पर्याय) के निरुत्सक होने के कारण घट नहीं होता, अत: बाह्य में दण्डादि निमित्त सापेक्ष मिट्टी का पिण्ड भीतर से घट होने रूप परिणाम का सानिध्य होने से घट होता है, दण्डादि घट नहीं होते, इसलिए दण्डादि निमित्त मात्र हैं।''[128] यहाँ स्पष्ट है कि 'जब मिट्टी घट पर्याय के परिणमन के सन्मुख होती है, तब दण्ड, चक्र, पौरुषेय प्रयत्न की निमित्तता स्वीकृत की गयी है, अन्य काल में वे निमित्त स्वीकार नहीं किये गये हैं।'[129]

आचार्य अकलंकदेव के विचारों का समर्थन धवलाकार भी करते हैं ''सर्वत्र ही अन्तरंगकारण (उपादानकारण) से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। ऐसा निश्चय करना

चाहिए, क्योंकि बाह्य कारण (निमित्त कारण) से कार्य की उत्पत्ति मानने पर शालि-बीज से जौ की उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा।''[130]

19. क्या त्रिकाली उपादान कारण महत्वहीन है ? :-

त्रिकाली उपादानकारण समर्थ न होने पर भी महत्वहीन नहीं है, क्योंकि 'यह वस्तु की सहजशक्ति या मूलस्वभाव है'[131] इसकी गोद में ही कार्यरुपी लाल खेलते हैं और कार्य वस्तु की सहजशक्ति की अवस्थायें ही हैं, जैसा कि कहा गया है -

उपादान निजशक्ति है, जिय को मूल स्वभाव।
है निमित्त परयोग ते, बन्यो अनादि बनाव॥[132]

''शक्ति दो प्रकार की होती है - द्रव्य शक्ति और पर्याय शक्ति। द्रव्यशक्ति को त्रिकाली उपादानकारण एवं पर्यायशक्ति को क्षणिक उपादानकारण कहते हैं। द्रव्यशक्ति नित्य होती है और पर्यायशक्ति अनित्य होती है। द्रव्यशक्ति यह बताती है कि यह कार्य इस द्रव्य में होगा और पर्याय शक्ति यह बताती है कि विवक्षित कार्य विवक्षित समय में ही होगा। अत: न तो द्रव्यशक्ति महत्वहीन है और पर्यायशक्ति ही, दोनों का ही महत्व है, परन्तु काल की नियामक पर्यायशक्ति ही है। यह पर्याय शक्ति अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय के व्ययरूप एवं तत्समय की योग्यता रूप होती है। अत: दोनों की ही क्षणिक उपादान संज्ञा है। यदि निमित्त कारण को शामिल करके कहा जाय तो इस प्रकार कहा जाएगा कि सहकारी करण सापेक्ष विशिष्ट पर्याय शक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी है।''[133]

पूर्वोक्त तथ्य को 'प्रमेयकमलमार्तन्ड' में भी व्यक्त किया गया है - ''पदार्थ द्रव्य-पर्याय शक्ति स्वरूप होते हैं उनमें से द्रव्यशक्ति नित्य ही है, क्योंकि द्रव्य अनादिनिधन स्वभाववाला है पर्यायशक्ति तो अनित्य है, क्योंकि पर्याय सादि सान्त होती है। यदि यह कहा जाए कि शक्ति नित्य है, इसलिए सहकारी कारणों की अपेक्षा किये बिना ही कार्यकारीपने का प्रसंग प्राप्त होगा, सो ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल द्रव्यशक्ति का कार्यकारीपना स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्य शक्ति कार्य करने में समर्थ होती है, क्योंकि विशिष्ट पर्याय से परिणत द्रव्य का ही कार्यकारीपना प्रतीत होता है और उसकी परिणति सहकारी कारण सापेक्ष होती है, क्योंकि पर्यायशक्ति तभी होती है। इसलिए न तो सर्वदा कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग आता है और न ही सहकारी कारणों की अपेक्षा की व्यर्थता प्राप्त होती है।''[134] इस प्रकार त्रिकाली व क्षणिक उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों की वास्तविक और अविघ्न भाव से कारणता स्पष्ट होती हैं।

20. उपादान की अपेक्षा कार्य को उपादेय कहा जाता है :-

जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है उस पदार्थ को उपादान कारण और जो कार्य निष्पन्न हुआ है उसे उपादान की अपेक्षा उपादेय कहा जाता है, उपादान-उपादेय को ही कारण-कार्य नाम से अथवा कर्ता- कर्म नाम से भी जाना जाता है। जैसे- मिट्टी घट का उपादान कारण है और घट रूप कार्य उपादेय है। 'उपादान-उपादेय सम्बन्ध एक ही द्रव्य में घटित होता है दो भिन्न द्रव्यों में नहीं।'[135] परमार्थ से केवल उपादान-उपादेय सम्बन्ध में ही कार्य-कारण भाव स्वीकार करना समीचीन है।

21. निमित्त-उपादान की समन्वित स्थिति :-

आगम में प्रमाण दृष्टि से विचार करते हुए सर्वत्र कार्य की उत्पत्ति में दोनों कारणों का सद्भाव माना गया है। उभय कारणों की समन्वित स्थिति पर प्रकाश डालते हुए आचार्य समन्तभद्र का मानना है कि - "वास्तव में जब-जब कार्य की उत्पत्ति होती है तो बाह्य और अभ्यन्तर उपाधि (निमित्त और उपादान कारणों)की समग्रता पाई जाती है। ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है।"(136) यहाँ उपादान कारण और बाह्य निमित्त दोनों को उपाधि कहा गया है। साथ ही साथ यह भी बतलाया है कि यह द्रव्यगत स्वभाव है कि प्रत्येक द्रव्य का जब जो कार्य होता है उसमें बाह्य और अभ्यन्तर उपाधि की समग्रता नियम से पायी जाती है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य और उसकी बाह्य-अभ्यन्तर सामग्री इन तीनों की युगपत् प्राप्ति प्रत्येक समय में होती रहती है, ऐसी वस्तु व्यवस्था है।(137) और भी कहा गया है कि- "सर्व पदार्थों के समस्त भेदों में नियम से बाह्य व अभ्यन्तर निमित्तों के द्वारा परिणामादिक वृतियाँ होती हैं।"(138) पूज्यपाद स्वामी ने दोनों कारणों के सुमेल से कार्योत्पत्ति को बतलाया है- "अंतरंग और बहिरंग निमित्त के वश से प्रतिसमय जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है, वह उत्पाद है।"(139) इस प्रकार जैन-आचार्यों ने प्रत्येक कार्य में अपने उपादान के साथ अभ्यन्तर व्याप्ति और निमित्तों के साथ बाह्य व्याप्ति स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है। इस पर आचार्य अमृतचंद ने भी प्रकाश डालते हुए कहा है कि - 'निश्चय से स्व ही अथवा पर ही एकमात्र कारण नहीं है, अपितु कार्य की सिद्धि में उभयकारणों की विद्यमानता रहती है।'(140)

यद्यपि यह बात सत्य है कि उभय कारणों की विद्यमानता में ही कार्य सम्पन्न होता है, परन्तु ज्ञानियों की दृष्टि में अभ्यंतर हेतु मुख्य होता है और बाह्य हेतु गौण रहता है। आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट रूप घोषित किया है कि 'हे जिनेन्द्र !' गुण-दोष की उत्पत्ति में बाह्य वस्तु निमित्त मात्र है तथा अभ्यतंर कारण उपादान उसका मूल हेतु है। अध्यात्म-मार्गी के लिए वह अभ्यन्तर कारण ही पर्याप्त है।(141) वह उसकी दृष्टि में बाह्य कारण की सन्निधि गौण रूप से स्वीकार्य है। उपादान कारण की मुख्यता के सन्दर्भ में निम्न कथन भी ध्यान देने योग्य है - "उपादान की शक्ति सर्वत: प्रधान होती है, क्योंकि उसके अभाव में निमित्त किसी के साथ जबरदस्ती नहीं कर सकता है।"(142)

इससे स्पष्ट होता है कि कार्य की निष्पत्ति में उभय कारणों की अनिवार्यता होने पर उपादान कारण ही कार्य का मूल व समर्थ कारण है अत: ज्ञानीजन उपादान कारण को ही मुख्य हेतु मानते हैं और निमित्त कारण की गौणता स्वीकार करते हैं।

22. कार्य-कारण के सम्बन्ध में अनेकान्त :-

एक सामान्य सिद्धान्त है कि 'कारण के समान कार्य होता है, किन्तु यह कोई एकान्त नियम नहीं है'(143) राजवार्तिक में आचार्य अकलंक ने इसका स्पष्टीकरण किया है- 'जैसे घट अपने उपादान कारण मिट्टी के पिण्ड के कथंचित् सदृश है और कथंचित् असदृश है। दोनों मिट्टी रूप है, अजीव है आदि कारणों से घट अपने कारण के समान है, किन्तु मिट्टी और घट का आकार भिन्न होने से घट अपने कारण के अनुरूप नहीं है। जो यह मानते हैं कि कार्य सर्वथा अपने कारण के अनुरूप होता है, उसके मत से घट से

पानी लाने का काम नहीं होना चाहिए क्योंकि मिट्टी का पिण्ड यह काम नहीं कर सकता। अत: एकान्त से कार्य-कारण के सदृश नहीं होता।"[144]

'धवला' में भी यही प्रतिपादित किया गया है कि "यदि कारण के सर्वथा समान कार्य हो तो मिट्टी के पिण्ड से मिट्टी का पिण्ड ही उत्पन्न हो सकेगा। घट, घटी, सकोरा, लोटा आदि उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। अत: घट अपने उपादान कारण मिट्टी के पिण्ड के कथंचित् सदृश और कथंचित् असदृश होता है"[145] अर्थात् कार्य अपने कारण से कथंचित् भिन्न व कथंचित् अभिन्न होता है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि जैनदर्शन के अनुसार अकर्ता निमित्त और कर्ता उपादान इन दोनों के कारणपूर्वक कार्य होता है। अत: लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की व्यवस्था को अविरुद्ध रूप से कायम रखने के लिए निमित्तोपादान जैनदर्शन की कारण-कार्य व्यवस्था की रीढ़ है। निमित्तोपादान के बिना जैनदर्शन की कारण-कार्य व्यवस्था रूपी ढाँचे गतिशील रखना तो दूर, उसके खड़े होने की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

निष्कर्ष :-

अंत में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि जैनदर्शन में मान्य निमित्तोपादान की अवधारणा अनेकान्तमयी वस्तुव्यवस्था का प्रगटीकरण करती है। एक ओर वह कारण-कार्य संबंधी सत्यकार्यवादी व असत्कार्यवादी एकांगी अवधारणाओं का निराकरण कर उपादान कारण (द्रव्य) को नित्य व अनित्य दोनों रूपों को स्वीकृत करती है जिससे कार्य की उत्पत्ति में कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता है। दूसरी ओर, निमित्त कारणों (प्रेरक-उदासीन) की अनिवार्यता को स्वीकार करने पर भी वह कार्य का कर्ता नहीं है, कर्ता तो मात्र एक उपादानकारण ही है, इस मान्यता की पुष्टि कर कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता अर्थात् उपादान की स्वशक्ति सामर्थ्य ही कार्य की निष्पन्नता में पूर्ण स्वाधीन व स्वतंत्र है, ऐसी वस्तु की व्यवस्था है। वस्तु की ऐसी स्वतंत्र व स्वसंचालित व्यवस्था ही वस्तुस्वातंत्र्य है, जो कि निमित्तोपादान का निहितार्थ है।

23. निमित्तोपादान मीमांसा द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि :-

निमित्त व उपादान कारण (कार्य-कारण मीमांसा) के उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निमित्तकारण अपने से भिन्न उपादान के परिणमन में सहकारी होने पर भी उसका किचिंत् मात्र भी कर्ता नहीं है। उपादान कारण पूर्ण तथा स्वतंत्र, स्वाधीन व स्व-शक्ति सामर्थ्य से युक्त है, क्योंकि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य के कार्य अथवा परिणमन में पूर्णत: असमर्थ है। वस्तुत: (उपादानकारण) वह पदार्थ है जो स्वयं कार्य रूप से परिणमित होता है।[146] जो स्वयं कार्य रूप परिणमन शक्ति से रहित है, वह कर्ता कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। एक कार्य (परिणमन) के दो कर्ता कदापि नहीं हो सकते तथा एक द्रव्य युगपत् एक काल में दो कार्य (अपना व पर का) नहीं कर सकता।[147] अर्थात् प्रत्येक स्वतंत्र रूप से अपना कार्य स्वयं अपनी शक्ति से करता है, क्योंकि द्रव्य में स्वयं स्वतंत्र परिणमन की शक्ति न हो तो उसे अन्य के द्वारा परिणमित

नहीं कराया जा सकता। क्योंकि जो शक्ति स्वत: न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता और स्वयं अपनी शक्ति से परिणमित होते हुए को अन्य के परिणमने की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती।[148] इसके आधार से हम कह सकते हैं कि यदि उपादान कारण में स्वयं योग्यता या सामर्थ्य न हो तो परद्रव्यरूप निमित्त उसे उस योग्यता रूप में परिणमित नहीं कर सकता। विश्व के समस्त द्रव्य अपनी-अपनी ध्रुव व क्षणिक योग्यता रूप उपादान सामर्थ्य से भरपूर हैं। स्वयं सामर्थ्यवान होने से उनको किसी भी परद्रव्य की मदद, सहायता की आवश्यकता नहीं होती। कहा भी गया है कि - "कालादि लब्धियों तथा नानाशक्ति से युक्त द्रव्य को स्वयं परिणमन करने में कौन रोक सकता है ?"[149]

कार्य की उत्पत्ति के समय तदनुकूल निमित्त उपस्थित अवश्य रहता है, किन्तु वह स्वयं शक्ति सम्पन्न उपादान को कार्यरूप परिणमित नहीं कराता है। अत: एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य को करने में पूर्णत: असमर्थ है, अकर्ता है, यही वस्तु की स्वतंत्रता है और स्वतन्त्र वस्तु-व्यवस्था में पर का किंचित् मात्र हस्तक्षेप नहीं है।

यह जगत् प्रसिद्ध तथ्य है कि पराधीनता से बढ़कर कोई दु:ख नहीं है। तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' में कहा है - "पराधीन सपने सुख नाहीं, कर विचार देखो मन मांही।" और कहा भी गया है - "जीवानां पराधीनात् जीवनात्तु मरणं वरम्" अर्थात् पराधीन जीवन से तो मरण अच्छा है। परंतु सामान्यत: लोगों की दृष्टि बाह्य अनुकूल निमित्तों पर टिकी रहती है और उन्हें लगता है कि बाह्य निमित्तों से सारा कार्य सम्पन्न होता है। यदि मुझे बाह्य अमुक-अमुक अनुकूल निमित्त मिल जाता तो मैं अमुक-अमुक कार्य कर सकता था। पर वे स्वयं अपनी उपादानगत सामर्थ्य की ओर ध्यान नहीं देते और कार्य की असफलता का दोष निमित्तों पर डालकर पराधीनता का मार्ग अपनाते हैं। उनकी यह पराधीन दृष्टि समस्त दु:खों व आकुलता की जननी है तथा वस्तुस्वातंत्र्य की मूलधारणा के विपरीत है।

उपादान की शक्ति व सामर्थ्य से कार्य होता है, यह बात विश्व के महानतम् व्यक्तियों के जीवन चरित्र से भी प्रमाणित होती है कि उन्होंने किस प्रकार बाह्य अनुकूल साधनों (निमित्तों) के अभाव में स्वयं की उपादानगत योग्यता बल पर सफलतायें अर्जित की और जीवन की सर्वोच्च उपलब्धियाँ प्राप्त की और उनका जीवन विश्व पटल पर जनसामान्य के लिए उदाहरण बन गया है उनका जीवन इस बात का प्रमाण है कि यदि उपादान में स्वयं शक्ति व सामर्थ्य हो तो सहकारी बाह्य निमित्त स्वत: ही प्राप्त हो जाते हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता है।

(1) अब्राहिम लिंकन, अल्बर्ट आइन्सटीन, मेडम क्यूरी, धीरुभाई अम्बानी, वर्तमान राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम आदि अनेक उदाहरण हमारे समक्ष उपस्थित हैं जो इस तथ्य का प्रगटीकरण करते हैं कि लौकिक जीवन में भी उपादान गत सामर्थ्य से कार्य होता है, मात्र बाह्य निमित्तों की अनुकूलता से नहीं।

(2) 14 जुलाई 2003 के 'आउटलुक' के अंक में "अभाव में निखरती प्रतिभायें" शीर्षक से कक्षा 10 वीं व 12 वीं की बोर्ड परीक्षाओं में उच्चतम अंकों से उत्तीर्ण उन

छात्र-छात्राओं की दास्तान बतलायी है जिन्होंने नितांत अभावों में अध्ययन जारी रखते हुए अपनी आंतरिक योग्यता व प्रतिभा के बल पर उच्चतम अंक प्राप्त कर सफलता अर्जित की। उन छात्र-छात्राओं ने लालटेन व स्ट्रीट लाइट में पढ़कर स्वयं अर्थाजन करते हुए यह गौरवपूर्ण सफलता अर्जित की है। उनकी यह सफलता इस तथ्य का प्रतिपादन करती है कि कार्य सदैव अपनी उपादान गत सामर्थ्य और योग्यता से होता है केवल बाह्य निमित्तों से नहीं। बाह्य निमित्त तो कार्य होने में सहकारी मात्र है। इससे देह निष्कर्ष का प्रादुर्भाव होता है कि लौकिक व परमार्थिक प्रत्येक कार्य की सम्पन्नता में उपादान भी स्वसामर्थ्य ही महत्वपूर्ण है, वास निमित्त नहीं।

(3) इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैनदर्शन की निमित्तोपादानवादी कार्य-कारण मीमांसा कार्य के प्रति कारण की प्रस्थिति और भूमिका को एक ऐसी मूलगामी दृष्टि से व्याख्यायित करता है जिससे कार्य-कारण नियम में आबद्ध जीवन और जगत् के अन्दर से ही स्वातंत्र्यमूलक वस्तु-व्यवस्था का प्रस्फुटन होता है। इति विषयक जैनदर्शन की यह विशिष्टता है कि कार्य-कारण नियम के आधीन जीवन और जगत् में भी वह निर्विघ्न रूप से स्वातंत्र्य की प्रतिष्ठा करता है, जबकि अन्य दर्शनों में इस तथ्य पर ध्यान दिया जाना सम्भव नहीं हुआ है।

संदर्भ-सूची

(1) डॉ. नंदकिशोर शर्मा : भारतीय दार्शनिक समस्यायें, पृ. 122

(2) काल: स्वभावो नियतिर्यद्दच्छा, भूतानि योनि: पुरुष इति चिन्तयनम्।
संयोग एवां न त्वात्मभावात्, आत्माप्यनीश: सुख दु:ख हेतो: ॥
श्वेताश्वतर उपनिषद् 1/2.

(3) अथर्ववेद, काण्ड 18, सूत्र 53.

(4) काल: सृजाति भूतानि काल: संहरते प्रजा: ।
काल: सप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रम: ॥
महाभारत (आदिपर्व) 1/248.

(5) कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदेभूदं।
जागत्ति हि सत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदु कालो॥
गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा 879.

(6) डॉ. महेन्द्र जैन : जैनदर्शन, पृ. 80.

(7) क: कण्टकानां प्रकरोति तैक्षण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणा च।
स्वभावत: सर्वमिदं प्रवृतं न कामाचारोऽस्ति कुत: प्रयत्न: ॥
सूत्रकृतांग सूत्र, पृ. 146.

(8) अगुत्तरनिकाय, जिल्द 1, पृ. 286.
द्वारा - बलदेव उपाध्याय : बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ. 31.

(9) प्राप्तव्योनियति बलाश्रयेण योऽर्थ:, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभोवा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाश: ॥
सूत्रकृतांग टीका 1/1/2.

(10) न्यायसूत्र 4/1/22.

(11) असद्करणादुपादान गृहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥
सांख्यकारिका, कारिका 9.

(12) प्रमेयरत्नमाला, पृ. 252.

(13) प्रो. उदयचंद जैन : न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन, पृ. 199.

(14) यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम् । यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणम् ।
तर्कभाषा, पृ. 24.

(15) (क) यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम् । यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारण् । वही, पृ. 39.

(ख) यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायि जनकं तत् ।
तत्रसन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात् ॥
कारिकावली, कारिका 18.

(16) निमित्तकारणं तदुच्यते यन्न समवायिकारणम्, नाप्यसमवायिकारणम् अथ च कारणम् । यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम् ।
तर्कभाषा, पृ. 42.

(17) डॉ. नंदकिशोर शर्मा: भारतीय दार्शनिक समस्यायें, पृ. 131.

(18) क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-2, पृ. 56.

(19) मुनि दुलहराज (संपा.) : जैनदर्शन मनन एवं मीमांसा, पृ. 654.

(20) माध्यमिक वृति, पृ. 9 द्वारा - बलदेव उपाध्याय : बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ. 70.

(21) (क) स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डकः ।
पूर्वापरान्तयौर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणाः ॥
अभिधर्मकोश 3/20.

(ख) यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम् ।

(22) (क) डॉ. नंदकिशोर शर्मा: भारतीय दार्शनिक समस्यायें, पृ. 124.

(ख) डॉ. महेश भारतीय: भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्यायें, पृ. 72.

(23) क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृ. 73.

(24) त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वारूपेण वर्तते ।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमितिस्मतम् ॥
अष्टसहस्त्री मूल, कारिका 58 की टीका, पृ. 210.

(25) यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा ।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ॥
अष्टसहस्त्री मूल, कारिका 58 की टीका, पृ. 210.

(26) नित्यवैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपद्यते ।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥
आप्तमीमांसा, कारिका 37.

(27) यदि सत्सर्वथा कार्यंपुंवन्नोत्पत्तुमर्हति ।
परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्त बाधिनी ॥
वही, कारिका 39.

(28) प्रो. उदयचंद जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 196-198.

(29) यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत् ।
मोपादाननियामोऽभून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥
आप्तमीमांसा, कारिका 42.

(30) न हेतुफलभावादिरन्य भावारनन्वयात् ।
संतानान्तरवन्नेकः संतानस्तद्वतः पृथक् ॥
वही, कारिका 43.

(31) प्रो. उदयचंद जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 206

(32) जं वत्थु अणेयंतं, तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।
वहुधम्मजुदं अत्थं, कज्जकरं दीसदे लोए॥
एयंतं फुणु दव्वं, कज्जं ण करदि लेसमेत्रं पि।
ज पुणु ण करदि कज्जं, तं बुच्चदि केरिसं दव्वं॥
कार्तिकियानुप्रेक्षा, गाथा 225-226.

(33) द्रव्यपर्यायशक्तयात्मकत्वात्।
प्रमेयकमलमार्तण्ड, 2, 1 पृ. 187.
द्वारा- पं. फूलचंद सिद्धान्त शास्त्री : खानिया तत्त्वचर्चा, पुस्तक 2,पृ. 385

(34) एवं सदो विणासो असदो जीवस्य णत्थि उत्पादो।
पंचास्तिकाय, गाथा 19.

(35) एवं सदो विणासो असदो जीवस्स हवदि उत्पादो।
इदि जिणवरेहिं भणिदं अणणोण्ण विरुद्धमविरुद्धं॥
वही, गाथा 54.

(36) "अर्यते गम्यते निष्पाद्यते इत्यर्थकार्यम्" जो निष्पादन या प्राप्त किया जाय, उसे कार्य कहते हैं।
राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 1, सूत्र 33.

(37) यत्कारणादुपलभ्यते तत् कार्यम्। वही, भाग 1, अध्याय 1, सूत्र 33.

(38) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 136, पृ. 37.

(39) सवत्थकारणाणुसारिकज्जुवलंभादो।
धवला, पुस्तक 10, खण्ड 4, भाग 2, सूत्र 175.

(40) क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृ. 51.

(41) जेण विणा जं ण होदि चेव तं तस्सकारणं।
धवला, पुस्तक 14, खण्ड 5, भाग 6, सूत्र 96.

(42) साधनं कारणम्।
राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 1, सूत्र 7.

(43) साधनमुत्पत्तिनिमित्तं।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 7.

(44) (क) यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत्वस्य कारणम्।
धवला, पुस्तक 12, खण्ड 4, भाग 2, सूत्र 13.
(ख) यस्मिन सत्येव च यद्भाव: तत्कार्यमितरत् कारणम्।
सिद्धिविनिश्चयवृत्ति 3/10.

(45) जस्स अण्ण विदिरेगेहि णियमेण जस्सण्णय विदिरेगा उवलंभंति तं तस्स कज्जमियदं च कारणं।
धवला, पुस्तक 7, खण्ड 2, भाग 1, सूत्र 7.

(46) (क) द्विविधो हेतुर्बाह्य अभ्यन्तरश्च।
राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 2, सूत्र 8.
(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 138, पृ. 38.

(47) (क) वही, प्रश्न 139, पृ. 38.
(ख) द्रव्यगच्छतीति द्रव्यं कारणम्।
राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 1, सूत्र 33.

(48) उपादान निजशक्ति है, जियको मूल स्वभाव।
भैया भगवतीदास: उपादान-निमित्तसंवाद, दोहा 3.

(49) शक्तस्यशक्यकरणात् कारणभावाच्च।
धवला, पुस्तक 12, खण्ड 4, भाग 2, सूत्र 8.

(50) स्वयंभूस्त्रोत, पद्य 60

(51) स्वभावेनांतरङ्गसाधन ..... ।
प्रवचनसार, गाथा 95 की तत्त्वप्रदीपिका टीका, पृ. 180.

(52) पंचास्तिकाय, गाथा 90 की समयव्याख्या टीका.

(53) य: परिणमति स: कर्ता ।
समयसार कलश, श्लोक 51, पृ. 49.

(54) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 141, पृ. 39.

(55) है निमित्त परयोग तैं, बन्यो अनादिं बनाव ।
भैया भगवतीदास: उपादान-निमित्त संवाद, दोहा 3.

(56) श्लोकवार्तिक, भाग 2, अध्याय 1, सूत्र 2, पृ. 28.

(57) प्रत्यय: कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम् ।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 21.

(58) जीव परिणामहेदुं कम्मतं पोग्गला परिणमंति ।
समयसार, गाथा 80.

(59) राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 1, सूत्र 7.

(60) गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाणगमण सहयारी ।
द्रव्यसंग्रह, गाथा 17.

(61) पंचाध्यायी, (उत्तरार्द्ध) 41, 109.

(62) गतिस्थित्युपग्रहौधर्माधर्मयोरूपकार: ।
तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र 17.

(63) गतिपरिणामिनां जीव पुद्गलानां गत्युपग्रहे कर्तव्ये धर्मास्तिकाय: साधारणाश्रयो ... ।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5, सूत्र 17.

(64) वही, अध्याय 1, सूत्र 23.

(65) अनुग्राहक सम्बन्धविच्छदे .... ।
वही, अध्याय 6, सूत्र 11.

(66) जोगुवओगा उत्पादगा य स तेसि हवदि कत्ता ।
समयसार, गाथा 100.

(67) निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशोदृष्ट: ।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5, सूत्र 22.

(68) प्रेर्यमाणा: पुद्गला ... ।
वही, अध्याय 5, सूत्र 19.

(69) पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध), श्लोक 101.

(70) वही, श्लोक 360.

(71) समुचितबहिरंङ्गसाधन ... ।
प्रवचनसार, गाथा 95 की तत्त्वप्रदीपिका टीका.

(72) जीव पुद्लानामाश्रयकारणमात्र .... ।
पंचास्तिकाय, गाथा 88 की समयव्याख्या टीका.

(73) वही, गाथा 89, 93, 94.

(74) तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ।
अष्टसहस्त्री मूल, पृ. 210.

* **अनंतरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय** - समय मात्र का अंतर छोड़े बिना जो पूर्वसमय की पर्याय है उसे अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती कहा जाता है ।

(75) पूर्वाकार परित्यागा अजहद्वृतोत्तराकारान्वय प्रत्यय विषस्योपादानात्व प्रतीते:।
अष्टसहस्त्री, भाग-1, कारिका 6 की टीका, पृ. 369.

(76) जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, द्वितीय भाग, पृ. 71.

(77) नियतपूर्वक्षणवर्तित्वं कारणंलक्षणम् ।
नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम् ॥
अष्टसहस्त्री मूल, टिप्पण पृ. 211.

(78) पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तरपरिणाम जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥
कार्तिकियानुप्रेक्षा, गाथा 230.

(79) पं. फूलचंद सिद्धान्त शास्त्री : जैनतत्त्वमीमांसा, पृ. 75.

(80) जैनसिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, द्वितीय भाग, पृ. 72.

(81) सर्वेषामेव तेषां पूर्वोत्तरकालभाव्यवस्था विशेषार्थणाभेदादेकस्य कार्यकारणशक्तिसमन्वयो च विरोधस्यास्पदमित्यविरोध सिद्धिः ।
राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 1, सूत्र 6.

(82) उपज्जंतो कज्जं कारणमप्पा णियं तु जणयंतो ।
तम्हा इह ण विरुद्ध एकस्स व कारणं कज्जं ॥
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 366.

(83) उपअभिन्नत्वेन तन्मयत्वेन आदानं धारणं यत्र तदुपादानम् ।
अष्टसहस्त्री मूल, टिप्पण पृ. 210.
द्वारा-डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री : वीतरागता-एक समीचीन द्रष्टि, पृ. 35.

(84) पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम् अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्, स एवैकः कार्यकारणव्यपदेशभागिति पर्यायार्थिकः ।
राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 1, सूत्र 53.

(85) यौग्यतैवविषयप्रतिनियमकारणमिति ।
अध्यात्म न्यायदीपिका, अध्याय 2, अनुच्छेद 5, पृ. 67.

(86) (क) जैन सिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, द्वितीय भाग, पृ. 214.
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), भाग -2, गाथा 580.
(ग) प्रवचनसार, गाथा 169.

(87) देवेन्द्र कुमार जैन (संपा.) : 'निमित्तोपादानविवेचन,' वैद्य गंभीरचंद जैन (अनु.), पृ. 254.

(88) योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्तिः । कार्यं हि कारणजनत्वशक्तिस्त्तस्याः प्रतिनियमाः । शालिबीजांकुरयोः भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्येति कथ्यते । श्लोकवार्तिक, गाथा 78.
द्वारा - पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री : जैनतत्त्वमीमांसा पृ. 123.

(89) जैनसिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, द्वितीय भाग, पृ. 131.

(90) वही, पृ. 131.

(91) वही, पृ. 132.

(92) (क) पंचास्तिकाय, गाथा 85 की समयव्याख्याटीका
(ख) गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो ठोई ॥
द्रव्यसंग्रह, गाथा 17.

(93) (क) एवः पुनः स्थितिक्रियायुक्तानां पृथिवीवत्कारणभूतः ।..... जीव वपुदलानामुदासीनाविनाभूत- सहायकारणमात्रत्वेन स्थितिमनुग्रहातीति ।
पंचास्तिकाय, 86 की समयव्याख्याटीका.
(ख) ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥
द्रव्यसंग्रह, गाथा 18.

* **बलाधान निमित्त**-निष्क्रिय होने पर भी जिनका क्रिया हेतुत्व नष्ट नहीं होता उसे बलाधान निमित्त कहते हैं।

(94) राजवार्तिक, भाग-2, अध्याय 5, सूत्र 17.

(95) (क) अवगासदाणजोगां जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥
द्रव्यसंग्रह, गाथा 19.

(ख) पंचास्तिकाय, गाथा 90 की समयव्याख्याटीका।

(96) वही, गाथा 24 की समयव्याख्या टीका।

(97) य ण परिणमदि सयं सो ण य परिणामेड़ अण्णमण्णेहि।
विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदू ॥
गोम्मटसार (जीवकाण्ड), भाग -2, गाथा 570.

(98) न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।
समयसार, गाथा 116-120 की आत्मख्यातिटीका।

(99) यथा कुण्टस्य गतिपरिणामसमर्थस्य यष्टिरूपग्राहिका न तु सा तस्य गतेः कर्त्री। ... तथा आत्मपुद्गलानामपि स्वयमेव गतिस्थिति परिणामिनां धर्माधर्मनुपग्राहकौ गतिस्थित्योर्न कर्तारौ।
राजवार्तिक, भाग 2, अध्याय 5, सूत्र 17.

(100) विज्जदि जेसि गमणं ठाण पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहि दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥
पंचास्तिकाय, गाथा 89

(101) (क) जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपध पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥
पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक 12.

(ख) जीव परिणाममात्रं बहिरंगसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितार-मन्तरेणामि कर्मत्वपरिणमनशक्ति-योगिनः पुद्गल स्कंधाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति।
प्रवचनसार, गाथा 169 की तत्त्वप्रदीपिका टीका.

(102) परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥
पुरुषार्थसिद्धि उपाय, गाथा 13.

(103) डॉ. उत्तमचंद जैनः आचार्य अमृतचंद्र व्यक्तित्व व कृतित्व, पृ. 474.(104)
यदायमात्मा रागद्वेष वशीकृता शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योग .... । अतः स्वभाव कृतं कर्मणां वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम्।
प्रवचनसार, गाथा 187 की तत्त्वप्रदीपिका टीका।

(105) डॉ. हुकमचंद भारिल्लः निमित्तोपादान, पृ. 13.

(106) श्लोक 35.

(107) इष्टोपदेश (पं. आशाधर की टीका), पृ. 90.

(108) पं. बनारसीदास : बनारसी विलास, दोहा 1-2, पृ. 221.

(109) वही, दोहा, 5-6, पृ. 222.

(110) डॉ. उत्तमचंद जैन : आचार्य अमृतचंद्र व्यक्तित्व व कृतित्व, पृ. 475.

(111) कुलालः कलशं करोति, अनुभवति चेति लोकानामानादि रूढोस्ति तावद् व्यवहारः।
समयसार, गाथा 106 -107 की आत्मख्याति टीका।

(112) डॉ. देवेन्द्र शास्त्री : वीतरागता एक समीचीन दृष्टि, पृ. 48.

(113) जैन सिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, द्वितीय भाग, पृ. 145.

(114) समयसार, गाथा 82 की आत्मख्याति टीका।

(115) डॉ. उत्तमचंद जैन : आचार्य अमृतचंद्र व्यक्तित्व व कृतित्व पृ. 477.

(116) जीवपरिणामहेदुं कम्मतं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥
समयसार, गाथा 80-81.

(117) न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांत:।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥
समयसार कलश, श्लोक 175.

(118) पं. कैलाशचंद शास्त्री : जैनसिद्धान्त, पृ. 54.

(119) मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. 25.

(120) रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनी शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धय: ॥
समयसार कलश, श्लोक 221.

(121) मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 244.

(122) डॉ. उत्तमचंद जैन : आचार्य अमृतचंद्र व्यक्तित्व व कृतित्व, पृ. 478.

(123) यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रतिगृहीताभ्यन्तरसामर्थ्य: बाह्यकुलाल-दण्डचक्र सूत्रोदककाला-काशघनेकोपकरणापेक्ष: घट पर्यायेणाऽडविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्ड: कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन बिना घटात्मनाविर्भवितुं।
राजवार्तिक, भाग 2, अध्याय 5, सूत्र 17

(124) प्रकाश हितैषी, 'जैनदर्शन की कार्यकारण व्यवस्था', सन्मति संदेश, दिल्ली, जनवरी 2002, पृ. 2.

(125) ण चोवायाणकारणेण विणा कुज्जुप्पत्ती विरोहादो।
धवला, पुस्तक 9, खण्ड 4, भाग 1, सूत्र 44.

(126) विवक्षित स्वकार्य करणेन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णम्।
श्लोकवार्तिक, पृ. 70.
द्वारा - पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री : जैनतत्त्वमीमांसा, पृ. 83.

(127) जैनसिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, द्वितीय भाग, पृ. 72-73.

(128) यथा मृद: स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्येदण्डचक्रपौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति। ....भवति न दण्डादय: इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वम्।
राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 1, सूत्र 20.

(129) पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री : खानियातत्त्वचर्चा, पुस्तक 2, पृ. 384.

(130) तम्हा कम्हि वि अंतरंगकारणादो चेव कज्जुपत्ती होदि ति णिच्छओ कायव्वो।
धवला, पुस्तक 6, खण्ड 1, भाग 9, सूत्र 6.

(131) मोक्षमार्ग प्रकाशक, परिशिष्ट 4, पृ. 356.

(132) भैया भगवतीदास : उपादाननिमित्त संवाद, दोहा 3.

(133) डॉ. हुकमचंद भारिल्ल : निमित्तोपादान, पृ. 78.

(134) भावानां द्रव्यपर्यायशक्तयात्मकत्वात्। तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव अनादिनिधन स्वभावत्वाद् द्रव्यस्य।...सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंग: सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यवा।
प्रमेयकमलमार्तण्ड, 2, 1, पृ. 187.
द्वारा-पं. फूलचंद सिद्धान्त शास्त्री : खानिया तत्त्वचर्चा, पुस्तक 2, पृ. 385.

(135) तत्त्वान्तरभूतयोस्तदनुपलभ्भात् ।
अष्टसहस्त्री, भाग 1, कारिका 6, पृ. 369.

(136) बाह्येत्तरोपाधि समग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगत: स्वभाव: ।
स्वयंभूस्त्रोत, पद्य 60.

(137) पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री, 'षटकारक व्यवस्था', सन्मति संदेश, नई दिल्ली, जुलाई 1974.

(138) सव्वाणं पयत्थाणं णियमा परिणाम पहुदि वित्तीओ ।
बहिरंतरंगहेदुहु सव्वब्भेदेसु वट्टंति ॥
तिलोयपण्णति, अधिकार 4, गाथा 281.

(139) उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरवाप्तिरुत्पाद: नमुत्पाद: ।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 5, सूत्र 30.

(140) (क) न किल स्वमिहैक कारणं न तवैक: पर एव वा भवन् ।
स्वपरावलम्व्य वल्गतो द्वितयं कार्यत् एवं कारणम् ॥
लघुतत्त्वस्फोट, अध्याय 15, पद्य 15.

(ख) अनन्तभावावलिका स्वतोऽन्यत: समस्त वस्तुश्रियमभ्युदीयते ।
जडात्मनस्तत्र न जातु वेदनाभावान् पुनस्तां विचिनोति कात्स्यनर्यत: ॥
वही, अध्याय 4, पद्य 4.

(141) यद्वस्तु बाह्य गुणदोष सूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतो: ।
अध्यात्मवृतस्य तदङ्गभूतमध्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥
स्वयंभूस्त्रोत, पद्य 59.

(142) क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी: जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग - 2, पृ. 51.

(143) 'कारणसदृशं हि लोके कार्यदृष्टम्' इति नैतदैकान्तिकम् ।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 20.

(144) यथा घट कारणेन मृत्पिण्डेन स्यात्सदृश: स्यान्न सदृश: इत्यादि । .... अपि च मृत्पिण्डस्य घटत्वेन परिणामवद् घटस्यापि घटत्वेन परिणाम: स्यात् एकान्तसदृशत्वात् । न चैवं भवति । अतोनैकान्तेन कारणसदृशत्वम् ।
वही, अध्याय 1, सूत्र 20.

(145) धवला, पु. 15, पृ. 16
द्वारा - क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी: जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृ. 57-58.

(146) य: परिणमति स कर्ता ।
समयसार कलश, श्लोक 51.

(147) नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥
वही, श्लोक 54.

(148) स्वयमपरिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत; न हि स्वतोऽसती शक्ति कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत; न हि वस्तुशक्तय: परमपेक्षंते।
समयसार, गाथा 116-120 की आत्मख्याति टीका.

(149) कालाइलद्धि जुत्ता णाणा सत्तीहि संजुदा अत्था ।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 219.

अध्याय - तीन
अहिंसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1 अध्याय का प्रतिपाद्य विषय
2 अहिंसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य
3 अहिंसा की व्युत्पत्ति
4 जैनेत्तर परम्परा में अहिंसा सिद्धान्त
(क) वेदों में अहिंसा का स्वरूप
(ख) उपनिषदों में अहिंसा का स्वरूप
(ग) मनुस्मृति में अहिंसा सिद्धान्त
5 सूत्रों में वर्णित अहिंसा का स्वरूप
(क) गृह्यसूत्रों व धर्मसूत्रों में वर्णित विधि विधान
6 महाकाव्यों में अहिंसा का स्वरूप
(क) रामायण में वर्णित अहिंसा का स्वरूप
(ख) महाभारत में वर्णित अहिंसा का स्वरूप
(ग) गीता में वर्णित अहिंसा का स्वरूप
7 पुराणों में वर्णित अहिंसा का स्वरूप
8 वैदिक दर्शनों में अहिंसा का स्वरूप
(क) न्याय-वैशेषिक दर्शन में अहिंसा सिद्धान्त
(ख) सांख्य-योग दर्शन में अहिंसा सिद्धान्त
(ग) पूर्वमीमांसा दर्शन में अहिंसा सिद्धान्त
(घ) वेदान्त (उत्तरमीमांसा) में प्रतिपादित अहिंसा सिद्धान्त
(ङ) विशिष्टाद्वैत व शुद्धाद्वैत का अहिंसा संबंधी दृष्टिकोण
(च) बौद्धदर्शन में वर्णित अहिंसा सिद्धान्त
9 गाँधी दर्शन में अहिंसा सिद्धान्त
10 जैनदर्शन में प्रतिपादित अहिंसा सिद्धान्त
(क) हिंसा का स्वरूप
(ख) हिंसा के प्रकार
(ग) जीव की प्राणशक्ति से कथंचित् भिन्नता व अभिन्नता
(घ) हिंसा के भंग
(ङ) केवल प्राणघात हिंसा का लक्षण मानने पर दोषों की उत्पत्ति
(च) हिंसा के भेद
(छ) गृहस्थ जीवन में विद्यमान हिंसा का स्वरूप
(ज) वेद प्रणीत हिंसा भी हिंसा है
11 अहिंसा का स्वरूप
12 अहिंसा सिद्धान्त द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि

अहिंसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1. अध्याय का प्रतिपाद्य विषय :-

इस अध्याय के अन्तर्गत सर्वप्रथम 'अहिंसा' शब्द की व्यौत्पत्तिक व्याख्या करते हुए प्राचीनतम वेदों से लेकर महाकाव्यों के युग तक हिंसा-अहिंसा का क्या स्वरूप रहा है उस पर प्रकाश डाला जाएगा। तत्पश्चात् भारतीय दर्शनों एवं गाँधी दर्शन में मान्य अहिंसा का स्वरूप विवेचित किया जाएगा। इसी क्रम में जैनदर्शन में मान्य हिंसा की अवधारणा का विस्तृत विवेचन करते हुए 'वेद विहित हिंसा भी हिंसा है' इसको प्रमाणित कर जैनदर्शन प्रणीत अहिंसा के उस सूक्ष्म व गहन स्वरूप से अवगत कराने का प्रयास किया जाएगा, जिसके कारण उसे समस्त दर्शनों में प्रतिपादित अहिंसा की संकल्पना में विशिष्ट स्थान मिला है और अंत में अहिंसा सिद्धान्त किस प्रकार वस्तुस्वातंत्र्य से संबंद्ध है, जो कि इस अध्याय का मूल प्रतिपाद्य है इसका विवेचन करते हुए उपसंहार में अहिंसा के द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य को सिद्ध करने का प्रयास किया जाएगा।

2. अहिंसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य :-

सामान्यत: प्राणियों का घात हिंसा व प्राणियों के प्रति रक्षा भाव अहिंसा माना जाता है। प्राय: सभी दर्शन हिंसा व अहिंसा के सन्दर्भ में इसी अवधारणा को स्वीकृत करते हैं, परन्तु इसके विपरीत जैनदर्शन हिंसा-अहिंसा की इस अवधारणा को अत्यंत स्थूल मानता है तथा "**रागादिभावों की उत्पत्ति हिंसा है व उनका अभाव (उत्पत्ति न होना) ही अहिंसा है**"- ऐसी सूक्ष्म हिंसा व अहिंसा की अवधारणा को प्रतिपादित करता है। इस अध्याय के अन्तर्गत इस परिप्रेक्ष्य में विचार किया जांना है कि अहिंसा की अवधारणा की वस्तुस्वातंत्र्य से अन्विति कैसे है ? वस्तुस्वातंत्र्य का तात्पर्य प्रत्येक वस्तु के स्वतंत्र व स्वाधीन परिणमन से है, लेकिन हिंसा-अहिंसा का सिद्धान्त इस पूर्व मान्यता पर आधारित है कि एक जीव दूसरे जीव का कार्य कर सकता है अर्थात् एक जीव दूसरे जीव को मार अथवा बचा सकता है। प्रत्येक जीव का जीवन-मरण स्वाधीन न होकर, पराधीन है। इस मान्यता से परकर्तृत्व रूप अज्ञानमय प्रवृत्ति का पोषण होता है जो वस्तुस्वातंत्र्य की मूल भावना के विपरीत है। जिनागम में भी ऐसे अनेक कथन मिलते हैं जिसमें परजीवों की रक्षा करने व उनका घात न करने का उपदेश दिया गया है, परन्तु वह समस्त कथन मात्र व्यवहार नय का कथन है।

जैनदर्शन अनेकान्त की पृष्ठभूमि पर अवलंबित होने से उसके प्रत्येक कथन में विवक्षा भेद पाया जाता है। वस्तुस्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा की अवधारणा इस तथ्य का परिज्ञान कराती है कि कोई भी जीव अपने से भिन्न परजीव को न तो मार सकता हैं और न ही बचा सकता है, क्योंकि प्रत्येक जीव एक दूसरे के लिए सर्वथा अन्य जीव है। प्रत्येक जीव केवल परजीव को बचाने (रक्षा करने) व मारने के शुभ-अशुभ भाव को ही धारण कर सकता है, किन्तु परजीव का जीवन व मरण नहीं कर सकता। इसी बात को यदि व्यवहारनय से कहा जाए तो प्रत्येक जीव का जीवन-मरण उसके ही

कर्मोदय के आधीन है। इससे स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि जैनदर्शन प्रगीत अहिंसा की अवधारणा परकर्तृत्व का निषेध कर प्रत्येक जीव के परिणमन (जीवन-मरण) को स्वतंत्र, स्वाधीन स्वीकृत कर वस्तुस्वातंत्र्य का प्रतिपादन करती है।

3. अहिंसा की व्युत्पत्ति :-

'हिंसा' शब्द हननार्थक 'हिंसि' धातु से बना है। 'हिंसि' धातु से 'इदितो नुम धातो:'[1] इस सूत्र से नुम् प्रत्यय करने पर तथा ''अजाद्यतष्टाप्''[2] इस सूत्र से टाप् प्रत्यय करने पर 'हिंसा' शब्द निष्पन्न होता है। हिंसा शब्द का सामान्य अर्थ है - किसी भी प्राणी के प्राणों को हानि पहुँचाना या उनको शरीर से विमुक्त कर देना। हिंसा शब्द से 'नञ्' समास करने पर अहिंसा शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ है - हिंसा का अभाव या हिंसा न करना। इस प्रकार सामान्यत: हिंसा न करना या किसी प्राणों को दु:ख या कष्ट न पहुँचाना अहिंसा माना जाता है। यह अहिंसा का व्यौत्पत्तिक या शाब्दिक अर्थ है, जो अहिंसा के नकारात्मक या निषेधात्मक स्वरूप को अभिव्यक्त करता है।

4. जैनेत्तर परम्परा में अहिंसा सिद्धान्त :-

भारतीय संस्कृति में दो अर्न्तधारायें प्रवाहित होती रही हैं - वैदिक विचारधारा तथा श्रमण विचारधारा, जिन्हें वैदिक-संस्कृति एवं श्रमण संस्कृति कहा जाता है। चूँकि वैदिक संस्कृति में ब्राह्मण या पुरोहित अग्रणी समझे जाते हैं और इनके द्वारा निर्देशित कर्मकाण्ड का अन्य सनातन धर्मी अनुगमन करते हैं, अत: इसे ब्राह्मण संस्कृति के नाम से भी पुकारते हैं। वेद, उपनिषद, स्मृत्यादि इसके आधारग्रन्थ हैं। श्रमण-संस्कृति के आधार ग्रन्थ त्रिपिटक आदि हैं तथा जैन संस्कृति अपने आगमों पर आधारित है।

वैदिक परम्परा :-

वैदिक परम्परा वेद मूलक है। वैदिक-संस्कृति के वाहक वेदों की गणना विश्व की प्राचीनतम व उच्चतम कोटि के साहित्य में होती है। वेदों से प्राचीनतम धर्म, दर्शन, समाज व संस्कृति की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है जो हिंसा-अहिंसा के प्रति भी तत्कालीन दृष्टिकोण पर प्रकाश डालती है।

(क) वेदों में अहिंसा का स्वरूप -

वेदों में यज्ञीय हिंसा का समर्थन किया गया है और उसे हिंसा की कोटि में नहीं रखा गया है, बल्कि उसे 'धर्म' माना गया है। 'ऋग्वेद' के एक मंत्र 'यज्ञ के पांच (धान्य, सोम, पशु, पुरोडास व घृत) उपकरणों का वर्णन है।'[3] यद्यपि मंत्र में पांच उपकरणों के नाम स्पष्टत: नहीं दिये गये हैं लेकिन टीकाकारों ने उनके नामों को भी प्रकाशित किया है जिसमें 'पशु' भी एक उपकरण है जिसकी आवश्यकता यज्ञ में होती है।[4] इससे आगे के मंत्र में 'यूप' की चर्चा मिलती है जिसमें यज्ञ के पशु बाँधे जाते हैं[5] और यज्ञों में बलिस्वरूप मारे गये पशुओं (बैल, भेड़, बकरी) का मांस भोज्य सामग्री के रूप में प्रयुक्त होता था।[6] गाय को अवध्य व बहुत अच्छी सम्पत्ति माना जाता था लेकिन बाँझ गायों की बलि यज्ञ में दी जा सकती थी।[7] इससे प्रतीत होता है कि वेद यज्ञ में पशु हिंसा को स्वीकृति प्रदान करते हैं, परन्तु इसके साथ वेदों में कुछ स्थलों पर स्पष्ट या गौण रूप

से अहिंसा का भी प्रतिपादन हुआ है। ऋग्वेद में 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वत:' इस मंत्र के द्वारा यह कहा गया है कि मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह एक दूसरे की रक्षा करे।[8]

अथर्ववेद में भी यह भावना व्यक्त की गयी है कि 'भगवान ! आपकी कृपा से में सभी मनुष्यों के प्रति चाहे में उनसे परिचित होऊँ अथवा नहीं, सद्भाव रखूं।'[9] यजुर्वेद में भी प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव रखने[10] एवं सम्पूर्ण विश्व में शान्ति हो, ऐसी मंगल कामना की गयी है।[11]

इस प्रकार वैदिक धर्म के प्रमुख प्रतिपाद्य ग्रंथ वेदों में परस्पर विरोधी दृष्टिकोण देखने को मिलता है। एक ओर यज्ञीय हिंसा का समर्थन कर मूक प्राणियों के कष्टों व दु:ख को नकारकर उनकी बलि को धर्म माना गया है, वहीं दूसरी ओर प्राणीमात्र के प्रति मित्रवत् दृष्टिकोण रखने व विश्वशान्ति का उद्घोष किया गया है।

(ख) उपनिषदों में अहिंसा का स्वरूप -

अहिंसा का सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादन सर्वप्रथम छान्दोगय-उपनिषद् में ही मिलता है।[12] इसमें कहा गया ह कि ''..... सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अन्त:करण में स्थापित कर शास्त्र की आज्ञा से अन्यत्र प्राणियों की हिंसा न करता हुआ वह निश्चय ही आयु की समाप्ति पर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।''[13]

उक्त मंत्र में अन्यत्र हिंसा न करने की जो बात कही गयी है उसका विभिन्न व्याख्याकारों ने यह अर्थ निकाला कि वैसे तो अहिंसा एक सामान्य नियम है, किन्तु तीर्थ स्थानों में यदि हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा वैध है, उसमें किसी पाप की शंका नहीं करनी चाहिए।[14] इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि सभी हिंसा अवैध नहीं होती, बल्कि कुछ हिंसा वैध भी हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त, लघुउपनिषदों में अहिंसा को सद्गुण व आत्मसंयम के प्रमुख साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्राणोग्निहोत्रोपनिषद् में अहिंसा को यज्ञ का इष्ट बताया गया है अर्थात् अहिंसाव्रत के लिए यज्ञादि किये जाते हैं।[15] आरुणिकोपनिषद् से बार-बार यह बात कही गयी है कि ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य आदि व्रतों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।[16] शाडिल्योपनिषद् में तो अहिंसा की गिनती दशयमों में की गयी है जिसमें इसे सर्वप्रथम स्थान दिया है।[17]

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उपनिषद् तीर्थ स्थानों में हुई हिंसा को वैध मानकर भी सर्वत्र अहिंसा के महत्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु हिंसा किसी भी स्थान विशेष पर क्यों न हो, उससे पाप रूप फल अवश्य ही उत्पन्न होगा।

(ग) मनुस्मृति में अहिंसा का स्वरूप -

मनुस्मृति, स्मृतियों में सर्वाधिक प्राचीन, चर्चित एवं महत्वपूर्ण है। यह वैदिक धर्म या ब्राह्मण परम्परा का पथ प्रदर्शन करती है। इसके पांचवे अध्याय में हिंसा-अहिंसा संबंधी वृहद् विवेचन प्राप्त होता है। मांस-भक्षण को प्रमुख रूप से हिंसा से जोड़ा जाता है और अहिंसक के लिए मांस-भक्षण सर्वथा वर्जित माना जाता है, परन्तु मनुस्मृति का मन्तव्य इस सन्दर्भ में पूर्णत: भिन्न है। वह मांसाहार को सर्वथा अनुचित नहीं मानती, बल्कि विशिष्ट अवसरों पर मांस-भक्षण के औचित्य का प्रतिपादन करती

है -''श्राद्ध और मधुपर्क में विधिवत् नियुक्त होने के बाद भी जो व्यक्ति मांस-खाने से इन्कार करता है उसे इक्कीस जन्म तक पशु होना पड़ता है।''(18) साथ ही, यज्ञ के लिए मांस-भक्षण की गणना 'देवी विधि' में की गयी है।(19) इसके विपरीत, यज्ञ से अन्यत्र मांस-भक्षण को राक्षसोचित कार्य माना गया है।(20) मनुस्मृति न केवल यज्ञकृत हिंसा की वैधता का प्रतिपादन करती है, बल्कि एक कदम आगे बढ़कर यह कहने का साहस करती है कि ''पशुओं का सृजन ब्रह्मा ने यज्ञों की समृद्धि के लिए ही किया है। अत: यज्ञ में किया गया वंध, वध नहीं होता और यज्ञ में मारे जाने पर पशु व पक्षियों का कल्याण होता है अर्थात् वे श्रेष्ठ जन्म धारण करते हैं।''(21) इसके साथ यज्ञकर्ता (ब्राह्मण) भी उत्तम गति को प्राप्त करता है।(22)

इसके अलावा मनुस्मृति वेदविहित हिंसा को हिंसा नहीं मानती है, क्योंकि धर्म वेद विहित है। अतएव इस चराचर में जो वेद विहित हिंसा नियत है उसे हिंसा न समझकर अहिंसा ही समझना चाहिए।(23) इसके विपरीत, दूसरी ओर यज्ञीय हिंसा के अतिरिक्त अन्य प्रकार की हिंसा का निषेध करती है और इसके भयंकर दुष्परिणामों से सावधान करती है कि ''जो पुरुष व्यर्थ में पशुओं की हिंसा करता है वह दूसरे प्राणियों के द्वारा उतनी बार मारा जाता है जितने पशु के शरीर पर रोम होते हैं।''(24)

यज्ञ स्थल पर एवं यज्ञ से बाहर हिंसा-अहिंसा के स्वरूप व फल में जो भिन्नता स्वीकार की गयी है उसे किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। क्योंकि स्थान विशेष से हिंसा के स्वरूप में कोई फर्क नहीं आता। चाहे यज्ञ का स्थान हो अथवा अन्य स्थान प्रत्येक स्थान में की गयी हिंसा, हिंसा ही है वह अपने पाप रूप फल से मुक्त नहीं हो सकती। धर्मस्थान में भी पशुहिंसा से पशुओं को उतना ही कष्ट पहुँचता है, जितना सामान्य स्थान से। अत: किसी भी प्रकार की हिंसा औचित्यपूर्ण व धर्मसम्मत नहीं हो सकती।

5. सूत्रों में वर्णित अहिंसा का स्वरूप :-

सूत्र के चार विभाग माने गये हैं - श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शल्य सूत्र। सूत्रकाल में उपनिषदों से निकली हुई ज्ञानधारा का प्रवाह सीमित होता दिखाई देता है जबकि ब्राह्मण और आरण्यक से प्रस्फुटित कर्मकाण्ड की धारा वेगवती मालूम पड़ती है। इसकी जानकारी गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में प्रस्तुत क्रियाकाण्डों एवं सामान्य आचार-विचार के वर्णन में प्राप्त होती है। इसी के आधार पर सूत्रकाल में प्रसारित हिंसा-अहिंसा के सिद्धान्त का ज्ञान होता है।

(क) गृह्यसूत्रों व धर्मसूत्रों में वर्णित विधि विधान -

गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों अन्नप्राशन, अर्घ, अष्टकाकर्म, भक्ष्य-अभक्ष्य, श्राद्ध व यज्ञ आदि विधि-विधानों का वर्णन मिलता है जिनमें मांस भक्षण व पशु हिंसा का समर्थन किया गया है :-

(i) अन्नप्राशन :- इस संस्कार के अन्तर्गत छह माह के बच्चे को उसकी उपयोगिता के अनुसार विभिन्न प्रकार के माँस खिलाने का विधान है।(25)

(ii) अर्घ :- पितृ, देवता या अन्य किसी व्यक्ति के प्रति आदर स्वरूप दिये गये तर्पण की संज्ञा 'अर्घ' कहलाती है, किन्तु अर्घ बिना माँस के सम्पन्न नहीं होता।(26)

(iii) अष्टकाकर्म :- यज्ञ में एक अष्टका नाम का विधान होता है जिसमें पशु की चर्बी से होम करना एक प्रधान कर्त्तव्य माना गया है।[27]

(iv) भक्ष्य-अभक्ष्य :- बौधायन धर्मसूत्र में पालतू पशु, पक्षी और मांसाहारी जन्तुओं के मांसभक्षण का निषेध किया गया है लेकिन बकरा और भेड़ को इसका अपवाद माना गया है।[28] ऐसी बातें आपस्तम्ब व वशिष्ट-धर्मसूत्रों में भी मिलती हैं। गाय के मांस का प्रयोग तीन अवसरों पर वैध बतलाया गया है : विवाह, अतिथि पूजा, व पितरों की संतुष्टि के लिए।

(v) श्राद्ध कर्म :- धर्मसूत्रों में पितरों को शाकाहारी वस्तुओं की तुलना में विभिन्न पशु-पक्षियों आदि प्राणियों के मांस से श्राद्ध करने में अनेक वर्षों तक सुख व संतोष की प्राप्ति की बात कही गयी है।[29]

(vi) यज्ञ :- वशिष्ट का मत है कि विभिन्न प्रकार के यज्ञों के समय जानवरों की बलि होनी चाहिए । बौधायन ने भी यज्ञ के अन्य उपकरणों के साथ पशु के प्रयोग की अनिवार्यता बतायी है।[30]

उक्त विवेचन से परिलक्षित होता है कि सूत्रकालीन समाज में अहिंसक जीवन की अवधारणा मृतप्राय: होती जा रही थी। जीवन के समस्त कार्यों के सम्पादन में चाहे वह सामान्य हो या विशिष्ट हिंसा का वीभत्स स्वरूप उजागर हो रहा था या कहें कि हिंसा के अभाव में धार्मिक, सामाजिक व गृहकार्यों का सम्पादन असंभव-सा हो गया था और अहिंसक मान्यतायें समाप्त हो रही थी। अहिंसा के पालन व दायित्व विशेषरूप से सन्यासी वर्ग तक सीमित माना गया था और गृहस्थों को प्राय: उससे मुक्त रखा गया था।

6. महाकाव्यों में अहिंसा का स्वरूप

(क) रामायण में अहिंसा का स्वरूप -

महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध महाकाव्य है और इसे ब्राह्मण धर्म व संस्कृति में एक ऊँचा स्थान प्राप्त है। रामायण काल में आचार को धर्म से अभिन्न मानते हुए उस पर अत्यधिक बल दिया गया है। अहिंसा, सत्य, आत्मसंयम, दया, सहिष्णुता, क्षमा, आतिथ्य, मन, वचन और कर्म की शुद्धि और आवश्यकता पड़ने पर शत्रु की भी सहायता करना आदि उस समय आचार के प्रधान अंग माने गये हैं।[31] यही नहीं; सामाजिक व राजनीतिक जीवन में भी नैतिक नियमों के परिपालन को महत्वपूर्ण माना गया है।[32] इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि रामायण काल में अहिंसा को मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्थान प्राप्त था और अहिंसा का सिद्धान्त विकास की ओर अग्रसर हो रहा था।

(ख) महाभारत में अहिंसा का स्वरूप -

महर्षि व्यास द्वारा रचित 18 पर्वों से युक्त वृहदाकार महाभारत भारतीय साहित्य का अद्‌भुत, अनुपम, अद्बितीय व प्रतिनिधि ग्रंथ है, जिसमें भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म, अधर्म, कर्त्तव्यकर्मों का प्रमाणिक विवेचन मिलता है। चूंकि इस काल में धर्म, दर्शन व संस्कृति का बहुर्मुखी विकास हो चुका था, अत: इसमें अहिंसा का भी विस्तृत

विवेचन मिलता है। बारहवें पर्व (शान्तिपर्व) में "अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः" यह कहकर जहाँ अहिंसा को स्वतः एक पूर्ण धर्म और हिंसा को अधर्म घोषित किया गया है।[33] वहीं 'अनुशासन पर्व' में कहा गया है कि "अहिंसा परम धर्म है, परम तप है, परम सत्य है, अन्य धर्मों की उद्गम स्थली है ... परममित्र तथा परमसुख है।"[34]

इसके अतिरिक्त, अहिंसा की व्यापकता उसकी महिमा व उससे प्राप्त फल[35] का भी व्यापक वर्णन मिलता है। इसकी व्यापकता के सन्दर्भ में शान्तिपर्व में कहा गया है कि "जिस प्रकार हाथी के पदचिन्हों में अन्य प्राणियों के पदचिन्ह समाहित हो जाते हैं उसी प्रकार अहिंसा में भी सभी धर्म समाहित हो जाते हैं।"[36]

साथ ही, मनुष्यों की हिंसक प्रवृतियों की खुलकर निन्दा की गयी है अपने स्वाद हेतु दूसरे प्राणियों की हिंसा करने वाले को जानवरों व राक्षसों की श्रेणी में रखा गया है, परन्तु विशेष परिस्थितियों (प्राण संकट की स्थिति) में मांसभक्षण की अनुमति प्रदान की गयी है।[37]

महाभारत में क्षत्रियों को समाज व राष्ट्र की रक्षा हेतु एवं गृहस्थों को आजीविका निर्वाह के लिए हिंसा का पूर्णतः त्याग कर पाना संभव नहीं बताया गया है, किन्तु किसी भी हालत में धर्म के नाम पर यज्ञ में पशुबलि का समर्थन नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में राजा विचक्षणु का यह कथन द्रष्टव्य है जिसमें उन्होंने यज्ञशाला में आर्तनाद करते हुए पशुओं को देखकर हिंसा का प्रबल विरोध व अहिंसा का समर्थन किया है। "सम्पूर्ण भूतों के लिए जिन धर्मों का विधान किया गया है उनमें अहिंसा सबसे बड़ी मानी गयी है। यदि कहें कि यूप के निर्माण में वृक्षों का काटना एवं यज्ञ में पशुबलि देकर मांस खाना व्यर्थ नहीं है, अपितु धर्म है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसे धर्म की कोई प्रशंसा नहीं करता।"[38] नारद द्वारा कथित ब्राह्मण की कहानी[39] व राजावसु द्वारा 'अज़' शब्द का पक्षपात पूर्ण अर्थ करना[40] आदि तथ्य भी यज्ञ में हिंसा के निषेध को प्रमाणित करते हैं।

इस प्रकार महाभारत में अहिंसा के सिद्धान्त का जितना विकास हुआ है उतना वैदिक परम्परा में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता, परन्तु प्राण संकट की स्थिति में मांस भक्षण की अनुमति देना उसके अहिंसा के सिद्धान्त में दृढ़ता की कमी का परिचायक है।

(ग) गीता में अहिंसा का स्वरूप -

गीता यद्यपि महाभारत के भीष्म पर्व का एक अंश है, परन्तु यह सम्पूर्ण महाभारत का सार है और इसका अपना एक स्वतंत्र एवं महत्वपूर्ण स्थान है। गीता के अध्याय पांच के 18 वें श्लोक में ज्ञानी भक्त के संदर्भ में श्रीकृष्ण ने कहा है कि "ज्ञानीजन विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी और चांडाल में समभाव से देखने वाले होते हैं।"[41] इसमें ज्ञानमार्गी का समस्त प्राणियों के प्रति समता भाव उसके अहिंसात्मक आचरण की पुष्टि करता है, क्योंकि प्राणी मात्र के प्रति सद्भाव के बिना अहिंसा का पालन संभव नहीं हो सकता। वास्तव में, अहिंसा हमारे बाह्य आचरण में तभी प्रतिष्ठित हो सकती है जब वह हमारे अंतर्मन में विद्यमान हो।

गीता में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, द्रव्ययज्ञ व तपयज्ञ करने को प्रेरित किया गया

है। जिनमें वैदिक यज्ञों की भांति पशुबलि और मांसाहार की आवश्यकता नहीं होती।[42] इसके अतिरिक्त, श्रीकृष्ण ने गीता में अपने को सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वजगत का कर्ता माना है और कहा है कि ''मैं ही सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ जिससे वे जीते हैं और सब भूतों के आदि, मध्य व अंत में व्याप्त हूँ।''[43] जब अर्जुन अपने गुरु, बंधु व बांधवों को युद्ध में मारने से इंकार करते हैं तो वे कहते हैं कि ''मैं लोकों को नाश करने वाला महाकाल हूँ। ये शूरवीर पहले से ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं तू तो केवल निमित्त मात्र होगा।''[44] उन्होंने यहाँ तक कहा है कि ''सभी प्राणियों के अहिंसा, तप, दान आदि अच्छे भाव और अपकीर्ति आदि समस्त बुरे कर्म मेरे से ही पैदा होते हैं।[45] उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि सम्पूर्ण सद्कर्मों व बुरे कर्मों का कर्ता ईश्वर (श्रीकृष्ण) है मनुष्य उनके हाथ की कठपुतली मात्र है तो कर्मों का कर्ता भी मनुष्य नहीं है।'' तो फिर हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता अर्थात् परतंत्र प्राणी पर हिंसक-अहिंसक कार्य का उत्तरदायित्व ही नहीं हो सकता है।

7. पुराणों में अहिंसा का स्वरूप :-

पुराणों में भी अहिंसा को अच्छी तरह प्रकाशित किया गया है। वायुपुराण में कहा गया है कि ''मन, वाणी एवं कर्म से सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करना चाहिए और यदि कोई भिक्षु अनिच्छा से भी पशु हिंसा कर डालता है तो वह भी पाप का भागी होगा।''[45] इससे सिद्ध होता है कि इसमें उस व्यक्ति को भी दोषी माना गया है जो जानबूझकर हिंसा नहीं करता बल्कि अनजाने या भूल से ही हिंसा कर बैठता है। विष्णुपुराण में भी हिंसा को सभी पातकों की जड़ तथा अहिंसा को विष्णु को संतुष्ट करने वाली अर्थात् मुक्ति पाने का बड़ा साधन कहा है तथा यज्ञ में अन्न प्रयोग को धर्मोचित बताया है।[47] अग्निपुराण में हिंसा व अहिंसा के व्यापक स्वरूप की चर्चा की गई है। 'शौच, संतोष, तपस्या.... प्राणी को कष्ट न देना आदि अहिंसा के विभिन्न रूप हैं।' इसके विपरीत उद्वेग जनन, संताप देने वाला रुदन, पिशुनता, हित का निषेध, दिल को दुखाने वाली बात...... ये सभी हिंसा के रूप हैं।[48] मत्स्यपुराण भी अहिंसा को सर्वोच्च स्थान देते हुए कहता है कि ''वेदों के अध्ययन व सत्य बोलने से कहीं अधिक पुण्य का उपार्जन अहिंसा व्रत के पालन से होता है।''[49] और यज्ञ में पशु हिंसा करने से धर्म के नाम पर बहुत बड़ा अधर्म होता है। अत: मुनिजन कभी-भी हिंसा या हिंसापरक यज्ञ का अनुमोदन नहीं करते।[50] ब्रह्मपुराण में मन, वचन व कर्म से अहिंसा व्रत का पालन करने वाले को जीवन में श्रेय (मोक्ष) प्राप्ति की बात कही गई है।[51] इसके अतिरिक्त, नारद, शिव, भागवत्, वृहद धर्मपुराण, कूर्म्मपुराण आदि में भी अहिंसा विषयक विचारों को ही पुष्ट किया गया है।

इस प्रकार पुराणों को देखने से ज्ञात होता है कि इसमें अहिंसा के सिद्धान्त को सन्यासी व ब्राह्मण वर्ग तक सीमित न रखकर सभी वर्णों के लिए आवश्यक माना गया है।

8. वैदिक-दर्शनों में अहिंसा का स्वरूप :-

वैदिक दर्शनों के अन्तर्गत षड्आस्तिक दर्शनों की एक सुदीर्घ परम्परा है जो

वेद की प्रमाणिकता में न्यूनाधिक रूप से विश्वास करते हैं। इन षड्दर्शनों की आचार-मीमांसा के अन्तर्गत अहिंसा सिद्धान्त को पर्याप्त स्थान दिया गया है जो इस प्रकार है-

(क) न्याय-वैशेषिक दर्शन में अहिंसा सिद्धान्त -

न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शन समानतंत्र माने गये हैं। न्यायदर्शन में आचार मीमांसा के अन्तर्गत अहिंसा को मोक्षोपयोगी उपायसरणि का मुख्यतया साधन माना गया है। इस के प्रणेता महर्षि गौतम के अहिंसा संबंधी विचार 'सर्वेषामनुकूलतया वेदनीय सुखं' तथा 'प्रतिकूलतया वेदनीयं दु:खम्' इन सुख-दुख के लक्षणों में निहित है; क्योंकि हिंसा सभी के लिए प्रतिकूलतया वेदनीय है; दु:ख है और यह निर्विवाद है कि सभी प्राणी दु:ख से बचना चाहते हैं।

वैशेषिकों को न्याय का अहिंसा संबंधी सिद्धान्त मान्य है। इस दर्शन में भी अभ्युदय और नि:श्रेयस के लिए धर्म की आवश्यकता मानी गयी है और धर्म में अहिंसा का आचरण अनिवार्य ही है। इसके बावजूद दोनों दर्शन 'वैदिकीहिंसा' को स्वीकृत करते हुए यज्ञीय हिंसा को निषेध योग्य नहीं मानते हैं।

(ख) सांख्य-योग दर्शन में वर्णित अहिंसा सिद्धान्त -

सांख्य-योग दोनों दर्शनों में सभी प्रकार की हिंसा का प्रतिषेध एवं पूर्ण अहिंसा के आचरण की महनीयता का प्रतिपादन किया गया है। वेदों की प्रमाणिकता को स्वीकार करने पर भी दोनों दर्शन 'वैदिकी हिंसा' का निषेध करते हैं, और स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते है कि 'यज्ञों में की गयी हिंसा उतनी ही दोषपूर्ण है जितनी कि अन्य स्थानों में की गयी हिंसा दोषपूर्ण है।' इसकी पुष्टि में सांख्यसूत्र के प्रणेता महर्षि कपिल का सूत्र द्रष्टव्य है कि "दृष्ट व अदृष्ट दोनों प्रकार के साधन दु:ख निवृति के लिए उपयोगी नहीं हैं।"(52) जिस प्रकार भोजन, वस्त्र, औषधि, आदि दृष्ट साधनों से अशुद्धि, हिंसाक्षय एवं अतिशय दोष हैं वैसे ही दोष यज्ञादि अदृष्ट साधनों में भी हैं। यही मत सांख्य प्रवचनभाष्य में विज्ञानभिक्षु ने स्वीकार किया है।(53) ईश्वरकृष्ण ने भी दृष्ट व अदृष्ट दोनों उपायों को मोक्ष का असाधक बताकर यह सिद्ध किया है कि हिंसा सर्वत्र पाप व दु:ख का हेतु होती है।(54)

इसी प्रकार योगदर्शन का विशाल भवन अहिंसा रूपी नींव पर ही अवलम्बित है। योग के आठ अंगों में यम का स्थान सर्वप्रथम है और उन यमों में भी अहिंसा का स्थान सबसे पहले और सबसे महत्वपूर्ण है। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए व्यासभाष्य में कहा गया हैं कि "शेष यम तथा नियम केवल अहिंसा के प्रतिपादन के लिए ही आचरित किये गये हैं व उसके रूप को उज्जवल करने के लिए इनका उपादान किया जाता है।"(55) इस दर्शन में अहिंसा के सिद्धान्त के महत्व पर भी प्रकाश डाला गया है कि "जब साधक के हृदय में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है तो उनके निकट सिंह, व्याघ्र, अश्व आदि समस्त हिंसक जन्तुओं का बैर भाव शान्त हो जाता है।"(56) तथा हिंसा के व्यापक स्वरूप का वर्णन मिलता है। हिंसा को सबसे प्रबल विर्तक माना गया है जो योग में विघ्नकारक है। हिंसा के 81 प्रकारों को वर्णित किया गया है व हिंसा से उत्पन्न कष्टों व दु:खों का भी उल्लेख मिलता है।(57)

(ग) पूर्वमीमांसा में वर्णित अहिंसा सिद्धान्त -

षड्दर्शनों में सर्वाधिक हिंसा का समर्थन मीमांसकों ने किया है। उन्होंने यज्ञीय हिंसा के समर्थन में सामान्य (उत्सर्ग) व विशेष (अपवाद) नियमों का प्रतिपादन किया है। उनकी मान्यता है कि सामान्य नियम तो हमारा भी यही है कि 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिए, किन्तु वैदिकी हिंसा इसका अपवाद है, क्योंकि यह धर्म की हेतु है तथा यह देवता, अतिथि व पितृजनों के प्रति प्रीति का सम्पादन करती है। इस कारण यज्ञ में की गयी हिंसा पाप का कारण नहीं होती। यद्यपि सामान्य व विशेष नियमों में मीमांसक कोई विरोध नहीं मानते हैं, परन्तु उसका मानना है जहाँ विशेष नियम लागू होता है वहाँ सामान्य नियम लागू नहीं होते हैं, क्योंकि विशेष नियम, सामान्य नियम से बलवान होता है। आगामी पृष्ठों में हम इसकी विस्तारपूर्वक समीक्षा करेंगे।

(घ) वेदान्त (उत्तरमीमांसा) में प्रतिपादित अहिंसा सिद्धान्त -

अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक आचार्य शंकर ने भी यज्ञीय हिंसा का समर्थन किया है। ब्रह्मसूत्र (3, 1, 25) की व्याख्या करते हुए कहा है कि "..... धर्म-अधर्म के विज्ञान का हेतु शास्त्र है ..... हिंसानुग्रह आदि जिसका स्वरूप है, ऐसा ज्योतिष्टोम यज्ञ धर्मरूप से शास्त्र द्वारा निश्चित हुआ है, वह अशुद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? परन्तु 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' यह शास्त्र भूतविषयक हिंसा अधर्म है यह बतलाता है, सत्य है और 'अग्निषोमीयं पशुभालभेत्' उत्सर्ग है। (अग्नि व सोम के लिए पशु का वध करो) यह अपवाद है। उत्सर्ग व अपवाद का नियम व्यवस्थित है। वैदिक कर्म विशुद्ध है और निंदा करने योग्य नहीं हैं।[58] इस प्रकार स्पष्ट परिलक्षित होता है कि शंकर भी वेदों द्वारा निर्देशित यज्ञ में की जाने वाली हिंसा को अधर्ममूलक या पापजनक नहीं मानते।

(ङ) विशिष्टाद्वैत व शुद्धाद्वैत का अहिंसा संबंधी दृष्टिकोण -

वेदविहित हिंसा को लाभप्रद व सुखकर मानते हुए श्रीभाष्य में लिखा है कि "यज्ञ में की गयी हिंसा उसी प्रकार की है जैसे किसी डाक्टर द्वारा की गयी चीरफाड़। डॉक्टर द्वारा घाव को चीरते समय घावग्रस्त व्यक्ति को कष्ट अवश्य होता है लेकिन उसका उद्देश्य उस व्यक्ति को दु:ख से छुटकारा दिलाकर सुखी बनाना होता है। ठीक उसी तरह यज्ञ में बलि देकर पशु को स्वर्ग में भेजा जाता है जो कि अधिक सुखकर होता है चूँकि वैदिक हिंसा का उद्देश्य दु:ख देना नहीं, बल्कि सुख देना है, अत: वह दोषपूर्ण या अशुद्ध नहीं की जा सकती है।"[59]

शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक वल्लभाचार्य ने शंकर व रामानुज की भाँति यह माना है कि यज्ञ में की गयी हिंसा दोषयुक्त नहीं होने से इसे अशुद्ध व अनिष्टकारी नहीं कहा जा सकता है।

निष्कर्ष :-

इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक परम्परा पर दृष्टि डालने से ऐसा लगता है कि अहिंसा का सिद्धान्त रूप में प्रारंभ उपनिषदों में होता है, किन्तु वेदों में भी इसकी झलक कहीं-कहीं दिख जाती है लेकिन ये दोनों ही वेदविहित हिंसा का बचाव करते हैं जिसे उचित

नहीं माना जा सकता है। मनुस्मृति ने वेद स्वीकृत कर्मकाण्डों के प्रतिपादनार्थ अत्यधिक हिंसा पर जोर दिया है। सूत्रों में अहिंसा की रूपरेखा बहुत ही क्षीण सी दिखती है, क्योंकि धर्मसूत्रों में कुछ स्थलों को छोड़कर सभी गृह्मसूत्र या धर्मसूत्र उन्हीं कर्मों का विधान करते हैं जो हिंसायुक्त हैं। गीता में यद्यपि हिंसा रहित यज्ञों की अवधारणा का प्रतिपादन हुआ है, परन्तु भगवान श्रीकृष्ण द्वारा हिंसा-अहिंसा के पालन का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर लेकर इस सिद्धान्त की व्यवहारिक उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा कर दिया है। महभारत व पुराणों में तो अहिंसा का सिद्धान्त पूर्व की तुलना में विकसित मालूम पड़ता है। इनमें हिंसायुक्त यज्ञ की काफी भर्त्सना की गयी है, किन्तु विशेष परिस्थिति जैसे आत्मरक्षा, समाज-रक्षा, राष्ट्ररक्षा आदि के लिए छूट भी दी गयी है, यानी हिंसा को क्षम्य माना गया है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, अद्वैत-वेदान्त आदि ब्राह्मण दर्शनों में 'वैदिकीहिंसा हिंसा न भवति' को ही अपनाया है लेकिन सांख्य ने इसकी कड़ी आलोचना की है और हिंसापूर्ण यज्ञ को अशुद्ध माना है। वैष्णव परम्परा के रामानुज व वल्लभ आदि आचार्यों ने हिंसायुक्त होने पर भी वैदिक यज्ञादि को शुद्ध व दोषरहित माना है। यद्यपि अन्य प्रकार की हिंसा को घृणित व त्याज्य बताया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा हिंसा का पूर्णत: निषेध नहीं करती है। धर्म की आड़ में हिंसा को उचित मानकर अहिंसा की स्थूल अवधारणा को भी अस्वीकार करती है, क्योंकि जहाँ किंचित् मात्र भी हिंसा का समर्थन हो और वह चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो। वह हिंसा कभी-भी औचित्यपूर्ण नहीं मानी जा सकती और न ही उसे अहिंसा की श्रेणी में रखा जा सकता है।

(च) बौद्ध-दर्शन में वर्णित अहिंसा सिद्धान्त -

यह सर्वविदित तथ्य है कि छठीं शताब्दी ई.पू. बौद्ध धर्म का अभ्युदय वैदिक हिंसा व कर्मकाण्ड से पददलित (पीड़ित) समाज को मुक्त कराने के लिए हुआ था। बुद्ध ने अहिंसा का आधार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' इस सूत्र को माना है। उन्होंने सुत्तनिपात में कहा है कि ''जैसा मैं हूँ वैसे ही ये समस्त प्राणी है और जैसे ये सब प्राणि है वैसा ही मैं हूँ इस प्रकार सब प्राणियों को अपने समान समझकर न स्वयं किसी का वध करें और न दूसरे से करवाये।''[(60)]

संयुत्तनिकाय के अन्तर्गत 'ब्राह्मणसुत्त' के अहिंसासुत्त में बुद्ध ने अहिंसक शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''जो मन, वचन तथा शरीर से किसी भी प्राणी को नहीं सताता, कष्ट नहीं पहुँचाता, वही अहिंसक है।''[(61)] अहिंसा का पथगामी बड़े-बड़े प्राणियों को ही नहीं; बल्कि एकेन्द्रिय पेड़-पौधों को भी कष्ट नहीं पहुँचाता है।[(62)] इस प्रकार उन्होंने एकेन्द्रिय जीवों तक की हिंसा का निषेध किया है। हिंसक को 'अनार्य' व अहिंसक आचरण करने वाले को 'आर्य' की संज्ञा दी है।[(63)] बुद्ध ने भिक्षुओं को निर्देश दिया है कि वे सदा अप्रमत्त होकर बिहार करें; क्योंकि प्रमाद ही सब अनिष्टों की जड़ है और उन्होंने अप्रमाद वृति को सभी कुशल धर्मो में अग्र कहा है।[(64)] इस दर्शन में मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा इन चार भावनाओं पर विशेष बल दिया है और अहिंसा को मित्रता का साधन माना है, किन्तु इन सबके बावजूद विशेष परिस्थितियों

में जैसे - कष्टदायक रोग की अवस्था आदि में औषधस्वरूप मांस, चर्बी व खून के प्रयोग को क्षम्य व दोष रहित बताया है[65] और मांसभक्षण के सन्दर्भ में कहा गया है कि भिक्षुओं को उनके निमित्त से न पकाये गये मांस, मछली आदि को लेना व खाना दोषपूर्ण नहीं है।[66]

इस प्रकार एक ओर भगवान बुद्ध ने एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा को अनुचित माना एवं प्राणिमात्र के प्रति दया व सहिष्णुता का उपदेश दिया। वहीं इसके विपरीत, औषधि रूप में व गृहस्थों की सुविधा हेतु भिक्षुओं को मांसभक्षण उचित बतलाकर हिंसक मान्यता को पुष्ट किया है; क्योंकि प्राणियों का घात किये बिना मांस की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए मांसभक्षी पुरुष को अनिवार्य रूप से हिंसा का दोष लगता है।[67]

यदि यह कहा जाए कि मरे हुए प्राणियों का मांसभक्षण करने से हिंसा का पाप नहीं लगता है तो यह भी सत्य नहीं है, क्योंकि मांस के आश्रित अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं उनके घात होने से हिंसा होती ही है।[68] यदि यह कहा जाए कि पका मांस दोष रहित है तो यह तथ्य भी सत्य नहीं है कारण, मांस कच्चा हो या पक्का हुआ हो या पक रहा हो ऐसे सर्वमांस के टुकड़ों में उसी मांस जैसे नये-नये जीव उत्पन्न होते रहते हैं।[69] अत: चाहे औषधि हेतु या भिक्षाटन से प्राप्त मांस का भक्षण किया जाय उसमें हिंसा रूप फल अवश्य होगा। जहाँ हिंसा होगी, वहाँ धर्म कदापि नहीं हो सकता है।

9. गाँधी-दर्शन में अहिंसा सिद्धान्त एवं उसकी समालोचना :-

'अहिंसा' यह शब्द गाँधी दर्शन का निचोड़ है तथा हिंसा से पूरित विश्व में यह एक शब्द गाँधी का जितना व्यापक प्रतिनिधित्व करता है, उतना सारे उपदेश मिलकर भी नहीं कर पाते। गाँधीजी ने इस युग में अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त की अत्यंत सशक्त पुर्नस्थापना की है। यहीं नहीं, भौतिकता के इस युग में अहिंसा के सफल व्यावहारिक प्रयोग का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है।

गाँधीजी मन-वचन व कर्म से अहिंसा के पक्षपाती थे। उन्होंने अहिंसा का अर्थ "पूर्ण निर्दोषता' माना है और कहा है कि पूर्ण अहिंसा का अर्थ है - 'प्राणीमात्र के प्रति पूर्ण दुर्भाव का अभाव।' इसलिए वह मानवेत्तर प्राणियों, यहाँ तक कि विषधर कीड़ो और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।''[70] उनके अनुसार अहिंसा केवल रक्तपात व दूसरों को शारीरिक कष्ट न पहुँचाना नहीं है, बल्कि प्राणिमात्र के प्रति द्वेष, घृणा, कटुता और वैमनस्य का अभाव भी है और जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक हमारे जीवन में अहिंसा पूर्णत: फलित नहीं हो सकती। इसलिए उन्होंने 'अहिंसा को एक मानसिक स्थिति कहा है।'[71] साथ ही, उन्होंने अपने मत पर अहंकार पूर्वक अड़े रहने वाले दुराग्रही को भी हिंसक माना है।

गाँधीजी ने अपनी अहिंसा की अवधारणा में कुछ विपरीत बातों का समावेश किया है जो अहिंसा की परम्परागत मान्यता को स्वीकार नहीं करती है और एक विचित्र विरोधाभास को भी उत्पन्न करती है। जैसे- सामान्यत: मांसाहारी को हिंसक माना जाता है, परन्तु गाँधीजी ऐसा नहीं मानते है उनकी अहिंसा खाद्य-अखाद्य के परे

है। उनका मानना है कि यदि मांस भक्षण करने वाले व्यक्ति के हृदय में दया, सहानुभूति है तो वह अहिंसक ही है। इसके विपरीत जो मांस नहीं खाता है, किन्तु दिल में द्वेष, दुर्भाव आदि संजोये रखता है तो वह हिंसक माना जाएगा।[72] तथा कुछ विशेष परिस्थितियों में जीव का विषभक्षण या अन्य उपायों द्वारा प्राणहरण को हिंसा रहित आचरण माना है। जैसे - गाँधीजी ने एक दु:खी कुत्ते को देखकर गोली से मरवा दिया व बछड़े को रोग से तड़पते हुए देखकर विष का इंजेक्शन लगवा दिया।[73] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गाँधीजी पूर्ण अहिंसावादी थे और उन्होंने उसे जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू किया। लेकिन इस बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि मांसाहारी अहिंसक हो सकता है। इस तथ्य का खण्डन बौद्ध दर्शन में अहिंसा सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जा चुका है। साथ ही, यह संभव है कि मांस खाने वाला अच्छे व शुभ विचारों से युक्त हो, किन्तु यह संभव नहीं हो सकता कि वह हिंसक न कहलाए। दूसरी बात, विशेष स्थितियों में जीवों का प्राणहरण को भी अहिंसक आचरण नहीं माना जा सकता। आचार्य अमृतचंद ने कहा है - ''अनेक दु:खों से पीड़ित जीव को इसलिए मार देना कि उसके दु:ख शीघ्र नष्ट हो जावेंगे, ऐसी खोटी वासना अथवा विचार रूपी तलवार अंगीकार करके जीव को नहीं मारना चाहिए।''[74]

महात्मा गाँधी के अहिंसा विषयक विचार की आलोचना इस सन्दर्भ में करते हुए कहा जाता है कि - मनुष्य की ज्ञानशक्ति सीमित है वह कैसे जान सकता है कि उसकी चिकित्सा के सभी उपाय उसने कर लिए हैं। हो सकता है कि रोग के अनुकूल कोई औषधि न लगी हो। वह औषधि यदि आप नहीं जानते तो क्या कोई भी नहीं जानता। किसी व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार किसी रोगी की चिकित्सा करने का अधिकार तो है, किन्तु यह निर्णय करने का कोई अधिकार नहीं है, अब कोई उपाय नहीं है - इस कारण किसी प्राणी को मार दिया जाये।[75] दूसरी बात यह है, संसार कर्मप्रधान है कर्मों के अनुसार ही प्रत्येक प्राणी सुख व दु:ख का उपभोग करना है वह उसके कर्मों का फल है, तो फिर हम हिंसा करके पाप क्यों उत्पन्न करें ? इस प्रकार गाँधीजी द्वारा मान्य अहिंसा की इस अवधारणा को जैनदर्शन स्वीकृत नहीं करता है।

10. जैनदर्शन में प्रतिपादित अहिंसा सिद्धान्त :-

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि अहिंसा जैनदर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है या कहें प्राणरूप तत्त्व है। अहिंसा का जितना विशद व सूक्ष्म विवेचन जैनदर्शन में प्राप्त है उतना अन्य किसी दर्शन में नहीं। यही कारण है कि जैनदर्शन कों अहिंसा का दर्शन भी कहा जाता है। जैन आचार-विचार का प्रत्येक दृष्टि बिन्दु अन्तत: अहिंसा पर ही केन्द्रित हो जाता है एवं सम्पूर्ण जिनागम का ढांचा (अस्तित्व) अहिंसा की खुर्दबीनी विवेचना पर टिका हुआ है। इसमें हिंसा-अहिंसा पर अनेक पहलुओं से विचार किया गया है एवं उसके किसी पक्ष को अपूर्ण या अधूरा नहीं छोड़ा गया है। इसीलिए महात्मा गाँधी ने कहा है कि **''जहाँ समस्त दर्शनों की अहिंसा समाप्त होती है वहाँ पर जैनदर्शन की अहिंसा प्रारंभ होती है।''**

जैनदर्शन में अहिंसा को महाव्रतों एवं अणुव्रतों की माला में सर्वोच्च स्थान

प्राप्त है या महाव्रतों एवं अणुव्रतों की माला में अहिंसा को सुमेरु पर्वत का दर्जा प्राप्त है। जैसे - खेत की रक्षा के लिए उसके चारों ओर काँटो का घेरा होता है उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत अहिंसा की रक्षा करने के लिए ही हैं।

(क) हिंसा का स्वरूप -

जैनमत में अहिंसा के स्वरूप पर विचार करने के पूर्व हमें यह जानना आवश्यक है कि उसके मतानुसार हिंसा का स्वरूप क्या है ? क्योंकि हिंसा के स्वरूप से परिचित हो जाने पर स्वत: ही अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

जैनदर्शन में हिंसा के स्वरूप की सूक्ष्म व गहन विवेचना की गयी है, हिंसा की कई परतों को खोला गया है जिन पर सामान्यत: चिन्तकों का ध्यान नहीं जाता।

सामान्यत: किसी जीव को मारना, सताना या पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। हिंसा के इस स्वरूप को प्राय: सभी धर्म व दर्शन स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन हिंसा के सामान्य स्वरूप को स्वीकृत करते हुए उसकी व्याख्या दो रूपों में करता है :-

(अ) निश्चय हिंसा (ब) व्यवहार हिंसा

(अ) निश्चय हिंसा :-

कषाय सहित या प्रमाद रूप प्रवृति होना निश्चय हिंसा है और न केवल परपीड़न व जीवघात, बल्कि झूठ, चोरी, कुशील, मांस, मदिरा, जुआ आदि समस्त प्रकार का अनैतिक व असदाचार रूप परिणमन भी निश्चय हिंसा है। यह हिंसा द्रव्य व भाव दोनों रूपों में होती है जिसका वर्णन आगे किया जाएगा।

(ब) व्यवहार हिंसा :-

बाह्य प्रवृति रूप समस्त प्रकार की असदाचार रूप क्रियाओं का होना व्यवहार हिंसा है।

यही कारण है कि जैनदर्शन अन्य दर्शनों की तुलना में हिंसा की व्याख्या बिल्कुल नवीन ढंग से करता है। आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में हिंसा को निम्नांकित सूत्र द्वारा परिभाषित किया है -: ''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'' अर्थात् प्रमाद के योग से जीवों के प्राणों का व्यपरोपण करना अर्थात् वियोग करना या पीड़ा पहुँचाना हिंसा है।[76]

यहाँ 'प्रमत्त' शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। मूलाचार में प्रमत्त शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है - 'प्रमाद: सकषायत्वं तद्वानात्मपरिणाम: प्रमत:, प्रमत्तस्ययोग: प्रमत्तयोगस्तस्मात्प्रमतयोगादशप्राणानां वियोगकरणं हिंसेति' कषाय सहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं और कषाय सहित आत्मा का परिणाम प्रमत्त कहलाता है तथा प्रमत्तयोग अर्थात् कषायसहित परिणामों से मन-वचन-काय की क्रिया प्रमत्त योग है इसके सम्बन्ध से इन्द्रियादि दशप्राणों का वियोग होना हिंसा है।[77] इस सूत्र में हिंसा की व्याख्या दो अंशों में पूरी की गयी है, पहला अंश है - प्रमत्तयोग अर्थात् रागद्वेष अथवा असावधान प्रवृति और दूसरा अंश है - प्राणघात। प्रथमअंश कारण रूप है और द्वितीय कार्य रूप। इसका फलितार्थ यह है कि जो प्राणघात रूप कार्य प्रमत्तयोग साधन से हो, वह हिंसा है।[78]

आचार्य उमास्वामी ने उक्तसूत्र में जो 'प्रमत्तयोगात्' शब्द का प्रयोग किया है वह हिंसा की व्याख्या को विशिष्ट या भिन्न अर्थ प्रदान करता है, क्योंकि यहाँ पर केवल परजीवों के घात को हिंसा नहीं कहा गया है, बल्कि प्रमादपूर्ण प्रवृति या कषाय सहित मन-वचन-काय की प्रवृति को हिंसा कहा है। कारण, हिंसा में सर्वप्रथम मन का व्यापार होता है फिर वचन व काय का। प्रमादयुक्त व्यक्ति के मन में पहले हिंसा के भाव का जन्म होता है फिर वह कष्टदायक वचन का प्रयोग करता है और यदि उससे भी आगे बढ़ता है तो कार्यप्रवृत्ति द्वारा उस जीव का प्राण घात करता है जिसके प्रति मन में कषाय जाग्रत हुई थी।

तत्त्वार्थसूत्र के वार्तिककार आचार्य अकलंकदेव ने उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'प्राणव्यपरोपणं' पद पर शंका उठायी है कि जब प्राणव्यपरोपण के अभाव में केवल प्रमत्तयोग से ही हिंसा स्वीकार की गयी है तो फिर सूत्र में 'प्राणव्यपरोपण' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है ? इस शंका के समाधान में कहा गया है कि ऐसा कहना दोषयुक्त नहीं है, क्योंकि भावलक्षणवाला अन्तरंग प्राणव्यपरोपण अर्थात् स्वहिंसा वहाँ भी (प्रमत्तयोग में भी) होती ही है फिर चाहे अन्य जीवों के प्राणों का घात हो या नहीं - यह बताने के लिए प्राणव्यपरोपण शब्द सूत्र में उचित ही रखा गया है।[(79)] आचार्य अमृतचंद का मन्तव्य भी इसका समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है। उनके अनुसार-''कषाय रूप परिणमित मन-वचन-काय के योग से द्रव्य व भाव रूप दो प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण होना - घात होना हिंसा है।''[(80)]

जब मन में कषाय उद्भूत होती है तो सर्वप्रथम शुद्धपयोग रूप भावप्राणों का घात होता है, यह प्रथम हिंसा है। इसके पश्चात् कषाय की तीव्रता से दीर्घश्वासोच्छ्वास हस्त-पाद आदि से अपने अंगोपांगों को कष्ट पहुँचाता है, यह द्वितीय हिंसा है। इसके बाद मर्मभेदी कुवचनों से लक्ष्य पुरुष के अन्तरंग मानस को पीड़ा पहुँचाई जाती है, यह तीसरी हिंसा है। फिर तीव्र कषाय व प्रमाद के योग से उस व्यक्ति के द्रव्यप्राणों को नष्ट करता है, यह चतुर्थ हिंसा है। इस प्रकार स्व व पर के द्रव्य और भावरूप प्राणों का घात करना हिंसा है।

(ख) हिंसा के प्रकार -

उक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिंसा के दो प्रकार हैं -: (अ) भावहिंसा (ब) द्रव्यहिंसा

(अ) भावहिंसा का स्वरूप :-

यह हिंसा का आन्तरिक पक्ष है जो उसकी भूमिका तैयार करता है। यदि व्यक्ति के मन में अन्य जीवों के अहित या प्राणघात का विचार उत्पन्न हो जाए, किन्तु वह उसका अहित कर पाए अथवा नहीं, यह उसके द्वारा की गयी भावहिंसा कहलाती है। यह हिंसा का ऐसा रूप है जो अन्य प्राणियों के लिए चाहे अहितकर न हो, किन्तु स्वयं उस व्यक्ति के लिए घोर अनिष्टकारी होता है।

आचार्य अमृतचंद ने हिंसा के भावात्मक पक्ष पर बल देते हुए कहते हैं - ''आत्मा में राग-द्वेष-मोहादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है।''[(81)]

डॉ. हुकमचंद भारिल्ल ने 'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' नामक पुस्तक के परिशिष्ट में भाव व द्रव्यहिंसा को इस ढंग से परिभाषित किया है - 'रागादिभावों के होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता का घात होना भावहिंसा है और रागादिभाव निमित्त है जिसमें ऐसे अपने व पराये द्रव्यप्राणों का घात होना द्रव्यहिंसा है।'[(82)]

(ब) द्रव्यहिंसा का स्वरूप :-

अपने या परजीवों के प्राणों को पीड़ा पहुँचाना या प्राणघात कर देना द्रव्यहिंसा है। यह हिंसा का बाह्य पक्ष है इसमें हिंसा का परिणाम भौतिक या वास्तविक रूप में प्रकट होता है। यह भावहिंसा की भांति विचार तक मर्यादित न होकर व्यवहार में परिणत हो जाती है। जैनमत में आत्मा को सापेक्ष रूप से नित्य माना गया है अत: उसके अनुसार हिंसा से प्राणों का हनन होता है, आत्मा का नहीं।

जैनमत में दश प्राण माने गये हैं - पाँच इन्द्रियों की शक्ति, मन, वचन व काय का त्रिविध बल, श्वासोच्छवास एवं आयुष्य।[(83)] परन्तु एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों के प्राणों की संख्या समान नहीं होती है और इन प्राणों का वियोजन करना या उनमें अलगाव उत्पन्न करना ही द्रव्यहिंसा है।

(ग) जीव की प्राणशक्ति से कथंचित् भिन्नता व कथंचित् अभिन्नता -

आचार्य जयसेन व आचार्य योगेन्दुदेव जीव की प्राणशक्ति के सन्दर्भ में शंका उठाते हैं कि जीव से प्राण भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं ? यदि जीव से प्राण अभिन्न हैं तो जब जीव का नाश नहीं हो सकता है तो प्राणों का भी नाश नहीं हो सकता है तो फिर हिंसा कैसे हो सकती है ? यदि जीव से प्राण भिन्न हैं तो जीव का प्राणघात होना ही संभव नहीं है, क्योंकि प्राण पहले से ही भिन्न हैं ऐसा मानने पर भी हिंसा सिद्ध नहीं होती ?

इन आशंकाओं का निरस्तीकरण करते हुए आचार्यों का कहना है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि कायादि प्राणों के साथ कथंचित् जीव का भेद भी है और अभेद भी। जैसे- तप्त लोहे के पिण्ड से उसी समय अग्नि को पृथक् नहीं किया जा सकता है, वैसे ही वर्तमानकाल में कायादि प्राणों को जीव से पृथक् नहीं किया जा सकता है ; इसलिए व्यवहाररूप से कायादि प्राणों का जीव के साथ अभेद है, किन्तु मरणकाल में कायादि प्राण जीव के साथ नहीं जाते हैं इसलिए निश्चयनय से प्राणों के साथ जीव का भेद भी है। यदि एकांत से भेद ही माना जाए तो फिर जैसे दूसरे के शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर भी अपने को दु:ख नहीं होता है वैसे अपने शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर भी दु:ख प्राप्त नहीं होगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष विरोध आता है।[(84)]

इस प्रकार अनेकान्तमयी धरा पर अधिष्ठित जैनदर्शन में प्राणों को जीव से कथंचित् भिन्न व कथंचित् अभिन्न बताकर प्राण शक्तियों का वियोजन द्रव्यहिंसा है, यह निर्विरोध रीति से प्रतिपादित किया है।

(घ) हिंसा के भंग -

भावहिंसा व द्रव्यहिंसा की अपेक्षा हिंसा के चार भंग माने गये हैं , जो कि निम्नांकित हैं -

(अ) भावरूप में व द्रव्यरूप में :-

जहाँ मन में हिंसा का भाव हो या कषाय रूप प्रवृति हो और बाह्य रूप में भी हिंसा हो जाती है, तो यह हिंसा के भाव रूप व द्रव्यरूप दोनों हुए।

(ब) भावरूपहिंसा, किन्तु द्रव्यरूप नहीं :-

मन में कषाय रूप भाव तो हों, किन्तु उसकी क्रियान्वति किसी कारण वश संभव न हो पाए तो ऐसी स्थिति में भावहिंसा तो हुई ; किन्तु द्रव्यहिंसा नहीं हुई। आचार्य अमृतचंद्र के शब्दों में - ''निश्चय से कोई जीव (भावहिंसा के सद्भाव में) द्रव्यहिंसा को नहीं करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र बनता है।''(85)

(स) भावरूप में नहीं, किन्तु द्रव्यरूप में हिंसा :-

जहाँ बाह्य हिंसा तो हो गयी हो, किन्तु कर्ता की प्रमाद या कषाय रूप प्रवृति उसके पीछे न रही हो तो ऐसी स्थिति में केवल द्रव्यरूप हिंसा हुई, भावरूप नहीं। कहा भी गया है- ''कोई जीव (भावहिंसा के असद्भाव में) द्रव्यहिंसा को करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता है।''(86)

उदाहरणार्थ - कोई डॉक्टर रोगी को बचाने के भाव से सावधानीपूर्वक चीरफाड़ करता है फिर भी रोगी मर जाता है तो उसमें डॉक्टर रोगी की मृत्यु का दोषी नहीं माना जाएगा, बल्कि रोगी की आयुपूर्ण होना उसकी मृत्यु का कारण माना जाएगा; क्योंकि कोई भी भावहिंसा के अभाव में द्रव्यहिंसा के फल को प्राप्त नहीं होता।

(द) न भावरूप में हिसा और न द्रव्यरूप में हिंसा :-

जहाँ न तो कषाय रूप प्रवृत्ति हो और बाह्य रूप में भी हिंसा न हो, वहाँ सर्वथा अहिंसा ही है।

उपरोक्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनदर्शन में भावहिंसा के सद्भाव में ही द्रव्यहिंसा को स्वीकार किया गया है। भावहिंसा और प्रमाद अवस्था के अभाव में यदि किसी प्राणी की हिंसा भी हो गयी है तो वह हिंसा की परिधि के बाहर है। इसे हिंसा-अहिंसा के सूक्ष्म विश्लेषणकर्ता आचार्य अमृतचंद्र ने बहुत सुन्दर सूत्र द्वारा उल्लेखित किया है - ''किसी जीव को हिंसा, अहिंसा का फल देती है, अन्य नहीं।''(87) इस सूत्र का खुलासा आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल ने निम्नानुसार दिया है- 'किसी जीव के अन्तरंग में दयाभाव हैं और वह यत्नपूर्वक किसी दु:खी जीव को देखकर उसके दु:खनिवारण में प्रयत्नवान है, फिर भी यदि उसे तत्काल कष्ट हो जाए अथवा यत्न करते हुए उसके निमित्त से उस दु:खी जीव का प्राणघात हो जाए, वहाँ यद्यपि बाह्य में उसकी हिंसा हुई है, किन्तु अन्तरंग परिणाम के अभाव में अहिंसा के फल को प्राप्त करता है।'(88)

इसी संदर्भ में अनगारधर्मामृत में कहा गया है - ''यदि जीव राग-द्वेष-मोह रूप परिणामों से आविष्ट नहीं है तो प्राणों का व्यपरोपण हो जाने पर भी अहिंसक है और यदि रागादि कषायों से युक्त है तो प्राणों का वियोग न होने पर भी हिंसक है।''(89) भगवती आराधना में भी प्रमत्त को हिंसक व अप्रमत्त को अहिंसक कहा गया है।(90)

(ङ) केवल प्राणघात को हिंसा लक्षण मानने पर दोषों की उत्पत्ति -

यहाँ प्रश्न उठता है कि केवल परजीवों को पीड़ा पहुँचाना हिंसा का लक्षण क्यों नहीं कहा ? इस प्रश्न का सुंदर समाधान आचार्य अमृतचंद्र ने 'पुरुषार्थसिद्धिउपाय' में दिया है यदि हिंसा का उपरोक्त लक्षण माना जाए तो इसमें अतिव्याप्ति* व अव्याप्ति* दोष उत्पन्न होगा।

(i) अतिव्याप्ति दोष :-

हिंसा का उक्त लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होता है। कारण, "योग्य आचरण करने वाले सन्तपुरुषों के रागादि के अभाव में केवल प्राण-घात से हिंसा कभी-भी नहीं होती। यदि केवल प्राणघात को हिंसा का लक्षण माना जाए तो अतिव्याप्ति दोष लागू होगा।"[91] 'प्रवचनसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे सोदाहरण स्पष्ट किया है - "ईर्यासमिति से गमन करने वाले साधु के पैर के नीचे कोई क्षुद्रप्राणी आकर दब जाए और उनके निमित्त (संबंध) से मर जाए तो भी प्रमत्त योग के अभाव में साधु को किचिंत्-मात्र भी दोष आगम में नहीं कहा है।"[92]

समयसार के बंधाधिकार में 240-241 गाथा की टीका के अन्तर्गत इस तथ्य को सम्पूर्णत: से दिग्दर्शित किया गया है :- "न्याय के बल से यह निर्बाधतया सिद्ध होता है कि निश्चय से बन्ध का कारण एकमात्र रागादिभाव है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुकर्म योग्य पुद्गलों से परिपूर्ण लोक, मन-वचन-काय के योग, अनेक करण तथा चेतन-अचेतन का घात बन्ध के कारण नहीं हैं, यदि उनसे बंध हो तो सिद्धों के, यथाख्यात चारित्रवानों के, केवलज्ञानियों के और समितिरूप प्रवृति करने वाले मुनियों के बन्ध का प्रसंग आएगा। परन्तु उनके तो बंध होता नहीं है इसीलिए इन कारणों में (हेतुओं) व्याभिचार (दोष) है।"[93]

(ii) अव्याप्ति दोष :-

कषाययुक्त परिणामों के साथ प्रमाद रूप अयत्नाचार प्रवृति करते हुए परजीव का घात हो या न हो तो भी वह हिंसा ही है[94] इस कारण केवल परपीड़ा को हिंसा का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा, क्योंकि भावहिंसा, उस हिंसा में समाहित नहीं होती है।

हिंसा का यह लक्षण मानने पर उपरोक्त दोष के अतिरिक्त एक अन्य आपत्ति यह उत्पन्न होगी कि ऐसा मानने पर कोई व्यक्ति अहिंसक हो ही नहीं सकता? महाव्रतधारी साधु को पूर्ण अहिंसा का पालक कहना भी मिथ्या सिद्ध होगा ?

आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्तिक में ऐसा ही प्रश्न उपस्थित किया कि जल में, स्थल में, आकाश में, सब जगह जन्तु ही जन्तु हैं तो इस जन्तुमय जगत् में भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है ? यही शंका महाभारत के शान्ति पर्व में उठायी गयी है। सम्पूर्ण जगत जब जीवों से व्याप्त है तो कोई हिंसा से कैसे बचा रह सकता है ?

इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि इस शंका को यहाँ अवकाश नहीं है, क्योंकि ज्ञान ध्यान परायण अप्रमत्त भिक्षु को मात्र प्राणवियोग से हिंसा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि जीव भी सूक्ष्म व स्थूल दो प्रकार के हैं। जो सूक्ष्म हैं वे न तो

किसी से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं, अत: उनकी तो हिंसा होती नहीं है। जो स्थूल जीव हैं उनकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है। जिनकी हिंसा रोकना शक्य है उसे प्रयत्नपूर्वक रोकने वाले संयत के हिंसा कैसे हो सकती है।[95]

महाभारत में या अन्य जैनेत्तर दर्शनों में द्रव्यहिंसा और भावहिंसा को अलग-अलग न मानने से उक्त शंका को उठाया है। भगवती अराधना में द्रव्य हिंसा को हिंसा की कोटि से भिन्न रखते हुए कहा है "यदि रागद्वेष रहित आत्मा को भी बाह्य वस्तु के सम्बन्ध से बंध होगा तो जगत में कोई भिक्षु अहिंसक नहीं है, क्योंकि शुद्ध मुनि भी वायु कायादि जीवों के वध के हेतु हैं।"[96]

अप्रमत्तजनों को हिंसा आस्रवरूप नहीं होती। इसका ज्ञान किस न्याय या प्रमाण से हो ? जिसके बिना जो नहीं होता है वह उसका कारण कहलाता है। बहिरंग अहिंसा के अभाव होने पर केवल अन्तरंग हिंसा से सिक्थ मतस्य के बंध की उपलब्धि होती है अत: निश्चय से अन्तरंग हिंसा ही हिंसा है, बहिरंग नहीं। यह बात सिद्ध होती है।[97] पुन: शंका उत्पन्न हो सकती है कि परजीवों का प्राणघात हुए बिना हिंसा कैसे कही जा सकती है, क्योंकि लोक में तो हिंसा का अर्थ घात करना है ? यद्यपि हिंसा का अर्थ घात करना ही है। परन्तु घात भी दो प्रकार का है - एक आत्मद्यात और दूसरा परद्यात। जब इस आत्मा ने कषाय भावों से परिणमन करके अपना बुरा किया, तब आत्मघात तो पहले हो गया, तत्पश्चात् अन्य जीव की आयु पूरी हो जाए तो उसका भी घात हो जाए। तू उसका घात तो नहीं कर सकता। कारण, उसका घात तो उसके कर्माधीन है कहीं इस जीव के आधीन नहीं है। इस प्रकार प्रमाद सहित योग में आत्मघात की अपेक्षा है।[98] जैसे - कोई व्यक्ति अंगार फेंककर किसी को मारने की कामना करता है तो सबसे पहले स्वयं के ही हाथ को जलाता है इससे दूसरा प्राणी जले अथवा न जले यह कोई जरूरी नहीं है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी मोहादिक परिणामों से परिणमित होकर पहले तो स्वकीय शुद्ध प्राणों का घात करता है पश्चात् उत्तरकाल में अन्य जीव के प्राणों का घात हो, यह नियम नहीं है।[99]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से सयुक्तिक व सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है।[100] संसार में सभी प्राणी अपनी आयु लेकर आते हैं नित्य मरते और उत्पन्न होते हैं। अत: जीवों के मरने में यदि सावधान व्यक्ति कारण होता है तो वह हिंसक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसकी अन्तस् की भावना पवित्र एवं दयाद्र है। इसके विपरीत जिसके अन्तर्तम् में कलुषता व घृणा विद्यमान है तो उसके हिंसा अनिवार्य रूप से होती है। अत: हिंसा व अहिंसा को भावों पर ही आधारित मानना होगा यदि ऐसा न माना जाए तो एक भी व्यक्ति का मोक्ष व बन्ध न हो।[101]

इस प्रकार अनेकान्तमयी जैनदर्शन में हिंसा-अहिंसा के सन्दर्भ में भावों की प्रधानता पर बल देकर जो रहस्योद्घाटन किया है, वह उल्लेखनीय है। हिंसा-अहिंसा की अवधारणा पराधीन व पराश्रित न होकर अर्थात् दूसरे जीवों के जीवन मरण के आधीन न होकर स्वाधीन व स्वाश्रित है। सामान्यत: हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध दूसरों से जोड़ा जाता है। दूसरे जीव को मारना हिंसा व रक्षण करना अहिंसा माना जाता

है, परन्तु इससे पृथक् जैनदर्शन उद्घोष करता है कि हिंसा-अहिंसा का केन्द्र बिन्दु मन की वृतियाँ हैं इनके पालन में पूर्णत: आत्म-परिणामों की मुख्यता है और लेशमात्र भी पराधीनता नहीं है। उक्तं च- ''परवस्तु के सम्बन्ध से आत्मा को रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती, फिर भी भावों की पवित्रता बनाये रखने के लिए हिंसा के स्थान परिग्रहादि का परित्याग कर देना चाहिए। क्योंकि जीव चाहे मरे या न मरे अयत्नाचार (अनर्गल) प्रवृति वालों को बंध होता ही है।''[102]

'आचारसार' व 'धवला पुस्तक' 14 में हिंसा-अहिंसा के स्वाधीन स्वरूप को प्रकाशित किया गया है :- ''अहिंसा भी स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं होती है, दोनों ही पराधीन नहीं है। जो प्रमादरहित है वह अहिंसक है और जो प्रमादयुक्त है वह सदा हिंसक है।''[103]

उपर्युक्त सभी उद्धरणों से स्पष्टत: प्रमाणित हो जाता है कि जैनदर्शन हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में उपादानगत स्वतंत्रता का प्रतिपादन करता है और पराधीन मनोवृति का निषेध करता है। प्रमाद रूप प्रवृत्ति के सद्भाव व अभाव को हिंसा-अहिंसा से जोड़कर वस्तु की स्वतंत्र व्यवस्था का दिग्दर्शन कराता है।

हिंसा के प्रकरण में हिंसा के भेद व गृहस्थ जीवन में होने वाली हिंसा भी अवलोकनीय है -:

(च) हिंसा के भेद -

जैनदर्शन हिंसा के 108 भेद माने गये हैं। हिंसा की उत्पत्ति कषायों के कारण होती है। ये कषाय चार हैं - क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हीं कषायों के कारण समरंभ, समारंभ तथा आरंभ हिंसा होती है। हिंसा करने का जो विचार मन में आता है, उसे समरंभ हिंसा कहते हैं; हिंसा करने के लिए जो उपक्रम किया जाता है उसे समारंभ हिंसा कहते हैं ; और प्राणघात तक की क्रियाओं को आरम्भ हिंसा कहा जाता है। इस प्रकार चार कषाय तथा समरंभ आदि तीन भेद से हिंसा के बारह भेद हो जाते हैं। चूंकि हिंसा मन-वचन और काय से होती है तो हिंसा के बारह भेदों के तीन-तीन भेद हो जाते हैं अर्थात् 12 X 3 = 36 भेद हुए। किन्तु मन, वचन और काय जिन्हें तीन योग माना जाता है, के भी तीन-तीन भेद होते हैं - हिंसा स्वयं करना, अन्य व्यक्ति से करवाना तथा हिंसा करने वाले की अनुमोदना करना। ये तीन करण कहलाते हैं। इस प्रकार पहले के 36 और तीन करण के गुणा से हिंसा के 108 भेद माने जाते हैं।

(छ) गृहस्थ जीवन में विद्यमान हिंसा का स्वरूप -

गृहस्थ जीवन में विद्यमान हिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यों ने उसका वर्गीकरण चार रूपों में किया है -:

(अ) संकल्पी हिंसा :- केवल निर्दयपरिणाम ही हेतु हैं जिसमें ऐसे संकल्प (इरादा) पूर्वक किया गया प्राणघात संकल्पी हिंसा है।

(ब) उद्योगी हिंसा :- आजीविका हेतु व्यापार-व्यवसाय आदि कार्यों में (सावधानी वर्तते हुए) जो हिंसा हो जाती है वह उद्योगी हिंसा है।

(स) आरम्भी हिंसा :- गृहस्थ जीवन के अति सामान्य क्रियाकलाप सावधानीपूर्वक

सम्पन्न करने - जैसे भोजन तैयार करने आदि में जो हिंसा हो जाती है, वह आरम्भी हिंसा कहलाती है।

(द) विरोधी हिंसा :- अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन, समाज, देशादि पर किये गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है।(104)

उक्त चार प्रकार हिंसाओं में एक संकल्पी हिंसा का तो श्रावक सर्वथा त्यागी होता है, किन्तु बाकी तीन प्रकार की हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती है। यद्यपि वह उनसे बचने का पूरा-पूरा यत्न करता है, आरम्भ और उद्योग में पूरी-पूरी सावधानी रखता है, तथापि उसका आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णरूपेण बच पाना संभव नहीं है।

(ज) वेद प्रणीत हिंसा भी हिंसा है -

वैदिक साहित्य (परम्परा) में दो प्रकार की हिंसा का विवरण मिलता है। (1) याज्ञिक (2) यज्ञबाह्य। यज्ञ की वेदी से होने वाली हिंसा को हिंसा नहीं माना गया है और उसके बाहर होने वाली समस्त हिंसा को हिंसा की परिधि में रखा गया है। सर्वप्रथम वेदों में यज्ञीय हिंसा का प्रतिपादन मिलता है और फिर स्मृतियों, सूत्रों, पूर्व व उत्तर वेदान्तियों, वैष्णवाचार्यों ने वेदविहित होने से यज्ञीय हिंसा का समर्थन किया है तथा यज्ञ द्वारा यज्ञकर्ता व यज्ञवेदी पर मरने वाले पशुओं दोनों के कल्याण की बात भी कही गयी है।

युक्ति आधारित प्रमाण और न्यायोचित विवेचन के आधार पर सर्वप्रथम वेद का प्रामाण्य स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि आगम वह है जो समस्त प्राणियों के हित का विधान करे। हिंसा का विधान करने वाले वचन जिसमें हो। वह ठगों के वचन की तरह आगम का वचन नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि वेदों में कहीं हिंसा और कहीं अहिंसा का परस्पर विरोधी कथन मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि वहाँ इस सम्बन्ध में विचार अव्यवस्थित हैं। जैसे 'पुनर्वसु पहिला है और पुष्य पहिला है' ये वचन परस्पर विरोधी होने से अप्रमाण है। उसी तरह पशुवध से इष्ट पदार्थ मिलते हैं, यज्ञ विभूति के लिए है, अत: यज्ञ में होने वाला वध, अवध है। इस प्रकार एक जगह पशुवध का विधान करने वाले वचन और दूसरी जगह अज-जिसमें अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति न हो ऐसे तीन वर्ष पुराने बीजों से पिष्टमय बलिपशु बनाकर यज्ञ करना चाहिए। ये अहिंसक वचन भी परस्पर विरोधी होने से प्रमाण नहीं माने जा सकते। इस प्रकार अव्यवस्थित होने वेद व अन्य वैदिक परम्परा के ग्रंथ प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं।(105)

यहाँ पर एक तथ्य विशेष रूप विचारणीय है कि यदि हिंसा को धर्म का साधन माना जाए तो मछलीमार, चिड़ीमार आदि हत्यारों को धर्म प्राप्ति समान रूप से होनी चाहिए और तब अहिंसा को धर्म कहना अयुक्त हो जाएगा।

'यज्ञीय हिंसा के सिवाय दूसरी हिंसा पाप का कारण है' यह पक्ष भी गलत है, क्योंकि दोनों हिंसाओं में समान रूप से प्राणिवध होता है और दु:ख हेतुता भी समान है। अत: फल की दृष्टि से भी दोनों तुल्य हैं। अन्यथा यज्ञ में किये गये पशुवध की तरह बाहर किये गये पशुवध को पुण्य का हेतु मानना चाहिए। मनुस्मृतिकार का यह पक्ष

असिद्ध है कि स्वयंभू ने यज्ञ के अर्घ ही पशुओं की सृष्टि की है। अत: यज्ञ का वध पाप का हेतु नहीं हो सकता, कारण पशुओं की सृष्टि ब्रह्मा ने की है यह बात अभी तक सिद्ध नहीं हो सकी है। यदि ब्रह्मा ने पशुसृष्टि यज्ञ के लिए की है तो फिर उनका खरीद-बिक्री आदि अन्य उपयोग नहीं करना चाहिए, अन्यथा दोष होगा। जैसा कि कफनाशक औषधि का अन्यथा प्रयोग करने पर होता है।

मीमांसक यह तर्क देते हैं कि मंत्र की प्रधानता से यह हिंसा निर्दोष है। जिस प्रकार मंत्र से संस्कृत विष मरण का कारण नहीं होता, उसी प्रकार मंत्र संस्कार पूर्वक होने वाला पशुवध भी पाप का हेतु नहीं हो सकता।

ऐसा तर्क भी उचित नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष विरोध देखा जाता है। यथा-मन्त्र से संस्कृत विष प्रत्यक्ष से ही अमृतमय देखा जाता है वैसे ही यदि केवल मन्त्र बल से ही यज्ञवेदी पशुओं का घात देखा जाता तो यहाँ मंत्र बल पर विश्वास किया जाता, परन्तु याज्ञिक लोग जिस निर्दयता से रस्सी आदि बांधकर पशुवध करते हैं, वह किसी से छिपा नहीं है अत: यहाँ मन्त्र सामर्थ्य की कल्पना उचित नहीं है। इस प्रकार वेदविहित होने से हिंसा की जघन्यता कम नहीं हो जाती है, क्योंकि शुभ परिणामों से पुण्य व अशुभ परिणामों से पापबंध नियत है इसमें हेरफेर नहीं हो सकता।[106]

दूसरी ओर, यज्ञ में पशु का होम करने से उसके कल्याण होने की जो बात कही गयी है उस का उपहास करते हुए चार्वाकों का कहना है कि "ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु यदि स्वर्ग चला जाता है तो यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार देता। ऐसा करने पर उसके पिता अनायास स्वर्ग में पहुँच जायेंगे।"[107] स्याद्वादमंजरी में भी कहा गया है - "हिंसा करके स्वर्ग जाने की कामना तो ऐसी है कि जैसे कोई व्यक्ति अपने पुत्र को मारकर राज्य प्राप्त करने की इच्छा करे।"[108]

मीमांसक आक्षेप कर सकते हैं कि आप जैन लोग भी तो मंदिर आदि का निर्माण करते समय पृथ्वीकायिक, जलकायिक व वायुकायिक आदि अनेक जीवों की हत्या कर डालते हो, किन्तु उसमें तो आप पाप नहीं मानते, अपितु मंदिरों के निर्माण को पुण्य का कार्य समझते हो। ऐसी ही स्थिति यज्ञ में की गयी हिंसा की भी है।

उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर मल्लिषेण सूरी इस प्रकार देते हैं कि हमारे मंदिरों के निर्माण में जो हिंसा होती है, वह अपरिहार्य है और प्रयत्न करने पर भी नहीं रोकी जा सकती क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है। दूसरी बात यह है कि जैन मंदिरों के निर्माण में हिंसा के द्वारा जो थोड़े से पुण्य का क्षय होता है वह पुण्यक्षय उस महान सुकृत के समक्ष कुछ भी नहीं है जो मंदिर में स्थापित जिन प्रतिमा के दर्शन से होता है। यदि थोड़ा-सा पुण्य खोकर अधिक पुण्य का अर्जन किया जाए तो यह दोष नहीं होता। किन्तु आप मीमांसकों के मत में ऐसी स्थिति नहीं है। यज्ञ के सम्पादन में तो अन्य उपाय भी हैं। मंदिर के निर्माण में पृथ्वीकाय आदि जीवों का वध यद्यपि होता है, किन्तु उनके निर्माण में उन जीवों के प्रति दया का भाव निर्माताओं के मन में होता है, किन्तु पशुहन्ता यज्ञकर्ताओं का हृदय तो इतना क्रूर और पापी हो जाता है कि पशुओं की करुण पुकार से द्रवित नहीं होता।[105] इस प्रकार मीमांसकों का उक्त आक्षेप पूर्णत: निराकृत हो जाता है।

हिंसा के स्वरूप का स्पष्टीकरण हेतु निम्नांकित तालिका दृष्टव्य है-

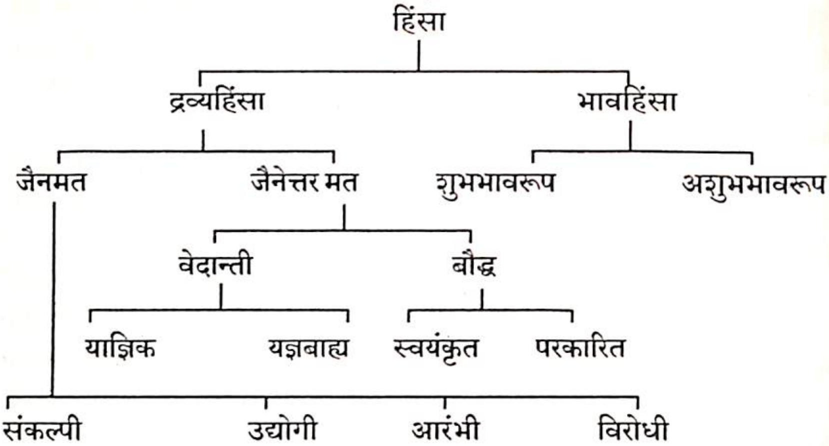

11. अहिंसा का स्वरूप :-

जैनदर्शन प्रणीत हिंसा व्यावृत्त अहिंसा के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अहिंसा के सन्दर्भ में एक बात ध्यान देने योग्य है कि इस दर्शन में अहिंसा सिद्धान्त का विशेष विवेचन मोक्षमार्ग के त्रिरत्नों के अन्तर्गत सम्यक्चारित्र के प्रकरण में किया गया है। इसमें महाव्रतों व अणुव्रतों के अन्तर्गत अहिंसा की प्ररूपणा मिलती है और सर्व व्रतों में अहिंसा को सिरमौर माना गया है। कहा गया है - "इस जगत में अणु से छोटी दूसरी वस्तु नहीं है और आकाश से बड़ी कोई चीज नहीं है। इसी प्रकार अहिंसाव्रत से बड़ा दूसरा कोई व्रत नहीं है। यह सर्व आश्रमों का हृदय है, सर्व शास्त्रों का गर्भ है और सर्वव्रतों का निचोड़ा हुआ सार है।"[110] यही कारण है 'अहिंसा परमोधर्म:' जैनदर्शन का प्रमुख उद्घोष है।

जैनदर्शन में सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत वर्णित अहिंसा के स्वरूप को समझने के पूर्व चारित्र का अर्थ समझना आवश्यक है। चारित्र का अर्थ है - चरण, लीनता या आचरण। कहा भी है - "चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्।" यद्यपि चारित्र का एक ही प्रकार है, परन्तु उसका निरूपण निश्चय व व्यवहार दो रूपों में किया गया है। आत्मस्वरूप में चरण या लीनता को निश्चयचारित्र की संज्ञा दी गयी है और उसके बाह्य में महाव्रत व अणुव्रत पालन करना व्यवहारचारित्र कहा गया है। सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत वर्णित होने से अहिंसा केवल एक नैतिक सिद्धान्त न होकर तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त हो जाता है, क्योंकि यह व्यक्ति को श्रेयस्मार्ग या जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को उपलब्ध कराता है।

जैनदर्शन के अनुसार, सामान्यत: जीव घात का भाव व प्रवृति न करना अहिंसा है। जैनदर्शन हिंसा की भाँति अहिंसा को दो रूपों में व्याख्यायित करता है -:

(अ) निश्चय अहिंसा -

आत्मा के चैतन्यस्वरूप में रमणता या रागादि भावों की उत्पत्ति का अभाव

निश्चय अहिंसा है। इसमें अहिंसा के निषेधपरक व विधिपरक दोनों रूप वर्णित हो जाते हैं।

(ब) व्यवहार अहिंसा -

निश्चय अहिंसा के साथ जीवदया एवं जीवरक्षा आदि समस्त प्रकार से सदाचार रूप अहिंसक प्रवृति या आचरण रखना व्यवहार से विधिपरक अहिंसा है तथा परपीड़न, जीवघात, झूठ, चोरी, कुशील, मांस, मदिरा, जुआ आदि रूप प्रवृति न रखना व्यवहार से निषेधपरक अहिंसा है।

पूर्व में यह बात कही गयी है कि मन में यदि मारने का भाव है और बाह्य में हिंसा न भी हो तो वह हिंसा का दोषी है, क्योंकि मारने के भाव का नाम हिंसा है और बचाने के भाव का नाम अहिंसा माना जाता है, परन्तु अहिंसा का यह स्वरूप व्यवहार से है, निश्चय से ऐसा नहीं है। यही तथ्य जैनदर्शन के द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के सूक्ष्म स्वरूप को इंगित करता है। यही बात अहिंसा के उक्त भेदों द्वारा स्पष्ट की है। जैनदर्शन का मानना है कि मारने का भाव तो हिंसा है ही; किन्तु बचाने का भाव भी निश्चय से हिंसा ही है; क्योंकि वह भी रागभाव ही है और राग किसी प्रकार का क्यों न हो वह हिंसा ही है। पूर्व में हिंसा की परिभाषा में राग की उत्पत्ति मात्र को हिंसा बताया जा चुका है। क्योंकि वह जीव के निर्विकल्प स्वानुभूति के घातक भाव हैं उनके विद्यमान रहने पर जीव को निर्विकल्प स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती। आचार्य अमृतचंद्र ने अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि "निश्चय से आत्मा में रागादिभावों का उत्पन्न न होना ही अहिंसा है, यही जिनागम का सार या रहस्य है।"(111)

जैनाचार्यों ने शास्त्रीय भाषा में मारने या सताने के भाव को तीव्र कषाय (अशुभ या पापभाव) तथा बचाने व उपकार करने के भाव को मंदकषाय (शुभ या पुण्यभाव) की संज्ञा दी है। दोनों प्रकारों के परिणामों से आत्मा कसा जाता है अर्थात् वह स्वतंत्र न रहकर परतंत्र बनता है और कर्मों के बन्धन में बँधता है। इसी तथ्य को प्रकाशित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयसार गाथा 146 में कहते हैं कि 'जैसे सोने की बेड़ी पुरुष को बांधती है वैसे ही लोहे की बेड़ी भी बाँधती है। उसी प्रकार कर्म चाहे शुभ हो अथवा अशुभ जीव को बाँधता है।' यद्यपि तीव्रराग की अपेक्षा मंदराग को शास्त्रों में भला भी कहा है। इसमें दृष्टि यह है कि राग जितना घटे उतना अच्छा है, परंतु राग का सद्भाव धर्म नहीं है, धर्म तो राग-द्वेष-मोह का अभाव है। वही सच्ची अहिंसा है जिसे हम परमधर्म कहते हैं।(112)

इस प्रकार यह जैनदर्शन प्रणीत अहिंसा का सूक्ष्म व सर्वोत्कृष्ट रूप है जो समस्त विकल्पात्मक भावों चाहे वह रक्षा से संबंधित हो या मारने से, उन्हें हिंसा की कोटि में रखकर निर्विकल्प आत्मानुभूति को अहिंसा घोषित करता है।

12. वस्तुस्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा की अवधारणा :-

अब आगे हिंसा-अहिंसा के जिस स्वरूप का प्रगटीकरण किया जा रहा है वह वस्तुस्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य में है। वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा के अनुसार विश्व के समस्त द्रव्यों का परिणमन स्वतंत्र है, कोई भी किसी का कर्ता-हर्ता नहीं है और कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणमन में किचिंत मात्र भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

अहिंसा के सन्दर्भ में वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा यह है कि कोई भी जीव दूसरे जीव के जीवन-मरण का कर्ता नहीं हो सकता है। प्रत्येक जीव का जीवन-मरण स्वतंत्र व स्वाधीन है। उसके जीवन-मरण किसी का किंचित मात्र भी हस्तक्षेप संभव नहीं है, क्योंकि यदि जीवन-मरण में दूसरे का हस्तक्षेप संभव होगा तो वहाँ स्वतंत्रता कैसे संभव हो सकती है ?

जैनदर्शन में अहिंसा की अवधारणा किस प्रकार स्वतंत्र व स्वाधीन है, इसके सम्बन्ध में समयसार के बंधाधिकार में आचार्य कुन्दकुन्द के निम्न कथन द्रष्टव्य है कि -: "जो यह मानता है कि मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं - वह मूढ़ (मोही) है, अज्ञानी है, इसके विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।" "जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है। तुम परजीवों की आयु को हरते नहीं हो तो तुमने उनका मरण कैसे किया ? और परजीव तुम्हारे आयुकर्म को हरते नहीं है तो उन्होंने तुम्हारा मरण कैसे किया ?"(113)

इन तीनों गाथाओं में आचार्य देव ने दो दो बातें स्पष्ट की हैं (1) आयुकर्म के अभाव हुए बिना मरण होना अशक्य है। (2) कि सी भी जीव के द्वारा दूसरे जीव के आयुकर्म का कर्म हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह अपने आयुकर्म उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है। इसलिए 'मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं ऐसा अध्यवसाय* ध्रुवरूप से (नियम से) अज्ञान है।

आचार्य पूर्वोक्त गाथाओं के आगे कहते हैं - मरण की तरह प्रत्येक प्राणी का जीवन भी स्वाधीन है -: "जीव की यह मान्यता है कि मैं परजीवों को जिलाता (रक्षा करता) हूँ और परजीव मुझे जिलाते हैं वह मोही (मिथ्यादृष्टि) है, अज्ञानी है और जो इसके विपरीत मानता है, वह ज्ञानी है।"(114)

इस मान्यता से युक्त जीव अज्ञानी कैसे है ? जबकि वह परजीवों को बचाने की चेष्टा में प्रयासरत होता है, इसके उत्तर में आचार्यदेव 251-252 गाथा में कहा है कि - "जीव आयुकर्म के उदय से जीवित रहता है। तुम परजीवों को आयुकर्म नहीं देते हो तो तुमने उसका जीवन (जीवित रहना) कैसे किया? इसी प्रकार परजीव तुम्हें आयुकर्म तो देते नहीं है तो उन्होंने तुम्हारा जीवन कैसे किया ?"(115) उक्त गाथाओं का निष्कर्ष देते हुए आगे कहा गया है - "जो मरता है और जो दु:खी होता है वह सब स्वयं के कर्मोदय से होता है, अत: 'मैंने मारा, मैंने दु:खी किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ? अवश्य ही मिथ्या है और जो न मरता है और न दु:खी होता है वह भी वास्तव में कर्मोदय से ही होता है। अत: 'मैंने नहीं मारा, मैंने दु:खी नहीं कया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ? अवश्य ही मिथ्या है।"(116)

आयुकर्म :- जैनदर्शन संसार अवस्था में जीव को आठ कर्मों से निबद्ध मानता है। उन अष्टकर्मों में एक आयुकर्म भी है। जीव का किसी विवक्षित शरीर में टिके रहने का नाम ही आयु है। इस आयु का निमित्त कर्म आयुकर्म है।(117) राजवार्तिक में कहा गया है -

"जीवन के परिणमन का नाम आयु है अथवा जिसके सद्भाव में आत्मा जीवित रहता है तथा जिसके अभाव में मृत कहा जाता है ऐसे शरीर के भवधारण में कारण आयु है; क्योंकि भवधारण आयुकर्म की प्रकृति है।"(118)

आयुकर्म का उदय - जीव के पूर्वकृत जो शुभ या अशुभ कर्म उसकी चित्त भूमि पर अंकित पड़े रहते हैं, वे अपने-अपने समय पर परिपक्व दशा को प्राप्त होकर जीव को फल देकर खिर जाते हैं, इसे ही कर्मों का उदय कहते हैं।[119] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में कहा है - "अपनी-अपनी स्थिति के क्षय के वश से उदय रूप निषेकों के गलने पर कर्मस्कन्धों की जो फलदान परिणति होती है, उसे उदय कहते हैं।"[120] यह कर्मोदय द्रव्य-क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा रखकर आता है।[121] आयुकर्म के उदय में कोई जीव दूसरे को मार नहीं सकता है और अभाव में बचा नहीं सकता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन को आचार्य अमृतचंद्र ने दो छंदों में निम्नानुसार व्यक्त किया है - "इस जगत् में जीवों के जीवन-मरण, सुख-दु:ख, यह सब सदैव नियम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मोदय से होता है।" दूसरा पुरुष, दूसरे के जीवन-मरण, सुख-दु:ख का कर्ता है यह मानना तो अज्ञान है। "जो पुरुष पर के जीवन-मरण, सुख-दु:ख का कर्ता दूसरे को मानते हैं, वे अहंकार रस से कर्मेन्द्रिय को करने के इच्छुक (अर्थात् मैं इन कर्मों को करता हूँ ऐसे अहंकार रूपी रस से जो कर्म करने की, मारने व जिलाने की, सुखी-दु:खी करने की- वाँछा करने वाले हैं) होने से नियम से मिथ्यादृष्टि हैं और अपने आत्मा का घात करने वाले हैं।"[122]

"सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं। जहाँ अन्य जीव अन्य जीव के इन कार्यों का कर्ता हो, वही मिथ्या अध्यवसाय बन्ध का कारण है।"[123] यही कारण है कि पंचाध्यायीकार ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि - "आगम में जो स्व और अन्य प्राणियों की अहिंसा का सिद्धान्त माना गया है, वह केवल स्वात्मरक्षा के लिए है, पर के लिए नहीं।"[124]

इस प्रकार इस तथ्य का पूर्णत: स्पष्टीकरण हो जाता है कि जैनदर्शन आत्मा को अजर-अमर मानते हुए भी बाह्य में परजीवों के निमित्त से जो जीवों के रक्षण या प्राणघात देखा जाता है, उसे जीव के स्वयंकृत कर्मोदय के आधीन मानता है, परकृत नहीं। इस प्रकार वह जीवन-मरण को स्वाधीन व स्वतंत्र घोषित कर अहिंसा सिद्धान्त द्वारा वस्तु की स्वतंत्र व्यवस्था का प्रतिपादन करता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि एक जीव दूसरे जीव का रक्षण या प्राण हरण करता हुआ दिखाई देता है वह क्या असत्य है ? यथार्थ दृष्टि से वह असत्य ही है; क्योंकि द्रव्यस्वभाव से आत्मा की अमरता एवं पर्याय के परिवर्तन में स्वयं के उपादान एवं कर्मोदय को निमित्त स्वीकार कर लेने के बाद एक प्राणी द्वारा दूसरे प्राणी का वध और रक्षा करने की बात में कितनी सच्चाई रह जाती है यह एक सोचने की बात है।[125]

इस मरने-मारने की घटना में सत्य केवल इतना है कि एक जीव के आयुकर्म के क्षय व आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने के कारण जीवित दिखाई देने वाले जड़ शरीर के निष्क्रिय रूप परिणमन तथा अन्य जीव के परघात रूप भाव की उत्पत्ति और शरीर तथा अस्त्र की अमुक परिणमन रूप क्रिया इन समस्त स्वतंत्र घटनाओं का जब एक काल होता है तो अज्ञानी अपनी मान्यता में इन स्वतंत्र घटनाओं में कर्ता-कर्म रूप अनेक प्रकार के मिथ्या संबंधों की कल्पना करके आकुलित होता है। जैसे - चलती

हुई गाड़ी के नीचे कुत्ते की यह मान्यता कि गाड़ी को मैं खींचता हूँ नितान्त भ्रम नहीं तो क्या है ?[126]

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि कोई भी प्राणी जब दूसरे प्राणी को मार या बचा नहीं सकता तो जीव रक्षा का उपदेश क्यों दिया जाता है ? इस शंका के सन्दर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जैनदर्शन का सम्पूर्ण कथन पद्धति नय निबद्ध है जहाँ यह कहा जाता है कि जीव का जीवन-मरण अन्य जीव कर सकता है या कर्म के उदय से होता है, वह व्यवहार-नय का कथन है। जहाँ यह कहा जाता है जीव का जीवन-मरण कोई नहीं कर सकता है, क्योंकि जीव तो जन्म-मरण से रहित अनादि अनंत नित्य वस्तु है। कोई उसका जन्म-मरण कैसे करा सकता है, यह निश्चयनय की प्रधानता से कथन है।

समयसार के भाषा टीकाकार पंडित जयचंद जी छावड़ा ने भी इसी तथ्य को उद्घाटित किया है - ''कोई किसी जीव के मारे नहीं मरता और जिलाये नहीं जीता तथा किसी सुखी-दु:खी किये सुख-दु:खी नहीं होता; इसलिए जो मारने, जिलाने आदि का अभिप्राय करता है वह मिथ्यादृष्टि ही है - यह निश्चयनय का वचन है। यहाँ व्यवहारनय गौण है।''[127]

व्यवहारनय इस प्रकार है :- परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से पर्याय का जो उत्पाद-व्यय हो उसे जन्म-मरण कहा जाता है; वहाँ जिसके निमित्त से रक्षण या मरण हो उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'इसने इसे मारा या इसने इसे जिलाया' यह व्यवहार है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि व्यवहार का सर्वथा निषेध है। जो निश्चय नहीं जानते हैं, उनका अज्ञान मिटाने के लिए यहाँ कथन किया है। उसे जानने के बाद दोनों नयों को अविरोध रूप से जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिए।[128]

जैनदर्शन में अनेकान्तिक दृष्टिकोण में उपर्युक्त अहिंसा के सम्बन्ध में यह आक्षेप नहीं लगाया जा सकता कि यदि उक्त अहिंसा को ही व्यवहारिक जीवन में उपादेय मान लेंगे तो फिर देश, समाज, घर-बार, यहाँ तक कि अपनी माँ-बहिन की इज्जत बचाना भी संभव न होगा। क्योंकि प्रथम तो 'कोई व्यक्ति किसी का जीवन-मरण, सुख-दुख कर ही नहीं सकता,' इस सत्य की स्वीकृति के उपरान्त यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए। दूसरे भूमिकानुसार ज्ञानी जीवों को भी रक्षा आदि के भाव हेयबुद्धिपूर्वक आये बिना नहीं रहते। ज्ञानी गृहस्थों के जीवन में अहिंसा और हिंसा का क्या स्वरूप है, इसका विस्तृत वर्णन जैनाचार ग्रंथों में मिलता है तथा उसके प्रायोगिक रूप के दर्शन पुराणों के परिशीलन प्राप्त से किये जा सकते हैं। यहाँ उसकी विस्तृत समीक्षा के लिए अवकाश नहीं है।[129]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि नयात्मक शैली में निबद्ध सम्पूर्ण जिनागम में हिंसा-अहिंसा का अनेक रूपों में प्रतिपादन मिलता है एक ओर, जहाँ वह अहिंसा का वास्तविक सूत्र 'जियो और जीने दो' की उद्घोषणा कर मन वचन-काय से एकेन्द्रियादि जीवों की रक्षा करने की ओर कृतसंकल्पित करता है। वहीं दूसरी ओर, इस तथ्य का मुख्यता से प्रतिपादन करता है कि कोई भी जीव किसी जीव को बचा ही

नहीं सकता। यह उसकी सामर्थ्य या सीमा के बाहर है। इस प्रकार अहिंसा की अवधारणा दूसरे के रक्षण या जिलाने तक सीमित नहीं है, वरन् 'अन्य को बचाता हूँ' इस मिथ्या अध्यवसाय के त्यागस्वरूप भी है। इस प्रकार जैनदर्शन में अहिंसा सिद्धान्त के द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य का पोषण किया गया है।

13. अहिंसा द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि :-

वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा का निहितार्थ है कि कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणमन या कार्य में किंचित् मात्र भी सहायता या हस्तक्षेप नहीं कर सकता। सभी द्रव्य अपने आप में परिपूर्ण, स्वाधीन व स्वतंत्र हैं। लेकिन अहिंसा सिद्धान्त के सन्दर्भ में यह बात कैसे संभव है ? क्योंकि अहिंसा का अर्थ ही है दूसरे प्राणियों को बचाना, रक्षा करना या कष्ट न पहुँचाना। इसका पालन तो दूसरे के सम्बन्ध से ही संभव है। परन्तु जैनदर्शन मन्तव्य है कि यह अहिंसा का सामान्य (व्यवहार अहिंसा) स्वरूप है। सच्ची अहिंसा (निश्चय अहिंसा) तो रागादिभाव के अभाव रूप शुद्ध चैतन्य स्वरूप में रमणता का नाम है। और जहाँ तक दूसरे जीवों को मारने या जिलाने का सम्बन्ध है वह जीव की शक्ति व सामर्थ्य के बाहर है, क्योंकि जीवन-मरण, सुख-दुःख जीवों के स्वयंकृत कर्मोदय के आधीन है, अर्थात् स्वाधीन है, परकृत या पराधीन नहीं है। अतः पर को मारने व बचाने के कर्तृत्व की हस्तक्षेपक गंध वस्तुस्वातंत्र्य के पोषक सिद्धान्त 'अहिंसा' में स्वीकृत नहीं है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि होती है। साथ ही, इससे क्रोध-मायादि कषायों का नाश होता है। मैं परजीवों को मार सकता हूँ ऐसी मान्यता से क्रोध कषाय रूपी ज्वाला उत्पन्न होती है एवं परजीव मुझे मार सकते हैं या मेरा जीवन समाप्त कर सकते हैं ऐसी मान्यता से व्यक्ति को निर्भय या भयातीत नहीं रहने देती। व्यक्ति का मन सदैव भयाक्रान्त बना रहता है। दूसरी ओर, 'मैं परजीवों को जिला सकता हूँ अथवा रक्षण कर सकता हूँ' ऐसी मान्यता से अहंकार पैदा होता है और परजीव मुझे जिला अथवा बचा सकते हैं, ऐसी मान्यता से पराधीनता का भाव व दीन-हीन मनोवृति पैदा होती है और जब तक जीव के मानस में भय, क्रोध, अहंकार, दीनता-हीनता आदि के भाव विद्यमान रहेंगे। वह स्वतंत्रता व स्वाधीनता का अनुभव नहीं कर सकता है। अतः वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा से समन्वित अहिंसा सिद्धान्त व्यक्ति के मानस में स्वतंत्रता व स्वाधीनता के भाव का संचार कर अपने जीवन (लौकिक व पारमार्थिक) पथ पर निशंकता व निर्भयता से गमन करने की प्रेरणा देता है।

इस प्रकार समस्त जैनेत्तर दर्शनों में व जैनदर्शन में अहिंसा सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या से यह तथ्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि जैनदर्शन में मान्य हिंसा-अहिंसादि की अवधारणा जैनेत्तर दर्शनों की तुलना में न केवल सूक्ष्म रूप में व विस्तृत परिप्रेक्ष्य में है, बल्कि वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा से समन्वित होने से मौलिक व नवीन रूप में अहिंसा के स्वरूप का प्रगटीकरण करती हैं। वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा जैनदर्शन में अहिंसा सिद्धान्त को तत्त्वमीमांसीय आधार प्रदान करता है जबकि जैनेत्तर दर्शनों में अहिंसा कोरे एक ऐसे नैतिक सिद्धान्त के रूप में सामने आता है, जिसका वास्तव में कोई तात्त्विक आधार नहीं होता।

संदर्भ - सूची

(1) अष्टाध्यायी 7/1/58.

(2) वही, 4/1/4.

(3) पच्च पदानि रूपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमिच्चव्रतेन।
अक्षरेण प्रतिमिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि॥ ऋग्वेद, 10/13/3.

(4) डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा : जैनधर्म में अहिंसा, पृ. 8.

(5) उपावसृजत्मन्या समज्जान् देवानां पाथ क्रतुथा हवीषि।
वनस्पति: शमिता देवो अग्नि: स्वदन्तु हव्यं मधुना वृतेन॥ ऋग्वेद, 10/110/10.

(6) Flesh was eaten but onlyof animals that were sacrificed viz, sheep and goat. R.K. mookerji : Ancient India, P. 67
द्वारा - डॉ. वशिष्ठनारायण सिन्हा : जैनधर्म में अहिंसा, पृ. 4.

(7) रामगोविन्द त्रिवेदी : हिन्दी ऋग्वेद, मंत्र 2, पृ. 1020.

(8) ऋग्वेद 6/75/14.

(9) याश्चं पश्यामि याश्चं न तेषु मा सुमति वृधि। अर्थववेद 3/30/4.

(10) मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। युजर्वेद 36/18.

(11) द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति: पृथ्वी
शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति:।
वनस्पतय: शान्ति र्विश्वे देवा: शान्ति-
ब्रह्म शान्ति: सर्वं शान्ति शान्तिरेव
शान्ति: सा मा शान्तिरेधि॥ युजर्वेद 36/17.

(12) Encyclopedia of Religion and ethics, Vol. I, P. 231.

(13) सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्रतीर्थेभ्य: स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। छान्दोगय उपनिषद 8/15/1.

(14) डॉ. सुरेन्द्र त्यागी : भारतीय दर्शनों में अहिंसा तत्त्व का तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पृ. 17

(15) प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्, खण्ड 4

(16) ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे।
रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति॥3॥
आरुणोकोपनिषद्, द्वारा-डॉ. वशिष्ठनारायण सिन्हा : जैनधर्म में अहिंसा, पृ.12.

(17) तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहार शौचनि चेति यमा दश॥1॥
शाडिल्योपनिषद्, द्वारा-डॉ. वशिष्ठनारायण सिन्हा : जैनधर्म में अहिंसा, पृ.12.

(18) नियुक्तस्तु यथान्यायं मो मासं नात्ति मानव:।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेक विंशतिम्॥ मनुस्मृति 5/35.

(19) यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधि: स्मृत:। वही, 5/31.

(20) अतोऽन्यथा प्रवृतिस्तु राक्षसौ विधिरुच्यते। वही, 5/31.

(21) यज्ञार्थं पशव: सृष्टा: स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्व तस्माद्यज्ञे वधोऽवधा:॥
औषध्य: पशवो वृक्षास्तिर्यच्च: पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थ निधनं प्राप्ता: प्राप्नुवृन्त्युत्सृती:॥ मनुस्मृति, 5/39-40.

(22) एप्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद् द्विज:।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तयां गतिम्॥ वही, 5/42.

(23) नावेद विहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत्।
या वेद विहितां हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्यो हि निर्बभो॥ वही, 5/43-44.

(24) यत्वन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम्।
वृथापशुघ्न: प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि॥ वही, 5/38.

(25) (क) षष्ठैमासेन्नप्राशन । श्वेतेभार्रद्वाज्या मांसेनवाकप्रसारिकामस्य कपिज्जल-मांसेनान्नद्यकामस्य मत्स्यैर्जवन् कामस्य । कृकषायास्याढ्या ... ।
पारस्कर गृह्यसूत्र, काण्ड 1, काण्डिका 19, सूत्र 1, 7-11.
(ख) तैतिरेण मांसेनत्येक ।
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, पटल 6, खण्ड 16, सूत्र 12.
(ग) सांखायन ग्रह्यसूत्र, अध्याय 1, खण्ड 27, सूत्र 288-291.

(26) (क) पारस्कर गृह्यसूत्र, काण्ड 1, कारिका 3, सूत्र 29.
(ख) आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, पटल 1, खण्ड 2, सूत्र 13-14.
(ग) आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, पटल 1, खण्ड 2, सूत्र 1-9.

(27) (क) खादिर गृह्यसूत्र, पटल 3, खण्ड 3, सूत्र 27.
(ख) सांखायन गृह्यसूत्र, अध्याय 3, खण्ड 13, सूत्र 664.

(28) (क) बोधायन धर्मसूत्र, प्रथम प्रश्न, खण्ड 12.
(ख) आपस्तम्बधर्मसूत्र, प्रथम प्रश्न, पटल 6, खण्ड 17, सूत्र 31-33, 36-38.
(ग) वशिष्ठ धर्मसूत्र, अध्याय 14, सूत्र 14, 15, 30, 38.

(29) (क) तिलमाषव्रीहियवोदकदानैर्मासं पितरः प्रीणान्ति । मतस्यहरिणरुरुशश-कूर्मवाराहमेषमांसैः संवत्सराणि ।
गव्यपयः पायसैद्वदिशवर्षाणि । वार्ध्रीणसेन मांसने कालशाकच्छागलौह-खडगमांसैर्मद्युमित्रेश्चा- नन्त्यम् ।
गौतमधर्मसूत्र, अध्याय 15, सूत्र 15.
(ख) आपस्तम्ब धर्मसूत्र, प्रश्न 2, पटल 7, खण्ड 16, सूत्र 24, 26-28.

(30) (क) यज्ञांगेभ्यः आज्यमाज्याद्ववीषि हविर्भ्यः पशुः पशोस्सोमदाग्नयः ।
वशिष्ठ धर्मसूत्र, अध्याय 11, सूत्र 46.
(ख) बोधायन धर्मसूत्र, प्रश्न 1, अध्याय 27.

(31) सत्यं सधर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥
(क) वाल्मीकि रामायण 2/109/31.
(ख) वही, 2/113/43-44.
(ग) वही, 6/18/27-28.

(32) (क) अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलि शरणागतम् ।
पलायमानं मत्तं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि ॥ वही, 6/80/39.
(ख) राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते ।
भृत्य त्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपाद्यतम् ॥ वही, 2/75/37.

(33) महाभारत (शान्तिपर्व), अध्याय 272, श्लोक 20

(34) अहिंसा परमोधर्मस्तथाहिंसा परंतपः । अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्म प्रवर्तते ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम् । अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
महाभारत (अनुशासन वर्ष) अध्याय 115, श्लोक 23, अध्याय 116, श्लोक 29.

(35) (क) सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु बाऽडाप्लुतम् ।
सर्वदानंफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया ॥ वही, अध्याय 116, श्लोक 30.
(ख) नहि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि । वही, अध्याय - 145.

(36) यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापि धीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ महाभारत (शान्तिपर्व) श्लोक 18.

(37) (क) येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभ्युज्जीवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ वही, अध्याय 141, श्लोक 63.
(ख) द्दष्टव्य है - महाभारत (शान्तिपर्व) अध्याय 141.

(38) महाभारत (शान्तिपर्व) वही, अध्याय 265, श्लोक 4, 5, 6, 8, 9.

(39) वही, अध्याय 272, श्लोक 5, 18.

(40) वही, अध्याय 337, श्लोक 15, 16, 17.

(41) विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः ॥ गीता, अध्याय 5, श्लोक 18.

(42) वही, अध्याय 4, श्लोक 23-33

(43) (क) जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु । वही, अध्याय 7, श्लोक 9
(ख) अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ वही, अध्याय 10, श्लोक 20

(44) कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृतः । ऋतेऽपि त्वां न ..... प्रयत्नोकेषु योधाः ॥
मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसांचिन् ॥ वही, अध्याय 11, श्लोक 32, 33.

(45) अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावाभूतानां मत्त एव पृथग्विधाः । वही, अध्याय 10, श्लोक 5.

(46) अहिंसा सर्वभूतानां कर्मणामनसागिरा । अकामादपि हिंसेत यदि भिक्षुः पशून मृगान् ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रंकुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ॥ वायुपुराण (पूर्वार्द्ध), अध्याय 18.

(47) विष्णुपुराण, प्रथम अंश, अध्याय 6.

(48) अग्निपुराण, अध्याय 272, श्लोक 3, 4, 5, 6.

(49) चतुर्वेदेषु यत् पुण्यं यत् पुण्यं सत्यवादिषु ।
अहिंसायान्तु यो धर्मो गमनादेव तत् फलम ॥
मत्स्यपुराण, अध्याय 105, श्लोक 48.

(50) हिंसास्वभावो यज्ञस्य इति मे दर्शनागमः ।
तथैते भाविता मन्त्रा हिंसालिंगमहर्षिभिः । वही, अध्याय 142, श्लोक 21.

(51) कर्मणा मनसा वाचा येन हिंसति किंचन ।
ये न मज्जन्ति कस्मिंश्चित्ते न बहनन्ति कर्मभिः ॥
ब्रह्मपुराण, अध्याय 224, श्लोक 7.

(52) अविशेषाश्चोभयो । सांख्यसूत्र 1/6.

(53) स दृष्टोपायवदेवाशुद्धया हिंसादि पापेन विनाशिसातिशय फलकत्वेन च युक्त इत्यर्थः ।
सांख्यप्रवचनभाष्य, सूत्र 1/6.

(54) दृष्टवदानुश्रविकः, स ह्यविशुद्धि क्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान्, व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानाद् ॥
सांख्यकारिका, कारिका 2.

(55) यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धि परतया तत्प्रतिपादनाय ।
प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरुपकरणायैवोपादीयन्ते ॥ व्यासभाष्य 2/30.

(56) अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ बैरत्यागः ।
योगसूत्र, अध्याय 2, श्लोक 35.

(57) विर्तका हिंसादयः कृतकारितानुमोदित लोभक्रोधमोह पूर्वका सृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष भावनम् ।
योगसूत्र 2/34.

(58) यतिचरभोलेबाबा (अनु.) : ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य), भाग-2, पृ. 1699-1700.

(59) आर. डी. करमरकर (संपा.) : श्रीभाष्य, भाग 3, पृ. 796-799.

(60) सुत्तनिपात 3/37/27.

(61) संयुत्तनिकाय, पहला भाग, पृ. 132

(62) "भिक्षुओ ! ताल के पत्र की पादुका नहीं धारण करनी चाहिए जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।"
"भिक्षुओ ! बांस के पौधों की पादुका नहीं धारण करनी चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।"

राहुल सांकृत्यायन (हि. अनु.) : विनयपिटक, पृ. 207.

(63) (क) न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सव्वपाणानं अरियोति पडुच्चति ॥
धम्मपद, धम्मट्ठवग्गो, श्लोक 15.

(ख) निधाय दण्डं भूतेषु तसेसु थावरेसु च ।
यो न हन्ति घातेति तमहं ब्रमि ब्राह्मणं ॥
धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो, श्लोक 23.

(64) (क) संयुत्तनिकाय, भाग-2, पृ. 307.

(65) राहुल सांकृत्यायन (हि. अनु.) : विनयपिटक, पृ. 216, 218.

(66) "भिक्षुओ ! जानबूझकर (अपने) उद्देश्य से बने मांस को नहीं खाना चाहिए । जो खाये उसे दुक्कट का दोष हो । भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ (अपने लिए मारे को) देखे, सुने, संदेहयुक्त इन तीन बातों से शुद्ध मछली व मांस (के खाने) की ।" वही, पृ. 245.

(67) न बिना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांस भजतस्तस्मात् प्रसरव्यनिवारिता हिंसा ॥
पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक 65.

(68) यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥ वही, श्लोक 66.

(69) आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जतीनां निगोतानम् ॥ वही, श्लोक 67.

(70) महात्मा गाँधी : अहिंसा, भाग 1, खण्ड 10, पृ. 78.

(71) वही, भाग 1, खण्ड 10, पृ. 17.

(72) वही, भाग 1, खण्ड 10, 17-18.

(73) वही, भाग 1, खण्ड 10, पृ. 52-55 व 59-63.

(74) बहुदुःखासंज्ञापिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम् ।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तत्याः ॥
पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक 85.

(75) डॉ. सुरेन्द्र त्यागी : भारतीय दर्शनों में अहिंसा तत्त्व का तार्किक व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पृ. 125-126

(76) अध्याय 7, सूत्र 13.

(77) मूलाचार, पृ. 8.

(78) डॉ. अशोक कुमार जैन 'अहिंसा सिद्धान्त एवं व्यवहार', अनेकान्त, नई दिल्ली, 2002, अंक जुलाई-सितम्बर, पृ. 11.

(79) ननु च प्राणव्यपरोपणाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसष्यते ... । नैष दोषः तत्रापि प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम् । तथा चौक्तम् - स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् । पूर्व प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥
राजवार्तिक, भाग-2, अध्याय 7, सूत्र 13.

(80) यत्खलुकषाययोगात्प्राण द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चितता भवति सा हिंसा ॥

(81) अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक 44.

(82) पृ. 189.

(83) पं. गोपालदास बरैया: जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 234, पृ. 53.

(84) (क) कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्न अभिन्ना वा ? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथं हिंसा ? ..... न च तथा प्रत्यक्ष विशेषात् ।
प्रवचनसार, गाथा 350-370 की तात्पर्यवृत्ति टीका.

(ख) परमार्थ प्रकाश, अध्याय 2, श्लोक 127 की टीका, पृ. 244.

(85) अविधायापि हि हिंसा हिंसाफल भाजनं भवत्येक: ।
पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक 51.

(86) कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफल भाजनं न स्यात् । वही, श्लोक 51.

(87) इतस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् । वही, श्लोक 57.

(88) आचार्यकल्प पंडित टोडरमल (भाषा टीका.) : पुरुषार्थसिद्धिउपाय पृ. 63.

(89) रागाद्यसङ्गत: प्राणव्यपरोपेऽप्यहिसंक: ।
स्यात्तदव्यपरोपेऽपि हिंस्त्रो रागादिसंश्रित: ॥
अनगारधर्मामृत, अध्याय 4, गाथा 23, पृ. 238.

(90) अत्ताचेव अहिंसा अत्रा हिंसति णिच्छदो समये ।
जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥
भगवतीआराधना, गाथा 803.

* अतिव्याप्ति - "लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम्" लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को अतिव्याप्ति दोष कहते है ।

* अव्याप्ति - "तत्र लक्ष्यैक देशवृत्यव्याप्तम्, यथा गो: शावलेयत्वम् ।"
लक्ष्य के एकदेश में लक्षण के रहने को अव्याप्ति दोष कहते है ।
अध्यात्म न्यायदीपिका, संस्कृत 56-57, हिन्दी पृ. 174.

(91) युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न ही भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥
पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक 45.

(92) (क) सूक्ष्मजन्तुघातेऽपि यावतांशेन स्वस्वभाव चलनरूपा रागादिपरिणति- लक्षण भावहिंसा तावंताशेन बन्धो भवति, न च पादसंघट्टनमात्रेण ....। प्रवचनसार, गाथा 217 की तात्पर्यवृत्ति की टीका.

(ख) सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 7, सूत्र 13.

(93) न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्य पुद्गल लोक: सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात् । ....
ततो न्यायबलेनैवैतदायातं । यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतु: ।
समयसार (आत्मख्याति टीका) पृ. 164.

(94) व्युत्थानावस्थायां रागादिनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥
पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक 46.

(95) जले जन्तु: स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च । जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसक: ॥ सोऽत्रावकाशे न लभते । .... सूक्ष्मा न प्रतिपीडयन्ते प्राणिन: स्थूल-मूर्तय: । ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मन: ।
राजवार्तिक, भाग 2, अध्याय 7, सूत्र 13.

(96) जदि शुद्धस्य य बंधो होहोदि बाहिरंगवत्थु जोगेण ।
णत्थि दु अहिंस गोणाम होदि वायादिवधहेदु ॥
भगवती आराधना, भाग -1, गाथा 806 की विजयोदया टीका, पृ. 490.

(97) ण बहिरंग हिंसाए आसवत्ताभावो । तं कुदोणत्वदे । तदभावे वि अंतरंगहिंसादो चेव सित्थमच्छस्स बंधुवलंभादो । ....तम्हा अंतरंग हिंसा एत्थ अत्थि कसायासंजमाणम भावादो ।
धवला, पुस्तक 14, खण्ड 5, भाग 6, सूत्र 93.

(98) आचार्यकल्प पंडित टोडरमल (भाषा टीका) : पुरुषार्थसिद्धिउपाय, पृ. 55-56.

(99) यथा कोऽपि तप्तलोहपिण्डेन परं हन्तुकाम: सन्पूर्व तावदात्मानमेवहन्ति, पश्चादन्यघाते नियमो नास्ति, तथा यमज्ञानी जीवोऽपि .... स्वकीयशुद्धप्राणं हन्ति, पश्चादुत्तरकाले परप्राणघाते नियमोनास्तीति । प्रवचनसार, गाथा 161 की तात्पर्यवृत्ति टीका ।

(100) मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 227.

(101) विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत। भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्ना भविष्यताम्॥
सागारधर्मामृत, अध्याय 4, श्लोक 23.

(102) सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना भवति पुंस:।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणाम विशुद्धये तदपि कार्या॥
पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक 49.

(103) (क) स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत्।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसक: प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसक:।
धवला, पुस्तक 14, खण्ड 5, भाग 6, सूत्र 93.

(ख) आचारसार 5/10.

(104) रत्नकरण्डश्रावकाचार, अध्याय 3, पृ. 90-91.

(105) आगम प्रामण्यात् प्राणिवधो धर्महेतुरिति चेत् न तस्यागमत्वाऽसिद्धे: ...अतोऽनवस्थानाच्च वेदागमास्याप्रमाण्यम्।
राजवार्तिक, भाग 2, अध्याय 8, सूत्र 1.

(106) सर्वेषामविशेषप्रसंङ्गात...। यज्ञात्कर्मणोऽन्यत्र वध: पापायेति चेत; न; उभयत्र तुल्यत्वात्...।
नासावन्यथा विधातं निषेधद्धुं वा शक्यते।
राजवार्तिक, भाग - 2, अध्याय 8, सूत्र 1.

(107) पशुश्चेन्निहत: स्वर्ग ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते॥
सर्वदर्शनसंग्रह.

(108) न धर्म हेतुर्विहितापि हिंसा नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।
स्वपुत्रघाताद् नृपतित्तलिप्सा स ब्रहमचारि स्फुरितं परेषाम्॥
स्याद्वाद मंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक 11, पृ. 87.

(109) यत्रानन्योपायत्वेन यतनयाप्रकृष्ट प्रतनुचैतन्यानां पृथिव्यादिजीवानां वधेऽपि स्वल्पपुण्यव्ययेनापरिमिसुकृत-संप्राप्ति: न पुनरितर:। ... एवं च यं कच्चन पदार्थ किञ्चित्साधर्म्यद्वारेणैव दृष्टान्तीकुर्वतां भवतामतिप्रसङ्ग: सङ्च्छते। स्याद्वादमंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक 11 की टीका, पृ. 90.

(110) णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि।
जह तह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि॥
सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं।
लव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु॥
भगवती आराधना, भाग-1, गाथा 783 व 789, पृ. 485-486.

(111) अप्रादुर्भाव: खलु रागादीनाम् भवत्यहिंसेति।
तेषा मेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप:॥

(112) प्रो. जमनालाल जैन 'जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में : अहिंसा और सहअस्तित्व', जैनदर्शन और संस्कृति-आधुनिक सन्दर्भ में, (संपा.) बाबूलाल पाटौदी, इंदौर, पृ. 5.

(113) जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णतं।
आउं ण हरेसि तमुं कह ते मरणं कयं तेसिं॥
आउक्खयाणं मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णतं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहि॥
समयसार, गाथा 247, 248, 249.

अध्यवसाय - जो परिणाम मिथ्या अध्यवसाय सहित हो अथवा वैभाविक हो। उस परिणाम के लिए मिथ्या अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

(114) *जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।*
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥
समयसार, गाथा 250.

(115) *आउद्दयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।*
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसि॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिति तुहं कहं णु ते जीवयं कयं तेहि॥
समयसार, गाथा 251-252.

(116) *जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।*
तम्हा दु मारिदो देहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तम्हा ण मरिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥
समयसार, गाथा 257-258.

(117) *क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी: जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1, पृ. 251.*

(118) (क) *यस्य भावात् आत्मन: जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते।*
राजवार्तिक, भाग 2, अध्याय 8, सूत्र 10.
(ख) *..... आयुषोभवधारणम्।*
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 8, सूत्र 3.

(119) *क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी: जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, पृ. 363.*

(120) *स्वस्थितिक्षयवशादुदयनिषेके गलतां कार्मण स्कन्धानां फलदानपरिणति: उदय:।*
गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गाथा 8 की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका।

(121) *द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणां फलप्राप्तिरुद्रय:।*
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 2, सूत्र 1.

(122) *सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय कर्मेदयान्मरण जीवितदु:ख सौख्यम्।*
अज्ञानामेतमिह यत्तु पर: परस्य कुर्यात्पुमान्मरण जीवित दु:ख सौख्यम्॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यंति ये मरण जीवति दु:खसौख्यम्।
कर्माण्यहकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति॥
समयसार, श्लोक 168-169.

(123) *मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 226.*

(124) *आत्मेतराङ्गिणामरक्षणं यन्मतं स्मृतौ।*
तत्परं स्वात्मरक्षाया: कतृेनात: पश्रतत्॥
पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) गाथा 756.

(125) *डॉ. हुकमचंद भारिल्ल : 'भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' पृ. 188.*

(126) *प्रो. जमनालाल जैन, 'जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में : अहिंसा और सहअस्तित्व' जैनदर्शन और संस्कृति -आधुनिक सन्दर्भ में, (संपा.) बाबूलाल पाटौदी, इंदौर, पृ. 4.*

(127) *समयसार, गाथा 258 का पंडित जयचंद छावड़ाकृत भावार्थ, पृ. 415.*

(128) *वही, पृ. 407.*

(129) *डॉ. हुकमचंद भारिल्ल : भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृ. 192.*

अध्याय - चार
अभाव एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1 भूमिका
2 अध्याय का प्रतिपाद्य विषय
3 अभाव एवं वस्तुस्वातंत्र्य
4 अभाव की अवधारणा का विकास
5 भारतीय दर्शनों में मान्य अभाव की विवेचना
(१) न्याय-वैशेषिक दर्शन प्रणीत अभाव पदार्थ की विवेचना
(अ) पदार्थ का अर्थ
(ब) अभाव का अर्थ व लक्षण
(स) न्याय-वैशेषिक दर्शन में मान्य अभाव के भेद एवं प्रभेद
(द) अभाव की उपयोगिता
(२) मीमांसा दर्शन में मान्य अभाव की अवधारणा
(अ) भाट्ट मीमांसकों की अभाव संबंधी अवधारणा
(ब) प्राभाकर मीमांसको की अभाव संबंधी अवधारणा
(३) अभाव विषयक बौद्ध अवधारणा।
(४) जैनदर्शन प्रणीत अभाव की अवधारणा
(अ) अभाव का स्वरूप
(ब) अभाव के भेद
(स) अन्योन्याभाव व अत्यंताभाव में भिन्नता
(द) अभाव सिद्धान्त की उपयोगिता व प्रयोजन
(इ) भाव-अभाव अथवा अस्तित्व-नास्तित्व धर्मों की अविरोधता
6 अभाव विषय विभिन्न दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा
(अ) अभाव के पदार्थत्व का खण्डन
(ब) अभाव के प्रामाण्य का खण्डन
(स) अभाव के भेदों का खण्डन
(द) बौद्धाभिमत अभाव की अवधारणा का खण्डन
7 अभाव मीमांसा द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि

अभाव एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1. भूमिका :-

दर्शन की दृष्टि से अभाव विषयक विचार अत्यंत महत्व का है। भाव एवं अभाव दोनों हमारे विचार के विषय होते हैं, अतएव प्रत्येक दर्शन या दार्शनिक को अभाव के विषय में एक दृष्टिकोण रखना आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक दार्शनिक जब किसी वस्तु का भाव मानता है तो अन्य किसी वस्तु का अभाव भी मानता है। ऐसा कोई दर्शन नहीं जिसमें किसी न किसी वस्तु का अभाव न माना गया हो। अत: प्रत्येक दार्शनिक के लिए अनिवार्य है कि वह अभाव के स्वरूप आदि के विषय में अपने मत को स्पष्ट करें। पदार्थ की दृष्टि से जिसे अभाव कहते हैं, ज्ञानदृष्टि से उसे निषेध कहा जाता है। दोनों दृष्टियों से प्रत्येक दार्शनिक का एक विशेष मत होना आवश्यक है। जिस दर्शन में यह विचार नहीं होगा, उस दर्शन में भाव-अभाव या विधान एवं निषेध का स्वरूप नहीं समझा जा सकता है।

अभाव विषयक विचार के महत्व को भारतीय दार्शनिकों ने भलीभाँति समझा है, इसी कारण प्रत्येक दर्शन में न केवल अभाव के स्वरूप के विषय में विचार किया गया है, बल्कि अभाव के विषय में जितने प्रश्न हो सकते हैं, उन सभी प्रश्नों को उठाकर उन पर विचार किया है। अभाव की परिभाषा, अभाव का पदार्थत्व, अभाव का प्रामाण्य, अभाव का कारणत्व, अभाव के प्रकार, सर्वाभाव संबंधी समस्या आदि सभी प्रश्नों पर भारतीय दर्शनों में विचार किया है। इस अध्याय में सभी दृष्टियों से सभी प्रश्नों पर विचार प्रस्तुत करना संभव नहीं है, किन्तु अध्याय के विषय के अनुरूप कुछ विशेष दृष्टिकोणों पर कुछ विशेष प्रश्नों को लेकर विचार करते हुए हम वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा से इसकी अन्विति दिखाने का प्रयास करेगें। क्योंकि भाव औंर अभाव दोनों ही दृष्टियों से वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा पूर्णता को प्राप्त होती है।

2. अध्याय का प्रतिपाद्य विषय :-

इस अध्याय के अन्तर्गत सर्वप्रथम अभाव की विवेचना भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में व विशेष रूप से न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में करने का प्रयास करेंगे। साथ ही साथ, इस तथ्य का विवेचन करने का भी प्रयास किया जाएगा कि वैशेषिक व जैनदर्शन में से अभाव का सैद्धान्तिक निरूपण करने में कौन-सा दर्शन पूर्ववर्ती है। पुन: परवर्ती वैशेषिक आचार्यों ने अभाव को पदार्थ के रूप में क्यों मान्य किया ? एवं जैनदर्शन में अभाव की विशेष विवेचना क्यों की गयी, इस पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला जाएगा। तत्पश्चात् न्याय-वैशेषिक, मीमांसा व बौद्धदर्शन में निरूपित अभाव का स्वरूप एवं उसका समालोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा। तदुपरान्त जैनदर्शन में वस्तु के नास्ति धर्म के रूप में मान्य अभाव का स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद, उसकी स्वीकार्यता का प्रयोजन, वस्तु में परस्पर विरोधी भाव-अभाव धर्मों की संभाव्यता का निरूपण किया जाएगा।

अंत में निष्कर्ष रूप में यह प्रमाणित करने का प्रयास किया जाएगा कि अभाव

की अवधारणा वस्तुस्वातंत्र्य से किस प्रकार संबद्ध है व उसका पोषण कर उसे कैसे समृद्ध बनाती है, यह विवेचित होगा।

3. अभाव एवं वस्तुस्वातंत्र्य :-

जैनदर्शन में मान्य वस्तु का स्वरूप द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभावात्मक है। द्रव्य-गुण जहाँ वस्तु के कूटस्थ, नित्य व अपरिवर्तनशील धर्म हैं, वहीं पर्याय वस्तु का अनित्य, परिणामी व परिवर्तनशील धर्म है। जैनदर्शन प्रणीत वस्तु अनेकान्तात्मक होने से एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भाव-अभाव आदि परस्पर विरोधी धर्मों को धारण किये हुए है। स्वद्रव्य की अपेक्षा से वस्तु भावरूप है, सद्भाव (सत्ता) रूप है और परसापेक्ष दृष्टि से, स्ववस्तु पररूप नहीं, अभावरूप है। इस कारण अभावरूप धर्म किसी अपेक्षा से वस्तु का सद्भाव रूप धर्म ही है।

अभाव किसी पदार्थ या वस्तु का अन्य पदार्थ या वस्तु में न होना है। जैनदर्शन में अभाव के चार भेदों को प्रतिपादित किया गया है, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव। चूँकि जैनदर्शन प्रत्येक वस्तु के स्थायित्व को स्वीकृत करते हुए उसे परिणामी मानता है, अत: वस्तु को स्पष्टतया दो अंशों में विभक्त किया जा सकता है - पहला-पर्यायांश, दूसरा-द्रव्यांश। अभाव के प्रारंभिक तीन भेद पर्याय का कार्यक्षेत्र निर्धारित कर उसकी स्वतंत्रता उद्घोषित करते हैं। प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव जहाँ न केवल प्रत्येक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की अनंतरपूर्वक्षणवर्ती (भूत) एवं अनंतरउत्तरक्षणवर्ती (भविष्य) पर्याय में अभाव बतलाकर उसकी (वर्तमान पर्याय की) स्वतंत्रता का प्रकटीकरण करते हैं, बल्कि अनंतरपूर्वक्षणवर्ती व अनंतरउत्तरक्षणवर्ती पर्याय की भी वर्तमान पर्याय से स्वतंत्रता का दिग्दर्शन कराते हैं। वहीं अन्योन्याभाव प्रत्येक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती व अनन्तरउत्तरक्षणवर्ती एक-एक पर्याय को छोड़कर शेष भूत की व शेष भविष्य की समस्त पर्यायों से भिन्नता का ज्ञान कराता है। इस प्रकार तीनों अभाव प्रत्येक द्रव्य की एकक्षणवर्ती पर्याय की भी स्वतंत्रता का प्रकटीकरण कर वस्तु के पर्यायांश की स्वतंत्रता को प्रतिपादित करते हैं और अंतिम भेद द्रव्य की सीमा निर्धारित कर उसके स्वातंत्र्य की उद्घोषणा करता है, क्योंकि अत्यंताभाव एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव बताकर यह प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक द्रव्य की सत्ता पूर्ण स्वतंत्र व निरपेक्ष है। अन्य द्रव्य का उसके कार्य में हस्तक्षेप नहीं है। इस प्रकार अभाव सिद्धान्त द्रव्यगत व पर्यायगत सम्पूर्ण वस्तु की स्वतंत्रता को निरूपित कर वस्तुस्वातंत्र्य को सिद्ध करता है।

4. अभाव की अवधारणा का विकास :-

भारतीय दर्शनों में अभाव की अवधारणा का प्रारंभ एवं विकास सर्वप्रथम जैनदर्शन में हुआ अथवा वैशेषिक दर्शन में, यह एक विवाद का विषय रहा है।

कणाद के वैशेषिक सूत्रों में केवल छह भाव पदार्थों का ही उल्लेख मिलता है - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। यद्यपि कणाद ने ''असत्'' का उल्लेख किया है और उसके चार भेद भी बताये हैं, किन्तु इसे स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकृत किया गया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।[1] वैशेषिक सूत्र की रचना तिथि निश्चित करना

कठिन है, परन्तु इतना निश्चित है कि यह बौद्धकाल के पूर्व की रचना है।[2] अन्यत्र इस दर्शन का सूत्र रूप में निर्माण ई. पू. तीसरी शताब्दी के पश्चात् हुआ, ऐसा मिलता है।[3] तथा कुप्पुस्वामी आदि कुछ अन्य भारतीय विद्वान सूत्रों का समय चतुर्थ शती ई. पू. मानते हैं। यकोबी के अनुसार कणाद का काल 200 ई. है।[4] जबकि बलदेव उपाध्याय ने उनका काल विक्रम की तृतीय सदी पूर्व माना है।[5] यद्यपि कणाद कृत वैशेषिक सूत्र के रचना के काल सन्दर्भ में विद्वानों में अत्यधिक मतैक्य हैं फिर भी यह अनुमानित किया जा सकता है कि उनकी यह रचना ई.पू. काल की है।[6] प्रशस्तपाद ने भी अभाव को पदार्थ के रूप में स्वीकृति प्रदान नहीं की। उनके द्वारा लिखित पदार्थधर्मसंग्रह केवल छह भाव पदार्थों का उल्लेख मिलता है, अभाव का नहीं। [7] इसके रचना काल को 450 ई. माना गया है।[8]

यद्यपि उनके परवर्ती वैशेषिक आचार्यों ने विभिन्न तर्क देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कणाद व प्रशस्तपाद अभाव पदार्थ की सत्ता स्वीकार करते थे। उदयनाचार्य का मानना है कि "अभाव का स्वरूप निरूपण स्वयं के प्रतियोगी के स्वरूप निरूपण की अपेक्षा रखता है इसलिए उद्देश्य प्रकरण में अभाव परिगणित नहीं हुआ है। अभाव का पदार्थत्व अस्वीकार करना कणाद व प्रशस्तपाद को अभिप्रेत नहीं है।"[9] एस. एन. दास गुप्त ने भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड-2 में पाद टिप्पणी के अन्तर्गत इसके विपरीत मन्तव्य व्यक्त किया है - "वैशेषिक सूत्रों में 'अभाव' का आश्रय 'भाव' में है ऐसा उल्लेख आया है, परन्तु बाद के उदयन आदि लेखकों ने अभाव को पदार्थ के रूप में माना है। इसके विपरीत उदयन के समकालीन श्रीधर का मत है कि प्रशस्तपाद ने अभाव को पदार्थ के रूप में नहीं माना है, क्योंकि यह भाव पर आश्रित है "अभावस्य पृथगुनपदेश: भाव पारतंत्र्यात् न त्वभावात्" (न्यायकन्दली पृ. 6, लक्षणावली पृ. 2)"[10] डॉ. राधाकृष्णन व अन्य विद्वानों का दृष्टिकोण भी पूर्वोक्त मत से मिलता है कि सांतवा पदार्थ परवर्ती वैशेषिकों यथा - श्रीधर, उदयन और शिवादित्य ने जोड़ दिया है।[11] श्रीधर व उदयन ने 'प्रशस्तपादभाष्य' पर क्रमश: न्यायकन्दली व किरणावली टीकायें लिखी हैं। राधाकृष्णन ने न्यायकन्दली का रचना समय 991 ई. व किरणावली को दसवीं शताब्दी की रचना माना है जो संभवत: न्यायकन्दली के तुरंत बाद लिखी गयी हैं।[12]

एस.एन. दासगुप्त ने न्यायकन्दली का रचना समय 990 ए.डी. एवं किरणावली का काल 984 ए. डी. माना है।[13] इन तथ्यों से प्रमाणित होता है कि श्रीधर व उदयन समकालीन रहे हैं। शिवादित्य, उदयन के पश्चात्वर्ती माने गये हैं।[14]

डॉ. डी. एन. शास्त्री के अनुसार, अभाव की पदार्थ के रूप में प्रथम स्वीकृति 'शिवादित्य' की सप्तपदार्थी में हुई है[15] और पॉटर के अनुसार, चन्दमति के "दशपदार्थशास्त्र" में।[16] सप्तपदार्थी का समय डी.एन. शास्त्री व अन्य के अनुसार 10 वीं शताब्दी है। जबकि चन्दमति का समय फ्राउलनर के अनुसार 450 से 500 ई. के बीच।[17] इसके आधार पर डॉ. महेश भारतीय का निष्कर्ष है कि शिवादित्य से बहुत पहले ही अभाव को पृथक् पदार्थ माना जा चुका था।[18] बाद के सभी प्रकरण ग्रन्थों,

उदाहरणार्थ तर्कसंग्रह, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, तर्ककौमुदी (लौगाक्षी भास्कर), तर्कामृत (जगदीश भट्टाचार्य), प्रमाणमंजरी (सर्वदेवसूरि) ने अभाव को पृथक् पदार्थ के रूप में माना है। इनमें प्रथम तीन (तर्कसंग्रह, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, तर्ककौमुदी) ने शिवादित्य का अनुसरण करते हुए अभावसहित सात पदार्थ माने हैं, किन्तु अंतिम दो (तर्कामृत व प्रमाणमंजरी) ने उदयन का अनुसरण करते हुए पदार्थों को पहले भाव और अभाव इन दो भेदों में बाँटा है और फिर मूल छह पदार्थों को भाव में रखा है। उपर्युक्त सभी ग्रन्थ वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थ हैं। न्याय के प्रकरण ग्रन्थों में केशवमिश्र की तर्कभाषा व वरदराज की तार्किकरक्षा में भी अभाव सहित सात पदार्थों का उल्लेख किया गया है।[19] यद्यपि डॉ. श्री नारायण मिश्र का मानना है कि कणाद अभाव को स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकृत करते थे या नहीं, यह प्रश्न विवादास्पद है।[20] तथा पदार्थ के रूप में अभाव की गणना सप्तपदार्थी से प्रारंभ हुई है।[21] परन्तु प्राय: दार्शनिकों का मत इस बात की पुष्टि करता है कि कणाद ने अभाव को पदार्थ के रूप में स्वीकृति प्रदान नहीं की है तथा पदार्थ के रूप में अभाव की गणना शिवादित्य की सप्तपदार्थी से हुई है, ऐसा अधिकतर विद्वानों का मन्तव्य है।

उपर्युक्त विवेचन से परिलक्षित होता है कि कणाद व प्रशस्तपाद ने अभाव का उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु उसे पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकृति प्रदान नहीं की है एवं परवर्ती वैशेषिक आचार्यों ने अभाव की गणना स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकृत की है। इस विषय में यदि जैनदर्शन की ओर दृष्टिपात किया जाय तो यह विदित होता है कि तीर्थंकर महावीर का समय छठी शताब्दी ई. पू. रहा है और उनके द्वारा प्रणीत उपदेशों में अनेकात्मात्मक वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है कि वस्तु का स्वरूप नित्य-अनित्यात्मक, भाव-अभावात्मक, एक-अनेक आदि रूप है। जैनदर्शन के साहित्य का रचनाकाल का प्रारंभ 38 ई. से माना जाता है जिसमें प्रथमश्रुत स्कंध की रचना का प्रारंभ हुआ। लेकिन अभाव की अवधारणा का स्वतंत्र व विशेष विवेचन सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र के 'आप्तमीमांसा' ग्रंथ में मिलता है जो 'देवागमस्त्रोत' के नाम से प्रसिद्ध है। ये जैनदर्शन में तर्क व न्याय के क्षेत्र में दिग्गज आचार्य माने गये हैं। इन्होंने आप्तमीमांसा ग्रंथ की 9-10-11-12 कारिका में भावैकान्त व अभावैकान्त का खण्डन कर भाव-अभाव स्वरूप वस्तु का मण्डन एवं चारों अभाव-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव व अत्यंताभाव की विवेचना की है।

आचार्य समन्तभद्र के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान समन्तभद्र को पूज्यपाद देवनन्दि (पंचम शताब्दी) का परवर्ती मानते हैं तो दूसरे विद्वान पंचम शताब्दी के पहले का। किन्तु प्रसिद्ध अन्वेषक व इतिहासज्ञ विद्वान स्व. जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपने स्वामी समन्तभद्र नामक महानिबंध में सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि समन्तभद्र, गृद्धपिच्छ (उमास्वामी) के बाद तथा पूज्यपाद के पहले विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी में हुए हैं। पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण में 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' (4/5/140) सूत्र के द्वारा समन्तभद्र का उल्लेख किया है। अत: वे पूज्यपाद से निश्चित ही पूर्ववर्ती हैं।[22] डॉ. महेन्द्र कुमार ने भी उनका पूर्वोक्त समय स्वीकार किया है।[23]

'आप्तमीमांसा' पर अनेक गंभीरतम व विस्तृत संस्कृत टीकायें लिखी गयी हैं, जिनमें आचार्य अकलंकदेव की अष्टशती एवं आचार्य विद्यानंद की 'अष्टसहस्त्री' उल्लेखनीय है। आचार्य अकलंक का समय पं. कैलाशचंद सिद्धान्तशास्त्री ने ईस्वी सन् 620 से 680 निर्धारित किया है।[24] किन्तु डॉ. महेन्द्रकुमार ने इनका समय सन् 720 से 780 तक प्रमाणित किया है।[25] अवधेय है कि आ. विद्यानंदकृत 'अष्टसहस्त्री' में अभाव का स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन मिलता है और इनका समय सन् 775 से 840 तक माना गया है।[26]

अतएव पूर्वोक्त तथ्यों से यह बात प्रमाणित होती है कि अभाव की विवेचना सर्वप्रथम कणाद के वैशेषिक सूत्र में मिलता है। अत: वैशेषिक दर्शन इसकी सूत्र रूप प्ररूपणा में जैनदर्शन से पूर्ववर्ती है; परन्तु यदि अभाव की पदार्थ के रूप में विवेचना से मान्य किया जाय तो वैशेषिक दर्शन, जैनदर्शन से पश्चात्वर्ती सिद्ध होता है।

5. भारतीय दर्शनों में मान्य अभाव की विवेचना :-

अभाव के सन्दर्भ में प्राय: प्रत्यक्षत: अथवा परोक्षत: सभी भारतीय दर्शनों में विचार हुआ है, किन्तु अभाव को एक बाह्य पदार्थ के रूप में स्वीकार करने वाले केवल दो दर्शन हैं - न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसक (कुमारिल भट्ट)। अद्वैत वेदान्त तथा बौद्धों ने तो भावात्मक वस्तुओं की भी यथार्थता का निषेध किया है, फिर अभाव को सत्य मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुवादी दर्शनों में भी सांख्य तथा प्रभाकर मीमांसक सम्प्रदायों ने अभाव की बाह्यार्थवादिता का निषेध किया है। इसके विपरीत, वस्तुवादी होने पर जैनदर्शन में अभाव की विवेचना न तो बाह्य पदार्थ वस्तु के रूप में हुई है और न सर्वथा असत् रूप में, बल्कि भाव के समान अभाव को वस्तु का धर्म निरूपित किया गया है।

5 (1). न्याय-वैशेषिक दर्शन प्रणीत 'अभाव पदार्थ' की विवेचना :-

(अ) पदार्थ का अर्थ -

वैशेषिक दर्शन प्रणीत सप्त पदार्थों में 'अभाव' अंतिम पदार्थ है। वैशेषिक दर्शन में 'अभाव' शून्य या असत् से भिन्न माना गया है। इसका अर्थ किसी वस्तु का किसी समय विशेष में किसी स्थान विशेष में अनुपस्थिति मात्र है। प्रो. हिरियन्ना ने भी यह प्रदर्शित किया है कि हमें अभाव से यह समझना चाहिए कि कोई वस्तु किसी समय विशेष में किसी स्थान - विशेष में विद्यमान नहीं है।

'पदस्य अर्थ: पदार्थ:' इस यौगिक व्युत्पत्ति के अनुसार - जिस पद (शब्द) का जो कुछ अर्थ हो, वह पदार्थ है। प्रशस्तपाद ने पदार्थ के तीन लक्षण स्वीकार किये हैं[27] (1) अस्तित्व (2) ज्ञेयत्व (3) अभिधेयत्व अर्थात् वे सब वस्तुएं जिनका अस्तित्व है, जिनका बोध हो सकता है तथा जिन्हें नाम दिया जा सकता है; वे सब पदार्थ हैं लेकिन ये तीनों लक्षण छ: भाव भूत पदार्थों के ही हैं, परन्तु इन भावभूत पदार्थों का जैसे अस्तित्व है वैसे ही अभाव का अस्तित्व है। अत: अस्तित्वेन अभाव का निषेध नहीं हो सकता। इसी कारण शिवादित्य ने प्रमितिविषया: पदार्था: कहकर अर्थात् पदार्थ वह है जो ज्ञान का विषय हो, परिभाषित किया है। संक्षेप में, केवल भौतिक जगत् की वस्तु ही नहीं, बल्कि अनुभव में आने वाले सभी प्रमेय विषय पदार्थ हैं।[28]

(ब) अभाव का अर्थ -

अभाव का सामान्य अर्थ है 'भाव-भिन्नत्वम् अभावत्वम्' अर्थात् भाव (अस्तित्व) से भिन्न या विपरीत। सामान्यत: अभाव को इस प्रकार परिभाषित किया गया है 'पदार्थ गतो भावो अभावम्' किसी पदार्थ का न होना उसका अभाव है।[29]

वैशेषिक दर्शन में 'अभाव पदार्थ' का लक्षण है - ''निषेधमुख प्रमाणगम्योऽ-भाव:''[30] अर्थात् निषेध शब्द से जिस पदार्थ का उल्लेख होता है, उसे अभाव पदार्थ कहते हैं।

शिवादित्य के अनुसार - ''प्रतियोगिज्ञानाधीन ज्ञानोऽभाव:' प्रतियोगी (विरोधी) के बिना जो ज्ञान न हो सके, वह अभाव है। अभाव ज्ञान प्रतियोगी रूप भाव ज्ञान सापेक्ष है। जिस व्यक्ति या वस्तु के भाव का हमें ज्ञान न हो उसके अभाव का भी ज्ञान हमें नहीं हो सकता। उदा. - 'चैत्रोनास्ति' ज्ञान 'चैत्रो अस्ति' की अपेक्षा रखता है। न्यायसूत्र भाष्य में अभाव को इस प्रकार परिभाषित किया गया है - जहाँ पहिले होकर पीछे न हो वहाँ उसका अभाव कहा जाता है। जैसे - किसी स्थान पर पहिले घट था फिर वहाँ हटा लिया तो वहाँ के घट का अभाव हो गया।[31]

(स) न्याय-वैशेषिक दर्शन में मान्य अभाव के भेद-प्रभेद -

भाव पदार्थों की तरह अभाव की संख्या अनंत है घटाभाव, पटाभाव इत्यादि। सामान्यत: अभाव दो भागों में विभाजित किया गया है -[32]

(i) संसर्गाभाव (ii) अन्योन्याभाव

(i) संसर्गाभाव :-

संसर्गाभाव का अर्थ है -संसर्ग या सम्बन्ध का अभाव। यह दो वस्तुओं में होने वाले संसर्ग या सम्बन्ध का निषेध है। आशय यह है कि कोई वस्तु जो अन्य वस्तु में विद्यमान नहीं है। जैसे - घट में पट नहीं है।

कुछ दार्शनिकों ने संसर्गाभाव को 'अनन्योन्याभाव' शब्द से भी कहा है। 'न अन्योन्यभाव इति अनन्योन्याभाव:' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव संसर्गाभाव होता है इसके भी तीन भेद माने गये हैं :-[33] (1) प्रागभाव (2) प्रध्वंसाभाव (3) अन्योन्याभाव

अन्योन्याभाव का कोई भेद नहीं माना गया है। अत: न्याय-वैशेषिक मुख्यत: अभाव के चार भेद स्वीकृत करते हैं, जो निम्नांकित हैं :-

(1) प्रागभाव :-

'उत्पत्ते: प्राक् कारणे कार्यस्याभाव: प्रागभाव:'।[34] अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य का जो अभाव है वह प्रागभाव है। असत्कार्यवाद के अनुसार, घटादि कार्य का उसके मृदादि-समवायिकारणों में उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव माना जाता है, वही प्रागभाव है। यह अनादि होते हुए भी सान्त है।[35] घट के प्रागभाव की कोई उत्पत्ति न होने के कारण वह अनादि माना गया है, लेकिन घटोत्पत्ति के उपरान्त प्रागभाव का अन्त हो जाता है, अतएव प्रागभाव सान्त भी है। इसी कारण प्रागभाव का लक्षण है - ''विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम्'' अर्थात् विनाशी अभाव ही प्रागभाव है।

(2) प्रध्वंसाभाव :-

उत्पन्न वस्तु के नष्ट हो जाने पर उसके समवायिकारण में जो अभाव दिखलाई पड़ता है, वह प्रध्वंसाभाव है। प्रध्वंस का अर्थ है - 'नष्ट या विनष्ट होना।' यह किसी वस्तु के नष्ट होने के उपरान्त पाया जाता है। जैसे - 'इहं कपाले घट: ध्वस्त:' अर्थात् किसी घट को मुद्गर आदि के आघात से नष्ट कर दिया जाता है तो उसके कपालों में घट का जो अभाव है, वह प्रध्वंसाभाव है। प्रागभाव के विपरीत, यह सादि और अनंत है।[3]

(3) अत्यंताभाव :-

किसी वस्तु का अपने से भिन्न स्थान पर सर्वत्र त्रैकालिक अभाव - जैसे पृथ्वी पर घट का अभाव। अत्यंताभाव त्रैकालिक तथा संसर्ग से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला होता है।[37] तात्पर्य यह है कि अत्यंताभाव न तो कभी उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, यह नित्य है। इसके प्रतियोगी की स्थिति संसर्ग पर निर्भर करती है। यह अनादि व अनंत है।

(4) अन्योन्याभाव :-

इसे इतरेतराभाव भी कहते हैं। यह दो वस्तुओं में परस्पर तादात्म्य के अभाव को व्यक्त करता है। अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह में अन्योन्याभाव को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है - ''तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽन्योन्याभाव:''[38] जिस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक (नियामक) तादात्म्य सम्बन्ध हो उस अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं, जैसे - ''घट: पटौ न'' अर्थात् घट-पट नहीं है।

उल्लेखनीय है कि अत्यंताभाव और अन्योन्याभाव दोनों त्रैकालिक हैं, दोनों अनादि एवं अनंत हैं, तथापि वैशेषिक दर्शन दोनों में भेद मानता है। दोनों में भेद यह है कि अत्यंताभाव में सम्बन्ध का अभाव होता है और अन्योन्याभाव में तादात्म्य का। जैसे- वायु में रूप नहीं है, इस उंदाहरण में वायु और रूप में सम्बन्ध का अभाव है। पुन: घट-पट नहीं है, इस उदाहरण में घट और पट में तादात्म्य का अभाव है।

(द) अभाव की उपयोगिता :-

वैशेषिक दर्शन में अभाव विषयक समस्त विचार उसके आध्यात्मिक विचार पर अवलंबित है। इस दर्शन में इक्कीस प्रकार के दु:खों के आत्यन्तिक अभाव को मोक्ष या अपवर्ग की संज्ञा दी गयी है, जिससे इसका महत्व परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त, यदि वस्तुएं केवल विद्यमान रहें और उनका अभाव न हो तो वे सब नित्य हो जायें। यदि प्रागभाव को (पूर्ववर्ती अभाव) को न माना जाए तो उत्पत्ति कैसे संभव होगी ? अर्थात् सब वस्तुएँ अनादि हो जाएगी। यदि प्रध्वंसाभाव को न माना जाए तो किसी वस्तु का नाश कैसे होगा ? यदि अन्योन्याभाव को न माना जाए तो वस्तुओं का भेद न रहेगा अर्थात् सबका ऐक्य या तादात्म्य हो जाएगा और यदि अत्यंताभाव का निषेध किया जाये तो किसी भी वस्तु के कहीं भी रहने की स्थिति आ जाएगी अर्थात् वस्तुओं को सर्वत्र और सर्वकालों में विद्यमान मानना होगा।

5 (2). मीमांसा दर्शन में मान्य अभाव की अवधारणा :-

(अ) भाट्ट मीमांसकों की अभाव संबंधी अवधारणा -

मीमांसकों ने अपनी तत्त्व मीमांसा के अन्तर्गत भाव व अभाव दो प्रकार के पदार्थ माने हैं। द्रव्य, गुण, कर्म तथा सामान्य भाव पदार्थ के भेद हैं तथा प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव व अत्यंताभाव ये चार अभाव के भेद हैं। मीमांसकों ने अपनी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत मान्य छ: प्रमाणों में अभाव या अनुपलब्धि को भी एक स्वतंत्र व पृथक् प्रमाण माना है। उनका मत है कि किसी पदार्थ के अभाव को जानने के लिए अनुपलब्धि प्रमाण का व्यापार होता है। परचित्त के अभाव का ज्ञान भी अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। उक्तं च -: ''जिस वस्तु रूप में पांचों प्रमाण वस्तु की सत्ता का अवबोध कराने में प्रवृत नहीं होते, उसमें अभाव प्रमाण प्रवृत होता है।''[39]

अभाव प्रमाण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न है, क्योंकि अभाव प्रमाण की उत्पादक सामग्री, विषय व फल प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सामग्री विषय व फल से भिन्न है। शाबरस्वामी व कुमारिल भट्ट ने 'अभाव प्रमाण' को इस प्रकार परिभाषित किया गया है - ''किसी असन्निकृष्ट अर्थ का बोध है कि वह नहीं है, (उसका अभाव है) अन्य प्रमाणों के अभाव पर निर्भर करता है - यह अन्य प्रमाणों का अभाव ही, अभाव (अनुपलब्धि) प्रमाण है।''

''पहले वस्तु के सद्भाव को जानकर एवं प्रतियोगी का (घटादि का) स्मरण कर बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा बिना नास्ति का (नहीं का) जो ज्ञान होता है, वह अभाव प्रमाण है।''[40]

कुमारिल भट्ट ने उक्त परिभाषा में अभाव प्रमाण की उत्पादक सामग्री की बात कही है। जैसे - घट उपलब्धिलक्षण प्राप्त है, उसकी भूतल में अनुपलब्धि हो रही है और घट के आश्रयभूत भूतल की उपलब्धि हो रही है, इसके साथ प्रतिषेध्य घट का स्मरण हो रहा है इस प्रकार सामग्री से अभाव प्रमाण की उत्पत्ति होती है और उसके द्वारा भूतल में घटाभाव का ज्ञान होता है।

मीमांसकों ने इसका स्पष्टीकरण भी किया है कि अन्य प्रमाणों से अभाव पदार्थ का ज्ञान क्यों नहीं होता है - ''प्रत्यक्ष प्रमाण से वस्तु के भावांश का ज्ञान होता है, अभावांश का नहीं, क्योंकि इन्द्रियों की योग्यतामात्र भावांश के साथ संबद्ध होने की है।''[41] अनुमान प्रमाण के द्वारा भी (अभावांश) ग्रहण नहीं होता, क्योंकि अनुमान में हेतु की अपेक्षा रहती है जिसका यहाँ पर अभाव है।

इसके अतिरिक्त, अभाव को अवस्तु भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो वस्तु प्रमाण के द्वारा परिच्छेद होती है, उसे अवस्तु नहीं कहा जा सकता है जैसे - घटादि वस्तु। यदि अभाव अवस्तु है तो उसमें भेदों की कल्पना नहीं की जा सकती है, किन्तु अभाव के भेद माने गये हैं।[42] अत: अभाव एक वस्तु है और उसका ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से होता है।

अभाव के भेद :- भाट्ट मीमांसक, न्याय-वैशेषिकों की तरह अभाव के चार भेद मानते हैं जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

(i) प्रागभाव :- दूध में दही का जो अभाव है वह प्रागभाव कहलाता है, इन दूध-दही आदि में परस्पर की जो असंकीर्णता है वह अनुपलब्धि अभाव प्रमाण के प्रमाण्य पर निर्भर है। अर्थात् अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा ही यह असंकीर्णता सिद्ध की जाती है।[43]

(ii) प्रध्वंसाभाव :- दूध का दही में जो अभाव होता है, वह प्रध्वंसाभाव है।

(iii) इतरेतराभाव :- गाय में अश्व आदि अन्य-अन्य पदार्थों का जो अभाव रहता है, वह इतरेतराभाव है।[44]

(iv) अत्यंताभाव :- खरविषाण का अभाव, आकाशकुसुम आदि का अभाव अत्यंताभाव है।[45]

इन चारों प्रकार के अभावों को व्यवस्थापित करने वाला अनुपलब्धि प्रमाण है। यदि इस प्रमाण को न माना जाए तो प्रतिनियत वस्तु व्यवस्था का लोप ही हो जाएगा। कहा भी है - ''यदि अभाव प्रमाण की प्रमाणिकता को स्वीकार न किया जाए तो दूध में दही और दही में दूध की संभावना हो जाएगी, घट में पट का अस्तित्व मानना होगा, खरगोश में सींग का अस्तित्व, पृथ्वी आदि में चैतन्य का अस्तित्व, आत्मा में मूर्त्तत्व का अस्तित्व इत्यादि विपरीतता को मानना पड़ेगा।''[46]

(ब) प्रभाकर मीमांसको की अभाव संबंधी अवधारणा -

प्रभाकर मीमांसक न्याय-वैशेषिकों के समान 'अभाव' को न तो स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं और न ही कुमारिलभट्ट के उपर्युक्त मत से सहमत से हैं कि 'अभाव' की प्रमिति का ज्ञान कराने के लिए किसी स्वतंत्र प्रमाण की कल्पना करना आवश्यक है, बल्कि उनका मानना है कि जहाँ अभाव रहता है, वहाँ तद्रूप ही रहता है अर्थात् अभाव कोई पृथक पदार्थ न होकर अधिकरण स्वरूप है, जैसे - भूमि पर घट नहीं है, इस ज्ञान में यदि घट वहाँ होता तो भूतल के समान उसका भी ज्ञान होता, किन्तु ऐसा नहीं है, हमें केवल भूतल का प्रत्यक्ष होता है वस्तुत: अभाव का अपना स्वरूप तो कुछ भी नहीं है, वह तो जहाँ रहता है उसी के आधार से कहा जाता है। अतएव अभाव 'अधिकरणस्वरूप' ही है, इसका पृथक् अस्तित्व नहीं है।

5 (3). अभाव विषयक बौद्ध अवधारणा :-

बौद्धों की मान्यता है कि भावस्वरूप से व्यतिरिक्त ऐसा कोई अभाव नहीं है, जो प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा गाह्य होता हो। प्रत्यक्ष का विषय तो वह अर्थ होता है जो प्रत्यक्ष का जनक होकर उसके लिए अपने आकार का समर्पक होता है, किन्तु अभाव में जनकत्व और आकार समर्पकत्व सम्भव नहीं है, जैसे - आकाशकुसुम। यदि अभाव को ज्ञान का जनक और स्वाकार समर्पक माना जाए तो इसे भावरूप ही मानना पड़ेगा, जैसे - घटादि। 'इस भूतल में घट नहीं है' इस प्रकार के प्रत्यक्ष को अभाव के सद्भाव में प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि शब्द संसर्गजन्य होने के कारण उक्त प्रत्यक्ष विकल्प रूप होने से यथार्थ में प्रत्यक्ष नहीं है। अत: प्रत्यक्ष के द्वारा अभाव की सिद्धि नहीं होती है।

अनुमान से भी अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। अनुमान की उत्पत्ति तभी संभव है जब साध्य के साथ अविनाभाव किसी लिंङ्ग का सद्भाव हो। साध्य और

साधन में अविनाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से होता है, किन्तु अभाव के प्रत्यक्ष गोचर न होने से प्रत्यक्ष के द्वारा अभाव की किसी लिङ्ग के साथ अविनाभाव - रूप प्रतिपत्ति संभव नहीं है। अनुमान से साध्य-साधन में अविनाभाव की प्रतिपत्ति मानने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। अत: अभाव की प्रतिपत्ति न प्रत्यक्ष से होती है और न अनुमान से। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि अभाव भावरूप पदार्थ से पृथक् नहीं है, अपितु भावरूप है।

5 (4). जैनदर्शन प्रणीत अभाव की अवधारणा :-

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक व मीमांसा (भाट्ट) दर्शन में अभाव एक स्वतंत्र व पृथक् पदार्थ के रूप में मान्य है। जैन न्यायशास्त्रों में अभाव को स्वीकार किया गया है, किन्तु न्याय-वैशेषिकवत् पदार्थ के रूप नहीं और न ही सर्वथा निषेधकारी रूप में; बल्कि वस्तु के कथंचित् धर्म के रूप में।(47)

जैनदर्शन में अभाव विषयक विचार का मूल है उसके द्वारा मान्य वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूप। वस्तु प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय करती हुई ध्रौव्य स्वभाव में स्थित है। वस्तु के स्वभाव से ही उसके अभाव सिद्धान्त का उद्भव व विकास हुआ है। अभाव का मूल जैनदर्शन प्रणीत अनेकान्तवादी सिद्धान्त में निहित है। इस कारण से इस दर्शन में अभाव की प्ररूपणा वस्तु में निमग्न धर्म के रूप में की गयी है एवं भाव सापेक्ष अभाव का वर्णन हुआ है, न कि केवल स्वतंत्र व पृथक् पदार्थ के रूप में।

जैनदर्शन के अनुसार, जगत् की प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक व अनंत धर्मात्मक होने से स्वयमेव परिपूर्ण, अपना कार्य करने में पूर्ण समर्थ, परनिरपेक्ष, अनादि-अनंत व स्वतंत्र है। अनंत धर्मों में अस्ति-नास्ति भी वस्तुगत धर्म ही हैं। आस्तिधर्ममय होने से प्रत्येक वस्तु सदा स्वचतुष्टय* से विद्यमानता रखती है तथा नास्तिधर्ममय होने से वह परसत्ता से अविद्यमानता रखती है अर्थात् परचतुष्यरूप* रूप कदापि नहीं होती। यह नास्तिधर्म ही जैनआगम में 'अभाव' के नाम से वर्णित है।

(अ) अभाव का स्वरूप -

सामान्यत: अभाव की व्याख्या दो रूपों में मिलती है "न भाव: अभाव:" इस नञ् समास के दो अर्थ हैं - पहला पर्युदास प्रतिषेध और दूसरा प्रसज्य-प्रतिषेध। पर्युदास प्रतिषेध में एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु का सद्भाव ग्रहण किया जाता है।(48) जैसे - "अब्राह्मणमानय" से ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि का ज्ञान होना पर्युदास प्रतिषेध है। उक्तं च :- **"प्रत्यक्षादन्योऽप्रत्यक्ष इति पर्युदास:"** अर्थात् प्रत्यक्ष से अन्य हो ऐसा अप्रत्यक्ष वह पर्युदास है।(49)

इसके विपरीत, प्रसज्य प्रतिषेध वस्तु का सर्वथा निषेध करने वाला है(50) "प्रत्यक्षोनभवतीत्यप्रत्यक्ष इति प्रसज्य प्रतिषेधो" अर्थात् जो प्रत्यक्ष न हो ऐसा अप्रत्यक्ष वह प्रसज्य प्रतिषेध है।(51)उक्त विवेचन दोनों अभावों के अंतर को स्पष्ट करता है। किसी एक वस्तु के अभाव के द्वारा दूसरी वस्तु का सद्भाव दर्शाना पर्युदास प्रतिषेध है, जैसे - प्रकाश का अभाव ही अंधकार है और वस्तु का अभाव मात्र दर्शाना प्रसज्य प्रतिषेध है, जैसे- इस भूतल पर घट का अभाव है।(52)

जैनदर्शन में अभाव की विवेचना पर्युदास प्रतिषेध के रूप में की गयी है। जैनदर्शन में सर्वथा नि:स्वभाव रूप अभाव अर्थात् प्रसज्य प्रतिषेध को स्वीकृत नहीं किया गया है। जैनदर्शन में मान्य अभाव भावान्तर; भिन्न भावरूप है। **उक्तं च :- ''भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभाव इति वचनात्, घटोत्पादरूपेण मृत्पिण्डभंग इव।''** अर्थात् अभाव अन्य पदार्थ के स्वभावरूप होता है, जैसे - मिट्टी के पिण्ड का अभाव घड़े की अभाव की उत्पत्ति रूप से प्रतिभासित होता है।[53]

इस प्रकार जैनदर्शन में भाव से भिन्न अभाव को नहीं माना गया है, अन्यथा वह अभाव नि:स्वरूप हो जाएगा, किन्तु वह अभाव 'नास्ति' इस प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करने रूप सद्भाव स्वभाववाला है तथा अभाव में नीरुपत्व-तुच्छाभाव को अस्वीकार करने से उस अभाव में भाव स्वभावत्व सिद्ध ही है.... अत: नास्ति भी अस्तित्व के समान वस्तु का धर्म है।[54]

सामान्यत: अभाव के कई अर्थ होते हैं - न होना, भिन्न रहना, दूर रहना, सत्ता में नहीं होना, उत्पाद नहीं होना, व्यय हो जाना, पररूप नहीं होना इत्यादि। जैनदर्शन अभाव को इस प्रकार परिभाषित करता है - 'एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के अस्तित्व न होने को अभाव कहते हैं।'[55]

(ब) अभाव के भेद -

जैनदर्शन में अभाव के चार भेदों को स्वीकृत किया गया है[56] जो निम्नांकित हैं :-

(i) प्रागभाव :- प्राग्भाव-पूर्व में न होना, किसी भी द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की पूर्व पर्याय में अभाव, प्रागभाव कहलाता है।[57]

अष्टसहस्त्रीकार आचार्य विद्यानंद इसे निम्नरूप में परिभाषित करते हैं - 'यदभावे हि नियमत: कार्यस्योत्पत्ति: स प्रागभाव:'[58] अर्थात् जिसका अभाव होने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह प्रागभाव कहलाता है। अथवा कारण में कार्य का नहीं होना प्रागभाव है, जैसे - मिट्टी में घड़े का अभाव, बीज में वृक्ष का अभाव एवं संसारी आत्मा में परमात्मा का अभाव देखा जाता है। इस प्रागभाव का अभाव - नाश करके ही कार्य उत्पन्न होता है। मिट्टी को अन्तरंग-बहिरंग सामग्री, स्निग्धता, कुम्भकार, चाक आदि के मिलने से घट के प्रागभाव का अभाव होकर वह मिट्टी ही घट रूप परिणमित हो जाती है।[59] इसलिए ही कहा गया है- 'कार्य के स्वरूप लाभ करने से पहिले उसका जो अभाव रहता है या अनंतर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय का वर्तमान कार्यरूप पर्याय में अभाव प्रागभाव है।'[60] उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में प्रागभाव को कार्य की उत्पत्ति के पूर्व अभाव या वर्तमान पर्याय में पूर्व पर्याय के अभाव के रूप में स्वीकृत किया गया है।

प्रागभाव, प्रत्येक द्रव्य के पर्याय स्वभाव पर लागू होता है, क्योंकि बदलना या परिवर्तित होना पर्याय का धर्म है। पर्याय की पूर्व अवस्था ही परिवर्तित होकर वर्तमान पर्याय रूप परिणत होती है और उस वर्तमान अवस्था में अपनी पूर्व अवस्था का अभाव पाया जाता है। प्रागभाव वस्तु के द्रव्य स्वभाव पर लागू नहीं होता, क्योंकि वह द्रव्य अपरिणामी व नित्य है।

(ii) प्रध्वंसाभाव :- प्रध्वंस- 'कार्य का विघटना धर्म।' ''यद्भावे च कार्यस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंसः''[61] जिसका सद्भाव होने पर नियम से विवक्षित कार्य विनाश (अभाव) हो, वह प्रध्वंसाभाव है। अन्यत्र भी कहा गया है - ''एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की आगामी पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव है।''[62] जैसे - घड़े में कपाल-टुकड़ों का अभाव प्रध्वंसाभाव है। इस प्रध्वंसाभाव का अभाव-नाश होकर ही घट फूटकर उसके कपाल रूप टुकड़े उत्पन्न होंगे। इस प्रकार प्रध्वंसाभाव यह बतलाता है कि वर्तमान पर्याय का भविष्य (अनंतर उत्तरक्षणवर्ती) की पर्याय में अभाव स्वभाव है। वर्तमान रूप कार्य का प्रध्वंस होने पर नियम से अगली पर्याय रूप कार्य का उत्पाद हो जाता है।

इस प्रकार प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव दोनों ही वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की भूत व भावी पर्याय में अभाव का ज्ञान कराते हैं एवं इस तथ्य का प्रगटीकरण करते हैं कि वर्तमान पर्याय का वर्तमान पर्याय में सद्भाव है, अस्ति है, उसका अतीत व भविष्य की पर्याय में अभाव है, नास्ति है। यहाँ पर अस्ति और नास्ति धर्म एक ही पर्याय पर, एक ही समय में घटित किया गया है और वर्तमान पर्याय में अस्ति-नास्ति धर्म युगपत् विद्यमान हैं, यह द्रष्टव्य है।

(iii) अन्योन्याभाव :- अन्योन्याभाव का शाब्दिक अर्थ है - अन्य + अन्य + अभाव। 'स्वाभान्तरात्स्वभाव -व्यावृतिरन्यापोहः'[63] अर्थात् एक स्वभाव की दूसरे स्वभाव से व्यावृति या भिन्नता का नाम अन्यापोह है, अन्योन्याभाव है। इसे इतरेतराभाव भी कहते हैं। आचार्य विद्यानंद ने इसे उदाहरण सहित स्पष्ट किया गया है - ''इतरेतराभाव के अभाव में कार्य की उत्पत्ति अथवा विपत्ति नहीं होती है और इतरेतराभाव के सद्भाव में कार्य की उत्पत्ति या विपत्ति नहीं होती है। जैसे - जल व अनल में इतरेतराभाव है। जल के अभाव में अनल या अग्नि की उत्पत्ति का कोई नियम नहीं है और जल के सद्भाव में अग्नि की विपत्ति भी नहीं होती है, क्योंकि अग्नि पर्याय का व्यय होकर भस्म या धुंआ होता है, जल नहीं होता।''[64] यह प्रत्येक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उसके अनंतरपूर्व परिणाम व अनंतर-उत्तर परिणाम को छोड़कर उसकी शेष भूत की व शेष भविष्य की पर्यायों में भिन्नता का ज्ञान कराता है। जैसे - घट में पट का अभाव, चौकी में घड़ी व पुस्तक ादि का अभाव इतरेतराभाव है।

घट व पट का स्वभाव भिन्न-भिन्न है, क्योंकि दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव है। किन्तु घट व पट की भिन्नता केवल घट पर्याय व पट पर्याय में है, कालान्तर घट और पट के नाश होने पर घट के परमाणु पट रूप हो सकते हैं और पट के परमाणु घट रूप हो सकते हैं अतः यह अभाव कालत्रयापेक्षी नहीं है, इसमें व्यावृत्ति का सम्बन्ध केवल वर्तमान कालिक है।

इस प्रकार घट व पट रूप पुद्गल स्कंध की वर्तमान पर्याय का उसके अनंतर पूर्व परिणाम व अनंतर उत्तर परिणाम को छोड़कर उसकी शेष भूत व शेष भविष्य की समस्त पर्यायों में अभाव है, क्योंकि घट आगामीकाल में पट रूप एवं पट आगामी काल में घट रूप परिणमित हो जाता है, परन्तु वर्तमान पर्याय में उनके जो भेद का कारण है, वह अन्योन्याभाव है।

अन्योन्याभाव-एक विशिष्ट दृष्टिकोण

जैन दर्शन में अन्योन्याभाव की एक और पृथक् परिभाषा देखने को मिलती है और जो प्राय: सर्वाधिक प्रचलित व मान्य है, जो इस प्रकार है "एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में अभाव अन्योन्याभाव है।"(65)

जैसे - नीबू की मिठास में शक्कर की खटास का अभाव है। यह परिभाषा मात्र पुद्गल द्रव्य पर ही लागू होती है, शेष पांचों द्रव्यों में यह घटित नहीं होती। एक बात और दृष्टव्य है कि वह मात्र पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय पर ही लागू होती है और शेष दो पुद्गल द्रव्यों की वर्तमान पर्यायों को स्वतंत्र सिद्ध करती है। जबकि अन्योन्याभाव की पूर्व परिभाषा पुद्गल द्रव्य सहित शेष पांचों द्रव्यों पर भी लागू होती है। एक ही द्रव्य की शेष पूर्ववर्ती (अनंतर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय को छोड़कर) व शेष पश्चात्वर्ती (अनंतर उत्तरक्षणवर्ती पर्याय को छोड़कर) पर्याय को वर्तमान पर्याय से भिन्न सिद्ध करती है। यद्यपि अन्योन्याभाव की प्रचलित परिभाषा पूर्व परिभाषा में समाहित हो जाती है लेकिन यह सम्पूर्णत: अन्योन्याभाव के स्वरूप को प्रगटीकृत नहीं करती या उसके स्वरूप पर पूर्णत: प्रकाश नहीं डालती। किंतु पूर्व परिभाषा अन्योन्याभाव के स्वरूप को सही ढंग से प्रतिपादित करती है उसके सन्दर्भ में जैनआगम में प्रमाण होने से वह प्रमाणिक भी है। यद्यपि कुछ जैन विद्वानों का ध्यान अष्टसहस्त्री में वर्णित परिभाषा की ओर गया है और उन्होंने इसे ही प्रमाणिक स्वीकार किया है।

पूर्वोक्त प्रचलित परिभाषा को स्वीकृत करने का कारण संभवत: यह प्रतीत होता है कि आप्तमीमांसा व अष्टसहस्त्री ग्रंथों में उपलब्ध अन्योन्याभाव के स्वरूप में वर्णित उदाहरण के आधार पर अनुमान किया गया है कि अन्योन्याभाव केवल पुद्गल द्रव्य पर ही लागू होता है, परन्तु सम्पूर्ण परिभाषा पर दृष्टिपात किया जाए तो विदित होता है कि यह छहों द्रव्यों पर लागू होती है।

समयसार तात्पर्यवृत्ति टीका पृ. 68 व अध्यात्म न्यायदीपिका पृ. 370-371 में अन्योन्याभाव को अष्टसहस्त्री(66) के आधार पर ही परिभाषित किया गया है। अत: यही परिभाषा प्रामाणिक प्रतीत होती है।

(iv) अत्यंताभाव :- यह अभाव की श्रृंखला में चौथा व अंतिम भेद है। अपने समवायी पदार्थ का अन्य समवायी पदार्थों में समवाय न होना, अत्यंताभाव है। अष्टसहस्त्री में कहा गया है - 'कालत्रयापेक्षाभावोत्यंताभाव:'(67) अर्थात् एक वस्तु में दूसरी वस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप अभाव अत्यंताभाव है। यह अभाव त्रैकालिक है, जैसे - जीवद्रव्य व पुद्गल द्रव्य में अभाव एवं कुम्हार का घड़े में अभाव अत्यंताभाव है। संसारावस्था में जीव के साथ कर्मरूप पुद्गलों का सम्बन्ध तो है, किन्तु यह जीव कभी- भी पुद्गल जड़रूप नहीं हो सकता है। पुद्गल भी जीव के साथ एकक्षेत्रावगाही दूध और पानी के समान एकमेक होकर भी चैतन्य अवस्था को कभी-भी प्राप्त नहीं कर सकता है।(68) तथा एक क्षेत्रावगाह रूप रहने वाले छह द्रव्यों में भी परस्पर अत्यंताभाव है। इस सन्दर्भ में 'आकाश द्रव्य' का उदाहरण मिलता है जैसे - आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है और उस (लोकाकाश) के अनंतवें भाग में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म

और काल द्रव्य का अस्तित्व विद्यमान है फिर भी आकाश द्रव्य का अन्य पांचों द्रव्यों में अत्यंताभाव है और एकक्षेत्रावगाह रूप रहने वाले छह द्रव्यों में आपस में अत्यंताभाव है।(69)

इसका महत्व इस रूप में है कि इस अभाव के कारण किसी भी काल में दो द्रव्यों का स्वतंत्र अस्तित्व कभी-भी नष्ट नहीं हो सकता, अपितु सदैव कायम रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप अभाव यह बतलाता है कि प्रत्येक वस्तु या द्रव्य का स्वचतुष्टय भिन्न है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वचतुष्टय में है, प्रत्येक द्रव्य का अन्य सभी द्रव्यों में 'नास्ति' भाअभाव है। इसकी विशेषता यह है कि यह मात्र द्रव्यस्वभाव पर घटित होता है जबकि शेष तीनों अभाव द्रव्य के पर्याय स्वभाव पर लागू होते हैं। अत: अत्यंताभाव द्रव्यसूचक है, बाकी तीनों अभाव पर्याय सूचक हैं।

(स) अन्योन्याभाव व अत्यंताभाव में भिन्नता -

जैनदर्शन में अन्योन्याभाव व अत्यंताभाव में भी भेद स्पष्ट किया गया है- "स्वभावान्तर से स्वभाव में व्यावृति होना, अन्यापोह है, यह लक्षण कालत्रय सापेक्ष अत्यंताभाव में भी रहता है। अत: इसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं है। घट और पट का इतरेतराभाव कालत्रयापेक्षी नहीं है, क्योंकि कभी घट का भी पट परिणाम संभव है। उसी प्रकार के परिणमन में कारण समुदाय के मिल जाने से पट के घट रूप होने में कोई विरोध नहीं है। पुद्गल-द्रव्य की अनेक पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप परिणमन करने में कोई भी नियम नहीं देखा जाता है, किन्तु इस तरह चेतन-अचेतन में कभी-भी तादात्म्य परिणाम नहीं हो सकता, क्योंकि वे दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व होने से उनमें तादात्म्य का विरोध है अतएव इन चेतन व अचेतन रूप भिन्न-भिन्न तत्त्वों में अत्यंताभाव ही है।"(70)

इस सन्दर्भ में आप्तमीमांसा का कथन दृष्टव्य है- जो दोनों भाव रूप वस्तुएं न्यारी-न्यारी युगपत् दिखाई देती हैं उनके परस्पर स्वभाव भेद की अपेक्षा से उसका उसमें निषेध तथा उसका उसमें निषेध इतरेतराभाव है। यह विशेष तो पर्यायार्थिक नय के प्राधान्य की अपेक्षा पर्यायों के परस्पर अभाव को जानना है। अत्यंताभाव को द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता की अपेक्षा है। अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में अत्यंताभाव है। ज्ञानादिक तो पुद्गल में किसी काल में होते नहीं हैं। पुन: रूपादिक जीवद्रव्य में किसी काल में होते नहीं हैं।(71) इस प्रकार पूर्वोक्त उद्धरण अन्योन्याभाव व अत्यंताभाव में भेद का प्रकटीकरण करते हैं।

(द) अभाव सिद्धान्त की उपयोगिता व प्रयोजन -

यह सर्वविदित तथ्य है कि अनेकान्तवादी जैनदर्शन में वस्तु को कथंचित् भावा- भावात्मक माना गया है एवं सर्वथा भावैकान्त व अभावैकान्त का निराकरण किया गया है और इसी सन्दर्भ में अभाव की स्वीकार्यता व उसके प्रयोजन पर प्रकाश पड़ता है। विचारणीय है कि यदि सर्वथा भावस्वरूप वस्तु को माना जाए अर्थात् वस्तु में विद्यमान अभावधर्म का लोप किया जाए तो क्या हानियाँ होगी ? आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में 9 से 11 कारिका तक अभाव को स्वीकार करने का प्रयोजन क्या है? इसका विवेचन किया है व उनके टीकाकार आचार्य विद्यानंद ने अष्टसहस्त्री में अभाव

धर्म को अस्वीकार करने पर जैनेत्तर दर्शनों में मन्य वस्तु व्यवस्था कैसे संभव नहीं हो सकती है ? इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है। यहाँ पर संक्षेप में यह दृष्टव्य है।

सर्वप्रथम भावैकान्त रूप वस्तु को स्वीकार करने पर कौन-कौन से दोष उत्पन्न हो जायेंगे, इसका विवेचन निम्नांकित है -: "पदार्थों का सर्वथा सद्भाव ही है, ऐसा भावैकान्त मानने पर पदार्थों के अन्योन्याभाव आदि चार प्रकार के अभाव का निराकरण होने से सभी पदार्थ सर्वात्मक, अनादि, अनंत और अस्वरूप-स्वरूपरहित शून्य रूप हो जायेंगे।"(72) पुन: "यदि प्रागभाव का निराकरण किया जाय तो घट आदि कार्यद्रव्य अनादि सिद्ध हो जायेंगे और यदि प्रध्वंसाभाव का लोप किया जाए तो सभी वस्तु की पर्यायें अनंतपनें को प्राप्त हो जायेंगी। इसी प्रकार अन्यापोह का व्यतिक्रम करने पर अर्थात् अन्योन्याभाव को न मानने पर सर्ववादियों के द्वारा माना गया वस्तु का भिन्न-भिन्न स्वरूप सर्वात्मक हो जाएगा। जो तत्त्व आपने नहीं माना है, पर ने माना है, वह भी आपके द्वारा माना हुआ ठहरेगा तथा अत्यंताभाव का अभाव मानने पर किसी भी इष्टतत्त्व का किसी भी प्रकार के व्यपदेश (कथन) नहीं हो सकेगा अर्थात् यह चेतन है, यह अचेतन है, ऐसा कथन भी नहीं हो सकता है।"(73)

इसके अतिरिक्त, जो द्रव्य कारणों से उत्पन्न होते हैं वे कार्यद्रव्य कहलाते हैं, यथा- घट मिट्टी आदि कारणों से उत्पन्न होता है, इसलिए घट कार्यद्रव्य है। घट अनादि नहीं है, किन्तु सादि है। घट की उत्पत्ति के पहले उसका प्रागभाव रहता है और घट के उत्पन्न होते ही वह समाप्त हो जाता है। अत: आज जो घट उत्पन्न हुआ है वह आज ही क्यों हुआ, इसके पहिले क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर यह है कि आज तक इस घट का प्रागभाव था। यदि प्रागभाव नहीं है तो अनादिकाल से ही घट का सद्भाव होना चाहिए। प्रागभाव के अभाव में घट की उत्पत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है, किन्तु हम देखते हैं कि पदार्थों की उत्पत्ति होती है और कोई भी पदार्थ एकान्तरूप से अनादि नहीं है, अत: प्रागभाव का मानना आवश्यक है।

प्रध्वंसाभाव के न मानने से सब पदार्थ अनंत हो जाएगें और किसी भी पदार्थ का अन्त नहीं होगा। घट में पत्थर मारने से घट नष्ट हो जाता है और घट का सद्भाव नहीं रहता है। जब प्रध्वंसाभाव ही नहीं है तो पत्थर मारने पर भी घट नहीं फूटेगा और घट का नाश नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य पदार्थों का भी नाश नहीं होगा। किन्तु हम देखते हैं कि पदार्थों का अन्त होता है कोई भी पदार्थ एकान्तरूप से अनंत नहीं है, अत: प्रध्वंसाभाव का मानना आवश्यक है।

इसी प्रकार अन्योन्याभाव को न मानने पर सब पदार्थ सबरूप हो जाएगें। एक पदार्थ का अभाव दूसरे पदार्थ में न रहने से घट पट रूप हो जाएगा और पट घटरूप हो जाएगा और यदि घट पटरूप है और पट घटरूप, तो घट का काम पट को भी करना चाहिए और पट का काम घट को भी करना चाहिए, किन्तु ऐसा कभी नहीं देखा जाता। अत: अन्योन्याभाव का सद्भाव मानना आवश्यक है तथा अत्यंताभाव को न मानने से चेतन, अचेतन हो जाएगा और अचेतन, चेतन हो जाएगा। पुद्गल चेतन नहीं है और चेतन पुद्गल नहीं है, इसका नियामक कुछ भी नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में चेतन व

अचेतन के स्वरूप का भी अभाव हो जाएगा। अत: सब पदार्थों में अपने-अपने स्वरूप के नियामक अत्यंताभाव का सद्भाव मानना आवश्यक है।[74]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से परिलक्षित होता है कि अभाव या नास्तित्व स्वरूप वस्तु को स्वीकार न करने पर सम्यक् व निर्दोष वस्तु की अथवा विश्व की व्यवस्था नहीं बन सकती है। इसलिए जैनदर्शन में विश्व की दोषरहित व्यवस्था को स्वीकृत करने के कारण अभाव की उपयोगिता को समझकर उसका प्रतिपादन किया गया है।

(इ) भाव-अभाव अथवा अस्तित्त्व-नास्तित्त्व धर्मों की अविरोधता -

पूर्व में हमने जैनदर्शन में मान्य अभाव के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते समय इस तथ्य को उद्घाटित किया है कि अभाव वस्तु में विद्यमान अनंत धर्मों में से एक धर्म है, जो वस्तु का सद्भाव रूप धर्म है एवं भाव सापेक्ष है। सर्वथा अभाव या केवल अभाव मात्र (प्रसज्य अभाव) को जैनदर्शन अस्वीकृत करता है। **उक्तं च :- ''भवत्यभावोऽपि च वस्तु धर्मो भावातरं भाववरर्हतस्ते''**[75] अर्थात् भाव के समान भावान्तर स्वभावरूप अभाव भी वस्तु का धर्म होता है।

अस्तित्व को भावधर्म एवं नास्तित्व को अभाव धर्म भी कहते हैं। जिस प्रकार अस्तित्व धर्म द्रव्यों के अस्तित्व को कायम रखता है उसी प्रकार नास्तित्व धर्म उसे परद्रव्य से भिन्न एवं पर से सम्पूर्णत: असंपृक्त रखता है।[76] इस प्रकार दोनों धर्म वस्तु को अपने से अभिन्न व पर से भिन्न रखते हैं। कहा भी है गया है कि ''स्वरूपादिचतुष्टय अर्थात् स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अस्तित्व को कौन बुद्धिमान स्वीकार नहीं करेगा ? इसी प्रकार पररुपादिचतुष्टय अर्थात् परद्रव्य क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से वस्तु के नास्तित्व को भी कौन बुद्धिमान स्वीकार नहीं करेगा ? यदि कोई व्यक्ति अस्तित्व और नास्तित्व धर्मों को स्वीकार नहीं करता है तो उसके मतानुसार वस्तु की व्यवस्था ही सिद्ध नहीं हो सकती है।''[77]

यदि यह कहा जाए कि वस्तु या तत्त्व मात्र अस्तित्व रूप है, नास्तित्व रूप तो परवस्तु के आश्रित है, तो वह वस्तु का स्वरूप कैसे हो सकता है ? इस शंका के समाधानार्थ आचार्य समन्तभद्र की निम्नांकित कारिका ध्यान देने योग्य है :-

''विशेषण होने से अस्तित्व धर्म एक ही वस्तु में प्रतिषेध्य (नास्तित्व) का अविनाभावी है, जैसे-हेतु में विशेषण होने से साधर्म्य वैधर्म्य का अविनाभावी है।''[78]

इसका विशेष स्पष्टीकरण आप्तमीमांसा-तत्त्वप्रदीपिका में भी किया गया है। अस्तित्व व नास्तित्व ये परस्पर में अविनाभावी धर्म हैं। अस्तित्व के बिना नास्तित्व नहीं हो सकता है और नास्तित्त्व के बिना अस्तित्त्व नहीं हो सकता है। इन दोनों धर्मों का अधिकरण भिन्न वस्तु न होकर एक ही वस्तु होती है तथा एक वस्तु में अस्तित्त्व हो और दूसरी वस्तु में नास्तित्त्व हो, ऐसा मानना प्रतीति विरुद्ध है। अस्तित्त्व व नास्तित्त्व ये एक ही वस्तु के विशेषण हैं, जो विशेषण होता है, वह एक धर्म में अपने प्रतिषेध धर्म से अविनाभावी होता है, जैसे - हेतु का प्रयोग में साधर्म्य-भेद विवक्षा-वैधर्म्य से अविनाभावी है, यह सर्व हेतुवादियों के लिए प्रसिद्ध है।

हेतु का साध्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है। अन्वय को साधर्म्य और व्यतिरेक को वैधर्म्य कहते हैं। हेतु के होने पर साध्य का होना अन्वय है और साध्य के अभाव में हेतु का नहीं होना व्यतिरेक है, जैसे पर्वत में अग्नि है, धूम होने से। यहाँ धूम हेतु है और अग्नि साध्य है। जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है और जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ धूम नहीं होता है। इस प्रकार धूम व अग्नि में साधर्म्य व वैधर्म्य है। साधर्म्य व वैधर्म्य दोनों हेतु के विशेषण हैं तथा परस्पर में एक दूसरे के सापेक्ष हैं जिस प्रकार हेतु में साधर्म्य, वैधर्म्य का अविनाभावी है, उसी प्रकार वस्तु में अस्तित्व, नास्तित्व का अविनाभावी है। एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ से जो व्यावृत्ति है, वह न तो सर्वथा भावात्मक है और न सर्वथा अभावात्मक है। बौद्ध मानते हैं कि अन्य व्यावृति वस्तु का स्वभाव नहीं है। यदि ऐसा है तो वस्तु केवल एकरूप होगी और अन्य वस्तुओं से उसका कुछ भी भेद सिद्ध न होगा। अत: अस्तित्व की तरह अन्य व्यावृत्ति (नास्तित्व) भी वस्तु का स्वभाव है।' जैसे- घट में अस्तित्व है, उसी प्रकार यह पट नहीं है, यह नास्तित्व भी है। यदि उसमें नास्तित्व न होता तो घट भी पट हो जाता। इस प्रकार अस्तित्व धर्म एक धर्मी में नास्तित्व धर्म की अपेक्षा अविनाभावी है।(79)

यहाँ पुन: शंका उपस्थित की जा सकती है कि अस्तित्व तो नास्तित्व से अविनाभावी होता है, किन्तु नास्तित्व, अस्तित्व की अपेक्षा कैसे अविनाभावी हो सकता है ? आकाश के फूल के तो अस्तित्व का कोई प्रकार संभव नहीं है ? वस्तुत: यह "एक ही वस्तु विशेषण होने से नास्तित्व अपने प्रतिषेध्य अस्तित्व का अविनाभावी है। जैसे - हेतु में वैधर्म्य साधर्म्य का अविनाभावी होता है।"(80)

इस प्रकार हेतु एवं युक्ति के द्वारा यह बात स्पष्ट होती है कि अस्तित्व व नास्तित्व ये परस्पर अविनाभावी धर्म हैं। इस प्रकार नास्तित्व के बिना अस्तित्व नहीं हो सकता है। हेतु में वैधर्म्य का सद्भाव साधर्म्य की अपेक्षा से ही होता है। जो अनित्य नहीं होता है, वह कृतक भी नहीं होता है। जैसे - आकाश, यह हेतु का वैधर्म्य है। जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, जैसे- घट। यह हेतु का साधर्म्य है। हेतु में जो वैधर्म्य पाया जाता है, वह साधर्म्य के बिना नहीं हो सकता है। इसी प्रकार वस्तु में नास्तित्व विशेषण अपने प्रतिपक्षी अस्तित्व का अविनाभावी है। वस्तु पररूपादि की अपेक्षा से असत् है। यदि ऐसा न हो अर्थात् पररूपादि की अपेक्षा से भी वस्तु सत् हो तो किसी वस्तु का कोई निश्चित स्वभाव न होने के कारण संसार के समस्त पदार्थों में सांकर्य (मिश्रण) हो जाएगा। घट का काम घट ही करता है, पट नहीं; क्योंकि घट और पट दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। इससे प्रतीत होता है कि सब पदार्थों का स्वभाव पृथक्-पृथक् है। सभी पदार्थ अपनी-अपनी शक्ति और स्वभाव के अनुसार अपना-अपना कार्य करते हैं। कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ का कार्य कभी-भी नहीं करता।

इस विषय में राजवार्तिक का कथन द्रष्टव्य है :- "जितने भी पदार्थ शब्दगोचर हैं वे सब विधि-निषेधात्मक हैं। कोई भी वस्तु सर्वथा निषेधगम्य नहीं होती, जैसे - कुरवक पुष्प लाल और सफेद दोनों रंगों का नहीं होता, तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह वर्ण शून्य है। इसी तरह पर की अपेक्षा से वस्तु में नास्तित्व होने पर भी

स्वदृष्टि से उसका अस्तित्व सिद्ध है।'' उक्तं च :- 'कथंचित् असत् की भी उपलब्धि और अस्तित्व है तथा सत् की अनुपलब्धि और नास्तित्व है।' यदि सर्वथा अस्ति और उपलब्धि मानी जाये तो सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जाएगें और यदि पररूप की तरह स्वरूप से भी असत्त्वं माना जाए अर्थात् सर्वथा असत्त्व माना जाए तो पदार्थ का भी अभाव हो जाएगा, वह शब्द का विषय नहीं हो सकेगा। अत: नास्तित्व और अप्रत्यक्ष से शून्य जो होगा, वह अवस्तु होगा।[81]

इस प्रकार यह बात पूर्णत: स्पष्ट हो जाती है कि अस्तित्व व नास्तित्व दोनों परस्पर विधि-निषेध स्वरूप हैं। विधि के बिना निषेध नहीं हो सकता और निषेध के बिना विधि की कल्पना नहीं की जा सकती है। ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं फिर भी वस्तु में अविरोध रूप से विद्यमान रहते हैं और वस्तु की स्वतंत्र सत्ता को कायम रखते हैं जिससे वस्तु स्व से अभिन्न व पर से पूर्णत: भिन्न व असंपृक्त बना रहती है। वस्तु के विषय में अनुभव व युक्तिसिद्ध यही पारमार्थिक व्यवस्था है।

6. अभाव विषयक विभिन्न दार्शनिकों की मान्यताओं की समीक्षा :-

ऊपर हमने न्याय, वैशेषिक, मीमांसा बौद्ध व जैनदर्शन में मान्य अभाव के स्वरूप, उसके ज्ञान में आवश्यक प्रमाण, उसकी उपयोगिता व प्रयोजन पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला है। अब यहाँ हम उनके द्वारा मान्य अभाव के स्वरूप की जैन दृष्टया समीक्षा करने का प्रयास करेंगे कि उनका मत कहाँ तक सर्वांशत: समीचीन है।

(अ) अभाव के पदार्थत्व का खण्डन -

न्याय-वैशेषिक व भाट्ट मीमांसक अभाव को एक पदार्थ मानते हैं। वस्तुत: अभाव पदार्थ है या नहीं; यह पदार्थ की परिभाषा पर निर्भर करता है। यदि प्रशास्तपाद प्रणीत पदार्थ की परिभाषा पर दृष्टिपात करें, जो सत्, ज्ञेय व अभिधेय हो वह पदार्थ है तो अभाव पदार्थ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि किसी पदार्थ का न होना ही अभाव है फिर वह सत् न होने से पदार्थ कैसे माना जा सकता है ? यदि पदार्थ सद्भाव रूप भी माना जाए और अभाव रूप भी माना जाए तो ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं जो एक वस्तु में घटित नहीं हो सकते हैं ? संभवत: इसी कारण से वैशेषिक सूत्र में अभाव का विवेचन होने पर भी उसका पदार्थ के रूप में उल्लेख न किया गया हो। परन्तु परवर्ती वैशेषिक आचार्यों ने पदार्थ को प्रमिति का विषय, ज्ञेय व अभिधेय के रूप में परिभाषित किया है और इसी कारण अभाव को भी पदार्थ मान लिया गया है। किन्तु प्रमिति का विषय व अभिधेय होने मात्र से अभाव पदार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रमिति का विषय आकाश-कुसुम, बंध्यापुत्र, मृगजल, खरविषाण इत्यादि भी हैं लेकिन ये पदार्थ नहीं हैं। इसलिए 'प्रमितिविषया: पदार्था:', 'अभिधेयत्वं पदार्थ सामान्यलक्षणमं', 'अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वं पदार्थत्वम्' आदि परिभाषायें पदार्थ के निर्दोष लक्षण से शून्य होने के कारण विवेकी अथवा मनीषियों द्वारा स्वीकार्य नहीं हो सकती हैं।

दूसरी बात, न्याय-वैशेषिक अभाव को शून्य या असत् रूप नहीं मानते हैं अथवा निरपेक्ष अभाव की कल्पना नहीं करते हैं, बल्कि अभाव को भाव सापेक्ष ही

मानते हैं तो फिर यहाँ प्रश्न उठता है कि जब अभाव-भाव सापेक्ष है तो उसे पृथक् व स्वतंत्र पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है ? और जब वह भाव सापेक्ष है तो स्वतंत्र व पृथक पदार्थ कैसे हो सकता है ?

यदि आप भाव व अभाव दोनों को मानते हैं, किन्तु दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं तो आपकी मान्यता गलत है, क्योंकि सभी वस्तुएं स्वरूप के समान पररूप से अस्तिरूप एवं पररूप के समान स्वरूप से नास्तिरूप नहीं हैं तथा अस्तिधर्म नास्तित्व की एवं नास्तिधर्म अस्तित्व की अपेक्षा रखता है। इसलिए ऐसा 'उभयैकात्म्य' सर्वथा गलत है।

डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी ने 'अभाव' विषयक अपने आलेख में अभाव को पदार्थ मानने पर एक आपत्ति उठायी है जो द्रष्टव्य है। उनके अनुसार अभाव को पदार्थ माना जाए तो जितनी वस्तुओं का भाव है उतनी ही वस्तुओं के अभाव को पदार्थ मानने पर उतने और पदार्थ मानने होंगे, जो कि युक्तिसंगत नहीं है।[82]

जैनदर्शन में मान्य अभाव के प्रकरण में इस बात को प्रमाण व युक्ति द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है कि अभाव वस्तु कथंचित् धर्म के रूप में स्वीकृत हो सकता है, न कि पृथक् व स्वतंत्र पदार्थ के रूप में, क्योंकि इसका अस्तित्व भाव सापेक्ष ही संभव है।

(ब) अभाव के प्रामाण्य का खण्डन -

भाट्ट मीमांसकों की मान्यता है कि अभाव पदार्थ का ज्ञान अनुपलब्धि नामक स्वतंत्र प्रमाण से होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि अभाव प्रमाण के द्वारा जो भूतल दिखाई पड़ता है वह घट रहित दिखाई पड़ता है या घट सहित ? यदि घट रहित दिखता है, ऐसा कहा जाए तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही दिखता है तो फिर अभाव के लिए स्वतन्त्र प्रमाण को मानने की क्या आवश्यकता है ? यदि घट सहित भूतल दिखता है तो उसके अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण ग्रहण नहीं कर सकता।[83] अत: यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि अनुपलब्धि प्रमाण प्रत्यक्षादि से भिन्न है। अनुपलब्धि प्रमाण का जो विषय है वह प्रत्यक्षादि के द्वारा गृहीत होने के कारण अभाव अनुपलब्धि की सिद्धि प्रत्यक्षादि से भिन्न रूप में नहीं होती है। अभाव दो प्रकार का होता है :- (अ) विप्रकृष्ट अर्थ-संबंधी अभाव (ब) अविप्रकृष्ट अर्थ-संबंधी अभाव। विप्रकृष्ट पदार्थ* तीन प्रकार का होता है - 1. देश विप्रकृष्ट, जैसे - मेरु आदि, (2) काल विप्रकृष्ट, जैसे-रामरावणादि और स्वभाव विप्रकृष्ट, जैसे- परमाणु आदि।

इनसे विपरीत, पदार्थों को देशादि से अविपृकष्ट पदार्थ* कहते हैं। देशादि अविप्रकृष्ट अर्थ संबंधी जो अभाव है, वह प्रत्यक्षादि से ही जाना जाता है। 'यह भूतल घट रहित है' ऐसा ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय के अनंतर होता है। जो ज्ञान चक्षु के होने पर हो और चक्षु के अभाव में न हो वह प्रत्यक्ष कहलाता है, जैसे - घटपटादि का ज्ञान। घटादि के अभाव का ज्ञान इसी प्रकार का है अत: घटाभाव प्रत्यक्ष ही है। इससे सिद्ध होता है कि देशादि से अविप्रकृष्ट अर्थ संबंधी अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है।

देशादि से विप्रकृष्ट अर्थ-संबंधी जो अभाव है उसका ज्ञान अनुमानादि के द्वारा होता है। देश विप्रकृष्ट - कमलाकरकमलादि संबंधी विकासादि का दिनकर के उदयादि

के अभाव से जाना जा सकता है। कालविप्रकृष्ट - शकटादि नक्षत्र के एक मुहूर्त के अन्त में उदयाभाव का ज्ञान अश्विनी नक्षत्र के उदय से जाना जाता है और स्वभाव विप्रकृष्ट-चैतन्य का मृत शरीर में सत्त्वाभाव का जो ज्ञान होता है वह व्यापार और आकार-विशेष के अभाव से जाना जाता है। अत: देशादि से विप्रकृष्ट अर्थ-संबंधी जो अभाव है उसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से हो जाता है।

मीमांसकों ने अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में भूतलादि आश्रय के ग्रहण रूप जो सामग्री बतलायी है, वह तो प्रत्यक्ष में भी समान रूप से पायी जाती है; क्योंकि इस भूतल में घट है ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान भूतलरूप आश्रय के ग्रहण बिना नहीं होता है। तथा आश्रय के ग्रहणपूर्वक ही अभाव का ज्ञान होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। अंधकार में प्रदीपाभाव व यहाँ शब्द नहीं है, ऐसे शब्द के अभाव की जो प्रतिपत्ति होती है, वह आश्रय के ग्रहण बिना ही हो जाती है।

इसी प्रकार किसी पदार्थ के अभाव की प्रतिपत्ति के लिए प्रतियोगी पदार्थ का स्मरण भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि घटरहित भूतल का प्रत्यक्ष होने पर प्रतियोगी के स्मरण के बिना भी प्रत्यक्ष से ही भावांश (भूतल) की तरह अभावांश (घटाभाव) का भी ज्ञान हो जाता है। तथा अभाव प्रमाण के विषय व फल को प्रत्यक्षादि से भिन्न बतलाना भी युक्तियुक्त नहीं है। जिस घटाभाव को अभाव प्रमाण का विषय बतलाया गया है, वह प्रत्यक्ष का ही विषय है और प्रत्यक्ष के द्वारा ही उसका ग्रहण होता है। इसी प्रकार अभाव की अधिगति को जिसे अभाव प्रमाण का फल बतलाया गया है वह भी प्रत्यक्षादि का ही फल है।[84]

यह कहना भी प्रामाणिक नहीं कि वस्तु के भावांश को प्रत्यक्षादि प्रमाण जानता है और अभावांश को अभाव प्रमाण जानता है, क्योंकि सभी प्रमाण सदैव ही सद्-असद् दोनों स्वरूप वाली अन्तर-बाह्य वस्तु को जानते हैं यदि ऐसा जानना न हो तो उसके अभाव होने का प्रसंग प्राप्त होगा।[85]

इसके अतिरिक्त, मीमांसकों का मानना है कि अभाव अवस्तु नहीं है, किन्तु वस्तु है तो यह बात उसी अभाव के विषय में ठीक हैं जो अभाव वस्तु का धर्म है, परन्तु सर्वथा तुच्छाभाव रूप जो अभाव है जैसे - 'गगनकुसुम' वह अवस्तु ही है, वस्तु नहीं। अत: मीमांसा सम्मत अभाव भी तुच्छाभाव होने के कारण अवस्तु ही है। तथा प्रमेय का जो परिच्छेदक होता है उसमें प्रामाण्य माना जाता है, किन्तु जो स्वरूप से ही असिद्ध है वह न तो किसी का परिच्छेदक होता है और न उसमें प्रमाण्य होता है। परिच्छेदकता जो ज्ञान का धर्म है, वह अश्वविषाण के समान अभाव का धर्म कैसे हो सकता है ? अत: मीमांसकों ने अभाव प्रमाण का जो स्वरूप, सामग्री, विषय और फल माना है, वह सब सिद्ध नहीं होता है।[86]

(स) मीमांसकाभिमत अभाव के भेदों का खण्डन -

मीमांसकों ने प्रागभाव आदि अभाव के जो भेद माने हैं वे केवल कथन मात्र हैं, क्योंकि अपने-अपने स्वभाव में स्थित जो भाव हैं वे अपने कारण समूह से उत्पन्न हुए हैं, वे अपने को अन्य से मिश्रित नहीं करते, अन्यथा वे भी अन्य किसी पर से मिश्रित

होंगे ? पर से व्यावृंति स्वरूप वाले पदार्थों का अभावांश उनसे भिन्न नहीं रहता है, उन्हीं में रहता है। यदि पदार्थों का अभावांश भिन्न रहना संभव हो तो वह परपदार्थ ही होगा ? फिर वह पर पदार्थ भी सद्भाव रूप होगा, अत: वहाँ से उस अभाव को हटाना पड़ेगा। इस तरह से तो अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी। इस अनवस्था दोष से बचने के लिए पदार्थ को किसी से व्यावृत स्वरूप नहीं माना जाए तो सारा विश्व एकस्वभाववाला हो जाएगा।[87]

अतएव भाव से भिन्न अभाव की स्वतंत्र सत्ता किसी भी प्रकार से मान्य नहीं हो सकती है। यदि अभाव को स्वतंत्र पदार्थ माना जाये तो उसके भेदों की भी स्वतंत्र सत्ता होगी, जिनको मानने से अनेकानेक दोष उत्पन्न होंगे। एतद् विषयक विस्तार से वर्णन प्रमेयकमलमार्तण्ड में द्दष्टव्य है।[88]

प्राभाकर मीमांसक अभाव को अधिकरण स्वरूप मानते हैं। यह भी न्यायसंगत व युक्तिसंगत नहीं है। अभाव स्वयं आधेय होने से अधिकरण नहीं माना जा सकता है। आधेय वस्तु में एक सद्भाव रूप धर्म है और अधिकरण आधेय को अधोगति से बचाता है, किन्तु ऐसा धर्म अभाव में नहीं है। अतएव अभाव की ऐसी धारणा मान्य नहीं हो सकती।

(द) बौद्धाभिमत अभाव की अवधारणा का खण्डन -

बौद्धों की यह मान्यता ठीक नहीं है कि अभाव भाव रूप है तथा भाव स्वरूप से व्यतिरिक्त व अन्य कोई अभाव नहीं है। यथार्थ में अभाव, भावस्वरूप से व्यतिरिक्त है। प्रतीति भेद से, स्वरूप भेद से, सामग्री भेद से और अर्थक्रिया भेद से भाव तथा अभाव में भेद की सिद्धि होती है।

1. प्रतीति भेद - जिस प्रदार्थ का जिस पदार्थ से प्रतीति आदि के द्वारा भेद प्रतीत होता है उसका उससे भेद सिद्ध हो जाता है, जैसे घट का पट से भेद। भाव से अभाव में प्रतीति आदि का भेद सर्वजन प्रसिद्ध है। 'यहाँ यह है और यहाँ यह नहीं है,' ऐसा भाव और अभाव में प्रतीति भेद सबके अनुभव में आता है।

2. स्वरूपभेद - स्वरूपभेद के कारण भी भाव और अभाव में भेद सिद्ध हो जाता है। भाव का स्वरूप है - अपने स्वरूप को प्रदर्शित करना और अभाव का स्वरूप है - भाव का प्रतिषेध करना। यदि स्वरूपभेद होने पर भी भाव और अभाव में अभेद माना जाए तो फिर सर्वत्र भेदवार्ता के उच्छेद का प्रसंग आएगा।

3. सामग्री भेद - सामग्री के भेद से भी भाव और अभाव में भेद सुप्रसिद्ध है जो व्यक्ति घट को उत्पन्न करना चाहता है वह घट के उत्पादन के अनुकूल मृत्पिण्डादि सामग्री का उपादान करता है और जो घट का अभाव (विनाश) करना चाहता है वह मुद्गरादि सामग्री का अवलंबन लेता है। इससे सिद्ध होता है कि घट के सद्भाव की सामग्री और घट के अभाव की सामग्री भिन्न-भिन्न है।

4. अर्थक्रिया भेद - भाव और अभाव में प्रवृति व निवृतिरूप अर्थक्रियाभेद भी पाया जाता है। घट के इच्छुक जन को घट का सद्भाव प्रवृति का हेतु होता है और घट का अभाव निवृति का हेतु होता है। प्रमोद आदि अर्थक्रिया के कारण भी भाव और अभाव में भेद सिद्ध होता है।

अभाव को अवस्तु कहना भी ठीक नहीं है। निम्नलिखित हेतुओं से अभाव को वस्तु सिद्ध किया जा सकता है। अभाव वस्तु है, क्योंकि वह प्रमाण से प्रतीयमान होता है। जो भी प्रमाण से प्रतीयमान होता है वह वस्तु है, जैसे - भाव। तथा जो कारण से उत्पन्न होता है वह वस्तु है, जैसे घटादि। अभाव भी कारण से उत्पन्न होने के कारण वस्तु है। जो अर्थ क्रियाकारी होता है वह वस्तु है, जैसे - प्रदीप। अभाव भी अर्थक्रियाकारी होता है अत: वह वस्तु है तथा जिसमें अवान्तर भेद के कारण भेद होता है वह वस्तु है, जैसे - रूपरसादि। अभाव में भी प्रागभाव आदि के भेद से भेद पाया जाता है, इस कारण भी अभाव वस्तु है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भाव की तरह अभाव भी वास्तविक वस्तु धर्म व प्रमेय है तथा अभाव का परिच्छेदक प्रत्यक्षादि से पृथक् कोई अभाव प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि के द्वारा ही अभाव का परिच्छेद हो जाता है।[89]

इस प्रकार विभिन्न भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में अभाव की अवधारणा पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि न्याय-वैशेषिक व मीमांसा (भाट्ट) दर्शन में अभाव की पदार्थ के रूप में मान्यता युक्तिसंगत न होने से निरस्त हो जाती है और जब वह पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता है तो उसके भेदों के औचित्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। मीमांसकों (भाट्ट) ने अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण का विषय बतलाया जो किसी भी प्रकार से उस प्रमाण का विषय सिद्ध नहीं होता है। प्राभाकर (मीमांसक) द्वारा अभाव को अधिकरण स्वरूप मानना एवं बौद्धों का अभाव-भाव स्वरूप से व्यतिरिक्त नहीं है, ऐसी मान्यता अपने स्वरूप से ही अप्रमाणिक सिद्ध हो जाती है। परन्तु जैनदर्शन में मान्य अभाव कथंचित् वस्तु का सद्भावरूप धर्म होने से प्रमाण व युक्ति की कसौटी पर खरा उतरता है, क्योंकि वस्तु कथंचित् भाव व कथंचित् अभाव स्वरूप दोनों है। सर्वथा भावैकान्त या अभावैकान्त दोनों ही अप्रमाणिक होने से वस्तु की निर्दोष व्यवस्था संभव नहीं हो सकती है। साथ ही, सर्वथा भावाभावात्मक वस्तु की सत्ता भी किसी प्रकार संभव नहीं हो सकती है। अत: अभाव को वस्तु का कथंचित् धर्म मानने पर ही उसकी निर्दोष सत्ता प्रमाणित हो सकती है एवं विश्व की निर्दोष, स्वतंत्र व सम्यक् व्यवस्था कायम रह सकती है।

7. अभाव-मीमांसा द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि :-

निमित्तोपादान, कर्ताकर्म, षट्कारक, क्रमबद्धपर्याय व अहिंसा आदि भाव रूप सिद्धान्त ही वस्तु की स्वतंत्रता का प्रतिपादन नहीं करते, बल्कि नास्तिपक्ष से युक्त अभाव सिद्धान्त भी वस्तुस्वातंत्र्य को प्ररूपित करता है।

चूँकि जैनदर्शन का प्रत्येक सिद्धान्त अनेकान्तवाद के मूलभूत धरातल पर आधारित है, अतएव अभाव सिद्धान्त भी इससे अछूता या परे नहीं है। जैनदर्शन में मान्य वस्तु न तो सर्वथा भावरूप है और न सर्वथा अभावरूप है, बल्कि कथंचित् भावा-अभावात्मक है और यह भावान्तर स्वभाव रूप अभाव सिद्धान्त वस्तुस्वातंत्र्य का किस प्रकार पोषक है यह उसके प्रागभाव आदि भेदों के स्वरूप में काफी हद तक स्पष्ट हो जाता है। इनके भेदों के स्पष्टीकरण के दौरान इस पर भी संक्षिप्त प्रकाश डाला

गया है कि प्रथम तीन अभाव प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव व अन्योन्याभाव वस्तु के पर्याय स्वभाव पर लागू होते हैं और ये पर्याय की स्वतंत्रता का प्रगटीकरण करते हैं और अंतिम अभाव अत्यंताभाव द्रव्यों पर लागू होता है एवं द्रव्य की स्वतंत्रता को प्रकट करता है। अत: 'अभाव' जैनदर्शन का एक ऐसा सिद्धान्त है जो कि द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक सम्पूर्ण वस्तु की स्वतंत्रता का प्रतिपादन करता है। एतावता वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि में चतुर्विध अभावों की संकल्पना का विनियोग इस प्रकार दिखाया जा सकता है -

(अ) प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव -

यह पूर्वविदित है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक गुण की प्रतिसमय एक पर्याय प्रगट होती है तथा वह एक समयवर्ती जीवनकाल को व्यतीत कर नष्ट हो जाती है। उस एक समयवर्ती पर्याय का उसकी निकटतम भूत (अनंतरपूर्वक्षणवर्ती) व निकटतम भावी (अनंतर- उत्तरक्षणवर्ती) पर्याय में अभाव क्रमश: प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव माना गया है। ये दोनों अभाव इस बात का ज्ञान कराते हैं कि एक समयवर्ती वर्तमान पर्याय का सद्भाव या अस्तित्व मात्र वर्तमान समय में ही है, वर्तमान पर्याय में ही है, किन्तु उसका निकटतम भूत व भावी पर्याय में उसकी उपस्थिति न होने से उसके द्वारा उनका कुछ भी अच्छा-बुरा करने, सहायरूप करने आदि के लिए कुछ भी अवकाश ही नहीं रह जाता। अत: वर्तमान पर्याय न तो अपनी भूत व भावी एकक्षणवर्ती पर्यायों में कुछ भी परिवर्तन व हस्तक्षेप कर सकती है और न ही एकक्षणवर्ती भूत व भावी पर्यायें वर्तमान पर्याय में परिवर्तन व हस्तक्षेप कर सकती हैं। अत: प्रत्येक द्रव्य की एक समयवर्ती वर्तमान पर्याय पूर्ण स्वतंत्र व सत् है, उसमें उसी द्रव्य में एकक्षण पूर्व में हो चुकी व एक क्षण पश्चात् होने वाली पर्याय का किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप नहीं है। इस प्रकार प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव वर्तमान पर्याय की स्वतंत्रता का प्रकटीकरण कर वस्तुस्वातंत्र्य का पोषण करते हैं, उसकी सिद्धि करते हैं।

(ब) अन्योन्याभाव :-

पूर्व में अन्योन्याभाव के स्वरूप के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि यह प्रत्येक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का, उसकी एकक्षणपूर्ववर्ती व एकक्षणउत्तरवर्ती पर्यायों को छोड़कर उसकी शेष समस्त भूत व भावी पर्यायों से भिन्नता का ज्ञान कराता है। प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव केवल वर्तमान पर्याय का उसकी एकक्षणपूर्ववर्ती व एक क्षणपश्चात्वर्ती पर्यायों से स्वतंत्रता का परिज्ञान कराते हैं जबकि अन्योन्याभाव वर्तमान पर्याय को (एकक्षणपूर्ववर्ती व एकक्षणपश्चात्वर्ती पर्याय को छोड़कर) उसकी शेष भूतवर्ती व भविष्यवर्ती समस्त पर्यायों से स्वतंत्रता का ज्ञान कराता है। इस प्रकार अन्योन्याभाव वर्तमान पर्याय को शेषभूत व शेष भविष्य की पर्यायों से भिन्न बतलाकर पर्याय की स्वतंत्रता को सिद्ध कर वस्तुस्वातंत्र्य की पुष्टि करता है।

इस प्रकार तीनों अभाव पर्यायगत स्वतंत्रता का प्रतिपादन कर वस्तुस्वातंत्र्य को सिद्ध करते हैं और इस तथ्य का प्रगटीकरण करते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणमन में कुछ भी हस्तक्षेप कर सकता है यह तो बहुत दूर की बात है, लेकिन एक द्रव्य में प्रतिसमय होने वाली पर्यायों का भी एक दूसरे में अभाव होने से वे एक दूसरे के परिणमन किंचित् हस्तक्षेप करने मात्र में असमर्थ हैं या हस्तक्षेप नहीं कर सकती हैं।

(स) अत्यंताभाव :-

उपरोक्त तीनों अभावों से भिन्न अत्यंताभाव एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव बतलाकर प्रत्येक द्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व को कायम रखता है। प्रत्येक द्रव्य सदा एकत्वस्वरूप में रहता है, अपने स्वभाव को वह कभी-भी नहीं छोड़ता है, अपना स्वभाव छोड़े बिना तथा अन्यरूप हुए बिना अन्य का किचिंत् कार्य करना कदापि संभव नहीं है। अत: एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता नहीं है, क्योंकि आपस में अत्यंताभाव है। अत: इसको जानने से दूसरा मेरा बुरा कर देंगे, ऐसा अनंतभय निकल जाता है एवं 'दूसरा मेरा भला कर देंगे' ऐसी परमुखापेक्षिता की वृत्ति निर्मूल हो जाती है; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे की किंचित् मात्र भी प्रेरणा, मदद, सहायता या कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता। इस प्रकार अत्यंताभाव प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को बतलाकर वस्तुस्वातंत्र्य को सिद्ध करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में मान्य अभाव सिद्धान्त द्रव्यगत व पर्यायगत सम्पूर्ण वस्तु की स्वतंत्रता का प्रतिपादन कर वस्तुस्वातंत्र्य को सिद्ध करता है।

सन्दर्भ - सूची

(1) (क) धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसम्।
वैशेषिक सूत्र 1/1/4.

(ख) (i) क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात् प्रागसत्। (9, 1, 1).
(ii) सदसत् (9, 1, 2).
(iii) असत: क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् (9, 1, 3).
(iv) सच्चासत् (9, 1, 4).
(v) यच्चान्यदसतस्तदसत् (9, 1, 5).
वैशेषिक सूत्र.

(ग) गगनदेवगिरि : भारतीय दर्शन, खण्ड-2, पृ. 136

(घ) डॉ. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, खण्ड-2, 177-178.

(2) डॉ. एस. एन. दासगुप्त : भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 1, पृ. 292.

(3) डॉ. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, खण्ड-2, पृ. 177-178.

(4) डॉ. नंद किशोरदेवराज : भारतीय दर्शन, पृ. 322.

(5) संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 663.

(6) डॉ. श्रीनारायण मिश्र : वैशेषिक दर्शन - एक अध्ययन, पृ. 10.

(7) (क) षण्णापि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि।
पदार्थधर्मसंग्रह, पृ. 16.

(ख) डॉ. महेश भारतीय : भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्यायें, पृ. 233.

(8) डॉ. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, खण्ड 2, पृ. 179.

(9) (क) एते च पदार्था : प्रधानत योद्दिष्टा अभावस्तु स्वरूपवानापि नोद्दष्टि प्रतियोगिनिरूपणाधीन न तु तुच्छवात्। किरणावली, पृ. 4-5.
द्वारा - डॉ. विश्वम्भरनाथ पाहि : वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, पृ. 123.

(10) पृ. 288.

(11) (क) डॉ. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, खण्ड 2, पृ. 184.

(ख) प्रशस्तपाद केवल छह पदार्थों का प्रतिपादन करता है। सप्तगुणी योजना शिवादित्य के समय तक स्थापित हो चुकी थी ; जैसा कि 'सप्तपदार्थी' नामक ग्रंथ के शीर्षक से प्रगट होता है। शंकर और हरिभद्र (षड्दर्शनसमुच्चय, 60) वैशेषिक के अन्दर छह पदार्थ ही बताते हैं। देखिए शांकरभाष्य 2:2, 17 और यूईकृत वैशेषिक फिलासफी, पृ. 12.वही, पृ. 184 (पाद टिप्पणी-2).

(12) डॉ. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, खण्ड 2, पृ. 180.

(13) डॉ. एस. एन. दासगुप्त : भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 1, पृ. 292.

(14) वही, पृ. 280 (पाद टिप्पणी - 5).

(15) Dr. D.N. Shastri : Critique of Indian Realism, P. 117 and 398.

(16) Karl H. Potter : Ehcyclopaedia of Indian philosophies, Vol - II, P. 143.

(17) वही, पृ. 9.

(18) डॉ. महेश भारतीय : भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्यायें, पृ. 233.

(19) वही, पृ. 233.

(20) देखिए - डॉ. श्रीनारायण मिश्र : वैशेषिक दर्शन - एक अध्ययन, पृ. 228-231.

(21) डॉ. नंदकिशोर देवराज (संपा.) : भारतीय दर्शन, पृ. 345.

(22) (क) आप्तमीमांसा, प्रस्तावना पृ. 1.
(ख) प्रो. उदयचंद जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 35.

(23) क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4, पृ. 327.

(24) प्रो उदयचंद जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 45.

(25) अकलंकग्रंथत्रयम्, प्रस्तावना पृ. 32.

(26) दरबारीलाल जैन कोठिया (संपा + अनु.) : आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना पृ. 51.

(27) षण्णामपि पदार्थानांस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि ।
पदार्थधर्मसंग्रह, पृ. 16.

(28) डॉ. बी. एन. सिंह : वैशेषिक दर्शन - तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 172.

(29) डॉ. दीनानाथ शुक्ल : भारतीय दर्शन परिभाषा कोश, पृ. 23.

(30) तर्कभाषा, पृ. 250.

(31) यत्र भूत्वा किंचिन्न भवति तत्र तस्याभाव उपपद्यते ।
न्यायसूत्र भाष्य 2/2/10/110.

(32) (क) "अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदत:" ।
कारिकावली, कारिका 12.
(ख) स च अभाव: संक्षेपतो द्विविध: - संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्चेति ।
तर्कभाषा, पृ. 250.

(33) (क) प्रागभावस्तथा ध्वंसाऽप्यअत्यन्ताभाव एव च ।
एवं त्रैविध्यमापन्न: संसर्गाभाव इष्यते ।
कारिकावली, कारिका 12 व 13.
(ii) संसर्गाभाव त्रिविध: - प्रागभाव: प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति ।
तर्कभाषा, पृ. 250.

(34) तर्कभाषा, पृ. 251.

(35) अनादि सान्त: प्रागभाव: ।
तर्कसंग्रह, पृ. 178.

(36) (क) उत्पन्नस्य कारणेऽभाव: प्रध्वंसाभाव: । प्रध्वंसो विनाश इति यावत् । यथा भग्ने घटे कपालमालायां घटाभाव: । स च मुद्गर प्रहारादिजन्य: । स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी, नष्टस्य कार्यस्य पुनरनुत्पत्ते:।तर्कभाषा, पृ. 251.

(ख) सादिरनन्त: प्रध्वंस: उत्पत्यनन्तरं कार्यस्य । तर्कसंग्रह, पृ. 178.

(37) (क) त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभाव: । वही, पृ. 178

(ख) त्रैकालिकोऽभावोत्यन्ताभाव: ।
तर्कभाषा, पृ. 251

(38) तर्कसंग्रह, पृ. 178.

(39) प्रमाणपच्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थ तत्राभाव प्रमाणता ॥
मीमांसाश्लोकवार्तिक (अभाव प्रमाण्यवाद), श्लोक 1.

(40) (क) अभावो चि प्रमाणाभावो नास्तीत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य ।
शाबरभाष्य, सूत्र 1/1/5.

(ख) गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽसानपेक्षया ॥
मीमांसाश्लोकवार्तिक (अभावप्रामाण्यवाद), श्लोक 27.

(41) न तावदिन्द्रियर्पणा नास्तीत्युपाद्यते मति: ।
भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्थ हि ॥ वही, श्लोक 18.

* अभावरूप वस्तु का किसी के साथ अविनाभाव नहीं हो सकता । अत: वह हेतु और प्रतिज्ञारूप अनुमानप्रमाण द्वारा अभाव का ग्रहण अशक्य है ।

(42) न च स्याद्वयवहारोयं कारणादिविभागत: ।
प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते ॥ वही, श्लोक 7.

(43) वस्तत्वऽसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यं समाश्रिता ।
क्षीरे दहयादि यन्नास्ति प्रागभाव: स उच्यते ॥ वही, श्लोक 2.

(44) नास्तिता पयसो दहिन प्रध्वंसाभावलक्षणम् ।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोन्योन्याभाव उच्यते ॥ वही, श्लोक 3.

(45) शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिता: ।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥ वही, श्लोक 4.

(46) क्षीरे दधि भवेदेवं दहिनं क्षीरं घटे पट: ।
शशे शृङ्गं पृथित्यादौ चैतन्यं मूर्तितात्मनि ॥
मीमांसा श्लोकवार्तिक (अभाव प्रामाण्यवाद), श्लोक 5.

(47) कथंचित्भावापहन्वाभावत् ।
अष्टसहस्त्री, भाग-2, पृ. 81.

* स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव.

* परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव.

(48) धवला, पुस्तक 7, खण्ड 2, भाग 9, सूत्र 4.

(49) राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 2, सूत्र 8.

(50) धवला, पुस्तक 7, खण्ड 2, भाग 9, सूत्र 4.

(51) राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 2, सूत्र 8.

(52) नय बुद्धिवशादभावौदासीन्येन भावस्य, तदौदासीन्येन चाभावस्य प्रधान्यसमर्पणे पर्युदासप्रसज्योर्विशेषस्य विकल्पनात् ।न्यायविनिश्चय वृति 2/123.

(53) प्रवचनसार, गाथा 100 की तात्पर्यवृत्ति टीका.

(54) न हि वयमपि भावादर्थान्तरमेवाभावं संगिरामहे, तस्य नीरुपत्वप्रसङ्गात, नास्तीतिप्रत्यय-जनकत्वरूपसद्भावादभावस्व नीरुपत्वाभावोपगमे तस्य भावस्यभावत्वसिद्धे: .....
नास्तित्वस्य वस्तुधर्म- त्वादस्तित्ववत् ।
अष्टसहस्त्री, भाग - 2, पृ. 82.

(55) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 117, पृ. 27.

(56) (क) प्रागभाव: प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभावोत्यन्ताभावश्चेति चत्वारोऽभावा: । अष्टसहस्त्री, भाग-2, पृ. 76.

(ख) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 118, पृ. 27.

(57) जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला, भाग 1, पृ. 199.

(58) कारिका 11 की टीका, पृ. 109.

(59) अष्टसहस्त्री, भाग-2, पृ. 76.

(60) कार्यस्यात्मलाभात्प्रागऽभवनं प्रागभाव: । कार्यात् प्राक्अनंतर पर्यायस्तस्य प्रागभाव: ॥ अष्टसहस्त्री, भाग 2, कारिका 10 की टीका, पृ. 97.

(61) अष्टसहस्त्री मूल, पृ. 109.

(62) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 120, पृ. 28.

(63) अप्टसहस्त्री, भाग 2, कारिका 11 की टीका, पृ. 109.

(64) न चेतरेतराभावस्याभावे भावे च कार्यस्योत्पत्ति विपत्तिर्वाजलस्याभावेप्यन-लस्यानुत्पत्ते: । वही. पृ. 109.

(65) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 121, पृ. 28.

(66) अष्टसहस्त्री, कारिका 11 की टीका, पृ. 109.

(67) वही, पृ. 109.

(68) अष्टसहस्त्री, भाग-2, पृ. 77.

(69) डॉ. उज्जवला शहा : कारण-कार्यरहस्य, पृ. 49.

(70) "तत: सूक्तमन्यापोहलक्षणं स्वभावान्तरात्स्वभावत्यावृतिरन्यापोह इति तस्य कालत्रयापेक्षेऽत्यन्ता-भावेप्यभावा दतिव्याप्ययोगात् । न हि घटपटयोरितरेतरा-भाव: कालत्रयापेक्ष: कदाचित्पटस्यापि घटत्वपरिणामसंभवात् तथा परिणामकारण साकल्ये तद्विरोधात् पुद्गलपरिणामनियमदर्शनात् । न चैवं चेतनाचेतनयो: कदाचित्तादात्म्य परिणाम:, तत्त्वविरोधात् ।"

अष्टसहस्त्री, भाग 2 पृ. 182.

(71) आप्तमीमांसा, कारिका 11 का भावार्थ, पृ. 17.

(72) भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपहन्वात् ।.
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥
आप्तमीमांसा, कारिका 9.

(73) कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभास्य निहन्वे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्नंता व्रजेत ॥
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यति क्रमे ।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥
आप्तमीमांसा, कारिका 10-11.

(74) (क) प्रो. उदयचंद जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 106.

(ख) विशेष द्दष्टव्य है - अष्टसहस्त्री, भाग-2, कारिका 9-10-11 की टीका ।

(75) युक्त्यनुशासन, कारिका 59.

(76) डॉ. हुकमचंद भारिल्ल: परमभाव प्रकाशक नयचक्र, पृ. 286.

(77) सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
आप्तमीमांसा, कारिका 15.

(78) अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात् साधर्म्यं यथाभेदविवक्षया ॥
वही, कारिका 17.

(79) प्रो. उदयचंद जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 161-165

(80) नास्तत्वं प्रतिष्ध्येनाविनाभाव्येक धर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वेधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ॥
आप्तमीमांसा, कारिका 18

(81) सर्वस्य वागर्थस्य विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्, न हि कच्चिद्वस्तु सर्वनिषेधगम्यस्ति ।... तथा चोक्तम्-अस्तित्वमुपलब्धिश्च कथंचित्सत: स्मृते: । नास्तितानुपलब्धिश्च कथंचित्सत एव ते ॥1॥ सर्वर्थेव सतो नेमौ धर्मो सर्वात्मदोषत: । सर्वथैवाऽसतो नेमौ वाचां गोचरताऽत्ययात् ॥2॥ नास्तित्वा-प्रत्यक्षत्वाभ्यामपि रहितं । तदवस्त्विति धर्म्यसिद्धिश्च ।
राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 2, सूत्र 8.

(82) डॉ. रमाकांत त्रिपाठी, 'अभाव', 'भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्यायें' परिसंवाद से तैयार, पृ. 75, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर.

(83) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 1, पृ. 586.
* **विप्रकृष्ट पदार्थ** - जिनका देश कालादि दूर हो ऐसे पदार्थ ।
* **अविप्रकृष्ट पदार्थ** - जिनका देशकालादि निकट हो ऐसे पदार्थ ।

(84) प्रो. उदयचंद जैन : न्यायकुमुदचंद्र परिशीलन, पृ. 263-264.

(85) एतेनैतदपि प्रत्युक्तम् "स्वरूपपररूपाभ्याम्" इत्यादि, सर्वे सर्वदोभय रूपस्यैवान्तर्बहिर्वाऽर्थस्य प्रतिसंवेदनात्, अन्यथा तद्भाव प्रसंगात् ।
प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 1, पृ. 563.

(86) प्रो. उदयचंद जैन : न्यायकुमुदचंद्र परिशीलन, पृ. 263-264.

(87) 'प्रागभावादिभेदाचचतुर्विधश्चाभाव:' इत्यादि तदप्यभिधानमात्रम्, यत: स्वकारण कलापात्स्वस्वभाव्य वस्थितयो भावा: समुत्पन्ना नात्मानं परेण मिश्रयन्तितस्यापरत्व प्रसंगात् । न चान्यतोऽभ्या (तो त्या) व्रतस्वरूपाणां तेषां भिन्नोऽभावांश: सम्भवति । भावे वा तस्यापि पररूपत्वाद्भावेन ततोपि व्यावर्तितव्यमित्यपरापराभाव-परिकल्पनयानवस्था । अतो न कुतश्चिद्भावेन व्यावर्तितव्यमित्येक स्वभावं विश्वं भवेत् ।
प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग. 1, पृ. 586.

(88) वही, भाग 1, पृ. 565-586.

(89) प्रो. उदयचंद जैन : न्यायकुमुदचंद्र परिशीलन, पृ. 266-267.

अध्याय - पाँच

कर्तृ-कर्म मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1 अध्याय का प्रतिपाद्य विषय
2 कर्तृ-कर्म मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य
3 कर्तृ-कर्म मीमांसा की दार्शनिक पृष्ठभूमि
4 कर्ता-कर्म का स्वरूप
(क) कर्ता का स्वरूप व भेद
(ख) कर्म का स्वरूप
(ग) कर्म के भेद
5 व्याप्य - व्यापक संबंध
6 वस्तु का परिणामी-परिणाम सम्बन्ध ही उसका कर्ता-कर्म सम्बन्ध है
7 ईश्वरवादी दर्शनों में मान्य जगत् कर्तृत्व की अवधारणा
(क) ईश्वरवादी दर्शनों में मान्य जगत् कर्तृत्व की अवधारणा की समीक्षा
8 सांख्यदर्शन प्रणीत जगत् व्यवस्था
(क) सांख्य दर्शन प्रणीत प्रकृति-कर्तृत्व का जैनदर्शन सम्मत खण्डन
9 सेश्वर सांख्य अथवा योगदर्शन में मान्य जगत् व्यवस्था एवं उसका खण्डन
10 कर्तृ-कर्म मीमांसा के द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि

कर्तृ-कर्म मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1. अध्याय का प्रतिपाद्य विषय :-

इस अध्याय के अन्तर्गत कर्तृ-कर्म मीमांसा व वस्तुस्वातंत्र्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला जाएगा। तत्पश्चात् अध्याय की भूमिका, कर्ता-कर्म का स्वरूप, भेद, व्याप्य-व्यापक भाव, परिणाम-परिणामी सम्बन्ध तथा जीव का अपने से भिन्न शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिभावकर्म व शुद्धपर्यायों के साथ कर्तृत्व व अकर्तृत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा।

उसके पश्चात् इस तथ्य का प्रतिपादन किया जाएगा कि आत्मा कथंचित् कर्ता व कथंचित् अकर्ता है। अन्यमतावलंबियों की तरह सर्वथा कर्ता अथवा सर्वथा अकर्ता नहीं है।

इसके तदन्तर ईश्वर कर्तृत्व व प्रकृतिकर्तृत्व पर आधारित जगत् व्यवस्था का विवेचन व उसका समालोचनात्मक अध्ययन किया जाएगा और जगत् के अनादिनिधन स्वभाव की तर्क-युक्तिपरक सिद्धि की जाएगी। अंत में कर्ता-कर्म सिद्धान्त में वस्तुस्वातंत्र्य कैसे अन्तर्निहित है अथवा यह सिद्धान्त वस्तुस्वातंत्र्य का प्रतिपादन किस प्रकार करता है इसका विवेचन किया जाएगा।

2. कर्तृ-कर्म मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य :-

कर्तृ-कर्म मीमांसा सभी धर्मों, दर्शनों एवं आचारशास्त्रों का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। एतद् विषयक जैनधर्म-दर्शन के विचार कुछ विशिष्ट हैं। सामान्यत: कर्तावाद का तात्पर्य - एक पदार्थ को दूसरे पदार्थों का कर्ता मानना और परपदार्थ के कार्य को अपना किया हुआ कर्म मानना। लेकिन जैनदर्शन परकर्तृत्व को पूर्णत: अस्वीकृत करता है और यह प्रतिपादित करता है कि किसी सर्वशक्तिमान परम सत्ता के द्वारा विश्व का कर्तृत्व तो बहुत दूर की बात है, एक द्रव्य अन्य द्रव्य के कार्य का भी कर्ता कदापि नहीं हो सकता। वह केवल अपने परिणाम का ही कर्ता हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने ही पर्याय का कर्ता है और वही पर्याय उसका कर्म है। न तो अन्य कोई उसका कर्ता है और न अन्य कोई उसका कर्म है। कर्ता-कर्म के इस सिद्धान्त को पर की अपेक्षा (नास्ति से) अकर्तावाद भी कहा जाता है।

किसी भी कार्य के चार कर्ता कहे जाते हैं - (अ) भिन्न द्रव्यरूप निमित्त कर्ता (ब) त्रिकाली उपादान रूप द्रव्य स्वयं कर्ता (स) क्षणिक उपादान रूप अनंतरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय कर्ता (द) क्षणिक उपादान रूप तत्समय पर्याय की योग्यता कर्ता।

वस्तुव्यवस्था में परद्रव्य के कर्तृत्व को स्वीकार करने की किंचित्मात्र भी गुंजाइश नहीं है। 'य: परिणमति स कर्ता' आचार्य अमृतचन्द्र की इस परिभाषा के अनुसार एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्य-रूप परिणमन कर ही नहीं सकता। इसलिए एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता बनने का अवकाश ही नहीं है। लोक व्यवहार में 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता है' ऐसा आरोपित कथन किया जाता है अथवा निमित्त कर्ता में कर्ता का आरोप करके कर्ता कहने की पद्धति अवश्य प्रचलित है, किन्तु कथन मात्र से वह कर्ता नहीं बन जाता है।

त्रिकाली उपादान को भी कर्ता कहा जाता है, परन्तु वह तो परद्रव्यरूप निमित्त का निषेध करके जिस द्रव्य में कार्य हुआ उसका ज्ञान कराने के लिए कर्ता कहा जाता है। वास्तव में, कर्ता त्रिकाली हो, कार्य एक समय का हो - ऐसा कर्ता-कर्म संबंध नहीं होता। जैसा कर्ता होता है, वैसा ही कार्य होता है। अनंतरपूर्वक्षणवर्ती क्षणिक उपादान रूप पर्याय को कर्ता कहा जाता है वह भी यह ज्ञान कराने के लिए कहा जाता है कि कार्य होने के ठीक पहले किस पर्याय का अभाव हुआ है। यह पर्याय तो अभावरूप है, व्ययरूप है, तथा किसी अभाव में से सद्भाव की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिए यह पर्याय भी वास्तव में कार्य की कर्ता नहीं है।

अतएव यह निष्कर्ष फलित होता है कि जो कार्य हुआ उसका कर्ता न तो कोई अन्य द्रव्य है और न स्वद्रव्य है, न अनंतरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय है। अत: परिशेष न्याय से यह सिद्ध होता है कि जो कार्य हुआ उसका कर्ता वह पर्याय स्वयं ही है। इस प्रकार इस सिद्धान्त से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने परिणाम की जनक होने से पूर्णत: स्वतंत्र व स्वसहाय है। उसमें अन्य द्रव्य का किचिंत्मात्र भी हस्तक्षेप संभव नहीं है अत: कर्तृ-कर्म मीमांसा का निहितार्थ वस्तुस्वातंत्र्य है।

3. कर्तृ-कर्म मीमांसा की दार्शनिक पृष्ठभूमि :-

कालिदास की 'भिन्नरुचिर्हि लोक:' इस सूक्ति के अनुसार सभी लोगों की रुचि के अनुसार विभिन्न मतवादियों ने 'यावज्जीवा: तावन्मता:' इस सूक्ति को चरितार्थ करते हुए यथेष्ट मत प्रस्तुत किये हैं। यथा - रामभक्त कहते हैं 'होइहें वही जो रामरुचि राखा।' अल्लाहभक्त कहते हैं - 'अल्लाह की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता' तथा वही होता है जो मंजूरे खुदा होता है। कृष्ण मतानुवर्ती कहते हैं * - ''मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्।'' ब्रह्मानुयायी कहते हैं * - ''यज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन: सुख-दु:खयो। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।''

उपर्युक्त सभी मतों में एक द्रव्य (ईश्वर) को दूसरे द्रव्य (जगत्) का कर्ता बताया गया है। कर्ता की परिभाषा ''य: परिणमति स कर्ता'' के अनुसार एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता मानने पर, एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य रूप में परिणमित होना पड़ेगा जिससे सर्वशंकरदोष (सब द्रव्य मिलकर एक हो जाने) का प्रसंग आएगा।

जैनदर्शन में मान्य कर्ता-कर्म की अवधारणा अन्य दर्शनों की तरह दोषयुक्त नहीं है। वह तो वस्तुगत होने से अकाट्य, अनादिनिधन, स्वाधीन, स्वतंत्र, स्वावलम्बी, स्वयं संचालित और वैज्ञानिक है।

जैनदर्शन में वस्तु स्वरूप की दृष्टि से कर्ता-कर्म की चर्चा है, परन्तु वस्तु का स्वरूप एक दूसरे के परस्पर कर्तृत्व की स्वीकृति नहीं देता। अत: जैनदर्शन के कर्ता-कर्म के स्वरूप में वस्तुत: अकर्तावाद की चर्चा की गयी है। जैनदर्शन का अकर्तावाद मात्र ईश्वरवाद के निषेध तक सीमित नहीं है, किन्तु समस्त परकर्तृत्व के निषेध एवं स्वकर्तृत्व के समर्थन रूप है। प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति का स्वयं कर्ता है उसके परिणमन में पर का रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं है। स्व कर्तृत्व मानने पर भी उसका भार जैनदर्शन को स्वीकार नहीं है, क्योंकि वह सब सहज स्वाभावत: परिणमन है। यही

कारण है कि जैनदर्शन के प्रमुख आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार में ईश्वरवाद के निषेध की चर्चा तक नहीं की और सम्पूर्ण बल परकर्तृत्व के निषेध एवं ज्ञानी जीव के विकार के भी कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करने पर दिया है।

इस अध्याय के विषय का निरूपण मुख्यतया समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार के परिप्रेक्ष्य में किया जाएगा; क्योंकि इसमें अध्यात्म की दृष्टि से.व विस्तृत परिप्रेक्ष्य में कर्ता-कर्म की विवेचना की गयी है और अज्ञानी जीव की मान्यता में विद्यमान परकर्तृत्व संबंधी सूक्ष्मतम अवधारणाओं को बतलाकर उनका निषेध किया गया है; साथ ही निश्चय-व्यवहार व निमित्त-नैमित्तिक दृष्टिकोण से भी इस विषय का निरूपण किया गया है।

4. कर्ता-कर्म का स्वरूप :-

कर्ता-कर्म मीमांसा के अंतर्गत सर्वप्रथम उसके स्वरूप व भेदों से परिचित होना आवश्यक है।

(क) कर्ता का स्वरूप व भेद :-

व्याकरण शास्त्र में कारकों के अंतर्गत कर्ताकारक का बहुश: उल्लेख मिलता है। कर्ता का तात्पर्य है - 'कार्य का जनक'। व्याकरण ग्रन्थों में कर्ता का स्वरूप इस प्रकार परिभाषित किया गया है -

''स्वतंत्र: कर्ता''[1] अथवा ''य: करोति स कर्ता''[2] अथवा जो स्वतंत्रतापूर्वक कार्य को करे अथवा जो क्रिया का जनक हो, वह कर्ता है। जैनदर्शन में कर्ता का स्वरूप इस प्रकार है - 'य: परिणमति स कर्ता'[3] जो कार्य रूप परिणमित हो वह कर्ता है। अथवा 'स्वतन्त्र: कुर्वाणस्तस्य कर्ता अवश्यं स्यात्'[4] - अर्थात् वह उसको (कार्य को) स्वतंत्रतापूर्वक करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है। जैसे - मिट्टी घट की कर्ता है और घट उसका कर्म है, क्योंकि मिट्टी स्वतंत्रतया घट रूप परिणमन करती है।

जैनदर्शन में कर्ता के भी चार भेद माने गये हैं - (1) निमित्त कर्ता (2) त्रिकाली कर्ता (3) अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय कर्ता (4) तत्समय की योग्यता कर्ता। पूर्व में उपादान-निमित्त मीमांसा के अंतर्गत कर्ता के भेदों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है और यह भी उद्घाटित किया गया है कि कार्य का वास्तविक कर्ता कौन है ? और क्यों है ? तथा उसका कर्म अथवा कार्य क्या है ? वे दोनों अभेद क्यों है ? इत्यादि पर तर्कयुक्ति पूर्वक चर्चा की गई है। अत: यहाँ पर पुनरुक्ति दोष से बचने के लिये संक्षेप में उसका स्वरूप बतलाया गया है।

(ख) कर्म का स्वरूप -

'कर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं। यथा - कर्मकारक, कार्य, क्रिया तथा जीव के साथ बाँधने वाले विशेष जाति के पुद्गल स्कंध। कर्मकारक जगत् प्रसिद्ध है। यहाँ कर्म का अर्थ क्रिया, कार्य, परिणति, परिणमन अथवा परिणाम है। राजवार्तिक में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है : कर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं - 'घटं करोति' में 'कर्मकारक' कर्म शब्द का अर्थ है। 'कुशल-अकुशल कर्म' में पुण्य-पाप का अर्थ निहित है। उत्क्षेपण, अवक्षेपण का आदि में कर्म का क्रिया अर्थ विवक्षित है। यहाँ पर कर्म क्रिया के अर्थ में

विवक्षित है, अन्य अर्थ में नहीं।[5] अन्यत्र भी कथन है कि कर्म की व्याकरण शास्त्र में द्वितीया विभक्ति होती है जैसे- 'कर्मणि द्वितीया' यह सूत्र है। कर्म शब्द का क्रिया ऐसा भी अर्थ है। यहाँ कर्म शब्द का अर्थ 'क्रियावाची' है।[6] सामान्यत: कर्म एवं क्रिया को एकार्थवाची माना गया है। कहा भी गया है - 'कर्मक्रिया इत्यनर्थान्तरम्' अर्थात् कर्म, क्रिया एकार्थवाची शब्द हैं।[7] व्याकरण शास्त्र में कर्म को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है - 'यत्क्रियते तत्कर्म'[8] अर्थात् कर्ता के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है।

जैनदर्शन ग्रंथों के अनुसार - ''कर्तु क्रियया आप्तुमिष्टतमं कर्म'' कर्ता के क्रिया के द्वारा जो प्राप्त करने योग्य इष्ट होता है उसे कर्म कहते हैं।[9] ''कर्तुक्रियाया व्याप्यत्वेन विवक्षितमपि कर्म'' अर्थात् कर्ता की होने वाली क्रिया के द्वारा जो व्याप्त होता है वह कर्म कहलाता है।[10] समयसार एवं प्रवचनसार में कर्म का स्वरूप निम्न प्रकार से विवेचित किया गया है - ''य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म''[11] तथा क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वकर्म''[12] (परिणमित होने वाले कर्तारूप द्रव्य का) जो परिणाम है वह उसका कर्म है तथा क्रिया वास्तव में कर्ता के द्वारा प्राप्त होने से कर्म है।

(ग) कर्म के भेद -

जैनदर्शन में सामान्यतया कर्ता का कर्म तीन प्रकार का माना गया है। उक्तं च- ''तत्त्रिविधं निर्वत्यं विकार्य प्राप्यं चेति।''[13]

(अ) प्राप्य कर्म - कर्ता जिसे प्राप्त करता है वह प्राप्यकर्म है अर्थात् कर्ता जो नया उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके भी प्राप्त नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है (अर्थात् स्वयं उसकी पर्याय) वह कर्ता का प्राप्य कर्म है। जैसे - स्वर्ण अंगूठी को प्राप्त करता है। यहाँ अंगूठी स्वर्ण का प्राप्य कर्म है।

(ब) विकार्य कर्म - कर्ता के द्वारा पदार्थ में विकार (परिवर्तन) करके जो कुछ किया जावे वह कर्ता का विकार्य कर्म है। जैसे - अंगूठी स्वर्ण का विकार्य कर्म है। यहाँ स्वर्ण ही अंगूठी रूप विशेष रूप से परिवर्तित हुआ है।

(स) निर्वर्त्य कर्म - कर्ता के द्वारा जो पहले से न हो ऐसा कुछ नवीन उत्पन्न किया जाये वह कर्ता का निर्वर्त्य कर्म है। जैसे - स्वर्ण से नवीन अंगूठी बनीं। यहाँ स्वर्ण ही अंगूठी रूप निर्वर्त्य कर्म हुआ।[14]

इस प्रकार कर्ता व कर्म के स्वरूप व भेद से स्पष्ट होता है कि कर्ता स्वतंत्र रूप से जिस कार्य को करे उसका वह कर्ता है और कर्ता को जो इष्ट हो वह उसका कर्म है।

5. व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध :-

अवधेय है कि जैनदर्शन में कर्ता-कर्म सिद्धान्त की व्याख्या व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध के द्वारा की गई है और यह स्वीकृत किया गया गया है कि वस्तुत: कर्ता-कर्म सम्बन्ध वहीं होता है, जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव अथवा उपादान-उपादेय भाव होता है। जो वस्तु कार्य रूप परिणमित होती है वह व्यापक है, उपादान है तथा जो कार्य होता है वह व्याप्य है, उपादेय है।[15] उदाहरणार्थ :- मिट्टी की कलश रूप पर्याय व्याप्य है तथा उस पर्याय में मिट्टी व्यापक है, कुम्हार नहीं। अत: कलश (पर्याय) कर्म तथा मिट्टी (द्रव्य)

उसकी कर्ता है, कुम्हार उसका कर्ता नहीं है, क्योंकि मिट्टी की सर्व अवस्थाओं में स्वयं मिट्टी व्याप्त होती है। कुम्हार तो उस कलश रूप कार्य का निमित्त (सहचर) मात्र है।

समयसार कलश 49 में आचार्य अमृतचंद्र ने इसका अत्यंत सरल व स्पष्ट निरूपण किया है - "व्याप्य-व्यापकता तत्स्वरूप* में ही होती है अतत्स्वरूप में नहीं होती है और व्याप्य-व्यापक भाव के संभव हुए बिना कर्ता-कर्म की स्थिति कैसी ? अर्थात् कर्ता-कर्म की स्थिति नहीं होती है, संभावित ही नहीं है।"[(16)] इस कलश में प्रयुक्त 'ही' शब्द पर जोर देकर आचार्य अमृतचंद्र ने इस तथ्य से अवगत कराया है कि एक द्रव्य का अपनी ही पर्याय में व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव है, दो द्रव्यों में नहीं। अर्थात् वह किसी भी प्रकार से व किसी भी अवस्था में दो द्रव्यों में संभव नहीं है। इस कलश का भावार्थ पं. जयचंद छावड़ा ने इस प्रकार किया है- "जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है सो तो व्यापक है और कोई अवस्था विशेष वह व्याप्य है। इस प्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय उसका व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेद रूप ही हैं। जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है। ऐसा होने से द्रव्य पर्याय में व्याप्त होता है और पर्याय द्रव्य के द्वारा व्याप्त हो जाती है ...... इसलिये जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव होता है वहीं कर्ता-कर्म भाव होता है, व्याप्य-व्यापक-भाव के बिना कर्ता-कर्म भाव नहीं होता है ...।"[(17)] पं. जयचंद छावड़ा ने उक्त कथन में व्याप्य-व्यापक भाव के संदर्भ में न केवल सारभूत बात कही है, बल्कि व्याप्य-व्यापक भाव को भी परिभाषित किया गया है।

उक्त कलश के टीकाकार पं. राजमलजी का मन्तव्य भी द्रष्टव्य है - "व्यापक अर्थात् परिणामी द्रव्य अपने परिणाम का कर्ता होता है; व्याप्य अर्थात् वह परिणाम द्रव्य ने किया। समस्त गुणरूप व पर्यायरूप भेद विकल्प एक द्रव्यरूप, एकसत्त्वरूप वस्तु में होता है। जैसे - स्वर्ण पीला, भारी, चिकना ऐसा कहा जाता है, परन्तु एक सत्त्व है, वैसे ही जीवद्रव्य ज्ञाता, द्रष्टा ऐसा कहा जाता है, परन्तु एकसत्त्व है। ऐसे एक सत्व में भेद बुद्धि की जाय तो व्याप्य-व्यापकता होती है और नहीं की जाय तो नहीं होती। तात्पर्य यह है कि उपचार मात्र से द्रव्य अपने परिणाम का कर्ता है वही परिणाम द्रव्य का किया हुआ कर्म है वैसे अन्य द्रव्य का कर्ता अन्य द्रव्य तो उपचार से भी नहीं है, क्योंकि उनमें एक सत्त्व नहीं, भिन्न सत्त्व हैं।"[(18)]

उपर्युक्त कलश टीका का खुलासा प्रवचनरत्नाकर भाग-3 में श्रीकानजी स्वामी ने आत्मद्रव्य के सन्दर्भ में करते हुए कहा है - "आत्म द्रव्य स्वयं व्यापक है तथा उसकी निर्मल निर्विकारी दशा (शुद्ध पर्याय) तत्स्वरूप होने से व्याप्य है। आत्मद्रव्य व्यापक व रागादि विकार-परवस्तु उसकी व्याप्य नहीं है; क्योंकि अतत्स्वरूप में आत्मा का व्याप्य-व्यापकपना सम्भावित ही नहीं है ...... वास्तव में आत्मा व्यापक और निर्मल पर्याय व्याप्य - यह भी उपचार से है, परमार्थ से नहीं। परमार्थ से तो पर्याय भी पर्याय में से (स्वयं से) हुई है। द्रव्य से पर्याय हुई है - ऐसा जो कहा है, वह तो उपचार मात्र है तथा आत्मा राग की क्रिया व जड़ (पुद्गल) की क्रिया का कर्ता तो उपचार से भी नहीं है।"[(19)]

ऊपर लिखित सम्पूर्ण कथन से यहाँ दो बातें परिलक्षित होती हैं - प्रथम व्याप्य-

व्यापक सम्बन्ध अभेदता का सम्बन्ध है उसमें भेद नहीं होता और जो भेद किया जाता है वह उपचार मात्र है, कथन मात्र है। निश्चय से कर्ता-कर्म में कोई भेद नहीं है। द्वितीय, द्रव्यकर्ता व पर्याय कर्म - यह कथन भी उपचार मात्र है। पर्याय स्वयं अपनी सामर्थ्य से अपने स्वकाल में होती है, द्रव्य उसे नहीं करता।

6. वस्तु का परिणामी-परिणाम सम्बन्ध ही उसका कर्ता-कर्म सम्बन्ध है :-

यह पूर्वविदित ही है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम से अभिन्न होने से उसका कर्ता है और वह परिणाम उसका कर्म है। आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार कलश 51 में कर्ता, कर्म और क्रिया को वस्तु स्वरूप से अभिन्न बतलाया है।[20] तथा आगे कलश 211 में भी स्पष्ट रूप से कहा है -

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयत: ।
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ॥
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया ।
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव तत: ॥

"वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने-अपने द्रव्य के आश्रित हैं, अन्य के परिणाम का आश्रय अन्य नहीं होता) और कर्म कर्ता के बिना नहीं होता अर्थात् परिणाम वस्तु के बिना नहीं होते तथा वस्तु की एकरूप स्थिति नहीं होती इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणाम रूप कर्म की कर्ता है।"[21]

प्रवचनसार गाथा 122 की तत्त्वप्रदीपिका टीका में भी इसी मन्तव्य को विस्तार से व्यक्त किया गया है - "आत्मा का परिणाम वास्तव में स्वयं आत्मा ही है, क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अभिन्न होता है और जो आत्मा का आत्मरूप परिणाम है वह जीवमयी ही क्रिया है, क्योंकि सब द्रव्यों की परिणाम लक्षण रूप क्रिया उस - उस द्रव्यमय ही मानी जाती है और जो जीवमयी क्रिया है वह आत्मा के द्वारा स्वतंत्रतया प्राप्य होने से कर्म है। अत: परमार्थ से आत्मा अपने परिणाम रूप भावकर्म का ही कर्ता है, पुद्गल के परिणाम रूप द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है। तब प्रश्न होता है कि द्रव्यकर्म का कर्ता कौन है ? इसका उत्तर है - पुद्गल का परिणाम स्वयं पुद्गल ही है, क्योंकि परिणामी-परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अभिन्न होता है और जो पुद्गल का पुद्गल रूप परिणाम है वह पुद्गलमयी क्रिया ही है अत: पुद्गल द्वारा स्वतंत्र रूप से की गयी होने से पुद्गल अपने परिणामरूप द्रव्यकर्म का ही कर्ता है, आत्मा के परिणाम रूप भावकर्म का कर्ता नहीं है।"[22]

समयसार गाथा 102 में भी यही बात कही गयी है - "आत्मा जो शुभ-अशुभ भाव करता है वह उसका कर्ता होता है तथा वह शुभ या अशुभ भाव उसका कर्म होता है। वह आत्मा अपने उस भाव का भोक्ता भी होता है।"[23]

प्रवचनसार गाथा 9 में भी जीव के समस्त परिणामों को उसका कर्ता बतलाते हुए कहा गया है "जीव परिणाम स्वभावी होने से जब शुभ या अशुभभाव रूप परिणमन करता है तब शुभ व अशुभ (स्वयं ही) होता है और जब शुद्धभाव रूप परिणमन करता

है तब शुद्ध होता है।''[24] उक्त गाथा की टीका में स्फटिकमणि का दृष्टान्त देते हुए जीव के शुभ, अशुभ व शुद्ध परिणामों के साथ तादात्म्य को भलीभांति स्पष्ट किया गया है - ''जब यह आत्मा शुभ या अशुभ रागभाव से परिणमित होता है तब जंवाकुसुम या तमालपुष्प के (लाल या काले) रंग रूप परिणमित स्फटिक की भांति, परिणाम स्वभाव होने से शुभ या अशुभ होता है। (उस समय आत्मा स्वयं ही शुभ या अशुभ है) और जब वह शुद्ध अराग भाव से परिणमित होता है तब शुद्ध अरागपरिणत (रंगरहित) स्फटिक की भांति, परिणाम स्वभाव होने से शुद्ध होता है। (उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध है)''[25]

पंचास्तिकाय की 57 वीं गाथा भी यहाँ उल्लेखनीय है - ''जिनशासन में ऐसा कहा गया है कि कर्म को वेदता हुआ जीव जैसे भाव को करता है वह उस भाव का उस प्रकार से कर्ता होता है।''[26].

उक्त विवेचन से यह तथ्य तो स्पष्ट रूप से विदित होता है कि परिणामी वस्तु का परिणाम होता है और वह परिणाम अपनी परिणामी वस्तु से अभिन्न होता है ऊपर विभिन्न उद्धरणों के द्वारा जीव व पुद्गलादि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणाम का कर्ता है यह बात स्पष्ट की गयी है। कर्ता-कर्म के स्वरूप, भेद, व्याप्य-व्यापकभाव एवं परिणाम-परिणामी सम्बन्ध के द्वारा इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि कर्ता-कर्म सम्बन्ध एक ही द्रव्य में होता है, दो भिन्न द्रव्यों व उनकी पर्यायों में नहीं होता; क्योंकि व्याप्य-व्यापकभाव व परिणाम-परिणामी सम्बन्ध प्रत्येक द्रव्य का उसकी पर्यायों के साथ पाया जाने वाला अभेद सम्बन्ध है। जैसे - स्वर्ण का अपनी कुण्डल, अंगूठी, कंगन आदि पर्यायों के साथ व्याप्य-व्यापकत्व अथवा तादात्म्य होता है, किन्तु स्वर्णकार का उक्त पर्यायों के साथ व्याप्य-व्यापकत्व अथवा तादात्म्य नहीं होता; क्योंकि वे दोनों भिन्न व स्वतंत्र द्रव्य हैं। अत: स्वर्ण का उसकी पर्यायों के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध है, किन्तु स्वर्णकार का स्वर्ण की पर्यायों के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

इससे यह निष्कर्ष फलित हुआ कि प्रत्येक द्रव्य अन्य परद्रव्य का कर्ता नहीं है, स्वयं केवल अपनी पर्यायों का ही कर्ता है। जिस प्रकार मिट्टी से कलश, घट, सकोरा आदि उत्पन्न हो सकता है, किन्तु मिट्टी के द्वारा पट होना अशक्य है। उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने भावों का, पर्यायों का कर्ता हो सकता है परन्तु परभावों का, पर की पर्यायों का - कार्य का कर्ता होना अशक्य है।

यद्यपि व्यवहार से अथवा व्यवहारीजन ऐसा मानते हैं कि आत्मा घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को, इन्द्रियों को, अनेक प्रकार के क्रोधादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्म को कर्ता है।[27] इसमें आत्मा को परद्रव्यों (घट-पट आदि) का, जीव के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप से रहने वाले द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादिआठकर्म) व नोकर्म (शरीरादि) का कर्ता कहा गया है। परन्तु व्यवहारीजनों की यह मान्यता यथार्थ क्यों नहीं है ? और आत्मा को उससे भिन्न परद्रव्यों का कर्ता माना जाये तो क्या आपत्तियाँ उत्पन्न होगी ? वह द्रष्टव्य है -

प्रथम तो ''वस्तुव्यवस्था ही ऐसी है कि प्रत्येक वस्तु जिस द्रव्य में और गुण में

वर्तती है वह अन्य द्रव्य में तथा गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती । अन्य रूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह (वस्तु) अन्य वस्तु को परिणमित नहीं करा सकती है।''[28]

इससे स्पष्ट हुआ कि आत्मा को परद्रव्य का कर्ता मानना व्यवहारीजनों का व्यवहार अथवा अज्ञान है और उनकी मान्यता अज्ञानमय होने से अयथार्थ है।

''यदि वास्तव में आत्मा परद्रव्य स्वरूप कार्य को करे तो अन्य किसी प्रकार से परिणाम-परिणामी भाव न हो सकने से, वह (आत्मा) नियम से तन्मय (परद्रव्य) हो जाये; किन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्य के नाश की आपत्ति आती है इसलिए आत्मा घटादिक एवं क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कार्यों का व्याप्य-व्यापक भाव से कर्ता नहीं है।''[29]

जो परिणाम एक द्रव्य का है वह दूसरे द्रव्य का परिणाम नहीं हो सकता। अन्यथा संकरदोष आ जाने से निजद्रव्य और अन्य द्रव्य की व्यवस्था ही न बन सकेगी।[30]

उक्त कथनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि द्रव्य अपने भिन्न परद्रव्य के कार्य कर्ता हो तो विश्व में किसी भी द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व संभव नहीं हो सकेगा तथा संकर आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाएगें। अत: परमार्थ से कर्ता-कर्मभाव अथवा परिणाम-परिणामी भाव एक द्रव्य का अपनी पर्याय के साथ ही हो सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन अथवा पर्यायों का कर्ता है अर्थात् आत्मा अपने परिणमन का कर्ता है और उससे भिन्न कर्मरूपी पुद्गल द्रव्य अपने परिणमन का कर्ता है तो फिर पुद्गल कर्म का कर्ता कौन है ? जिसका संसारावस्था में जीव के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है तथा जिसके कारण वह संसार में परिभ्रमण करताहै?

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार में इस प्रश्न का अत्यंत सरल भाषा में तर्क-युक्तिपरक स्पष्टीकरण दिया है। वे 80-81-82 गाथा में लिखते हैं - ''जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल (कार्माण वर्गणाएं) कर्मरूप परिणमित होते हैं तथा जीव भी पुद्गल के निमित्त से परिणमन करता है। यद्यपि जीव कर्म के गुणों को नहीं करता और कर्म जीव के गुणों को नहीं करता; परन्तु परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम होते हैं। इस कारण आत्मा अपने भावों का कर्ता है, परन्तु पौद्गलिक कर्मों के द्वारा किये गये समस्त भावों का कर्ता नहीं है।''[31]

इन गाथाओं की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचंद के उक्त मन्तव्य का खुलासा संक्षेप में इस प्रकार है - ''जीव और पुद्गल में परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से जीव को पुद्गल परिणामों के साथ और पुद्गल कर्म को जीव परिणामों के साथ कर्ता-कर्मपने की असिद्धि होने से, मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध न होने से, परस्पर निमित्त मात्र होने से ही दोनों के परिणाम होते हैं।''[32]

इसी सन्दर्भ में आचार्य जयसेन का कथन भी द्रष्टव्य है - जैसे कुम्हार के परिणामों के निमित्त से मिट्टी घड़े के रूप में परिणमित होती है; उसी प्रकार जीव संबंधी मिथ्यात्व व रागादिपरिणामों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणारूप पुद्गल द्रव्य कर्मरूप

में परिणमित होता है। जैसे - घट का निमित्त पाकर कुम्हार 'मैं घड़े को बनाता हूँ' - इस प्रकार के भावरूप परिणमन करता है; उसी प्रकार उदय में आये हुए द्रव्यकर्मों का निमित्त पाकर जीव निर्विकार चिच्चमत्कार परिणति को प्राप्त नहीं होता हुआ मिथ्यात्व और रागादि विभावरूप परिणमन करता है। यद्यपि परस्पर निमित्त से इन दोनों का परिणमन होता है तथापि निश्चय से जीव वर्णादि पुद्गलकर्म के गुणों को नहीं करता और कर्म भी अनंतज्ञानादि जीव के गुणों को नहीं करता। यद्यपि उपादान रूप से व दोनों एक दूसरे के गुणों को नहीं करते; तथापि कुम्हार व घड़े की भांति परस्पर निमित्त से उनके परिणाम होते हैं।[33]

इसका और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द अज्ञानी जीवों की मान्यता का विश्लेषण करते हैं कि - "आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म का कर्ता व भोक्ता है, ऐसा कहना अज्ञानियों का अनादिकाल से प्रसिद्ध (रूढ़) व्यवहार है।"[34]

जिस प्रकार कुम्हार को घड़े का कर्ता व भोक्ता कहना वास्तविकता न होकर अनादि का रूढ़ व्यवहार है; उसी प्रकार आत्मा को पुद्गल कर्म का कर्ता व भोक्ता कहना भी अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है। परन्तु व्यवहारनय के इस मन्तव्य में दूषण हैं। कारण - "यदि आत्मा पुद्गल कर्म को करे और उसी को भोगे तो वह आत्मा अपनी व पुद्गल कर्म की दो क्रियाओं से अभिन्न ठहरे। ऐसा प्रसंग आता है जो कि जिनमत सम्मत नहीं है तथा जो आत्मा को (अपनी व पुद्गल कर्म की) दो क्रियाओं का कर्ता मानते हैं वे द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं।"[35]

वस्तुस्वरूप से क्रिया व कर्ता की अभिन्नता सदा ही प्रगट होने से जैसे जीव व्याप्य-व्यापक भाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्यभावक भाव से उसी को भोक्ता है; उसी प्रकार व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गल कर्म को भी करे और भाव्य-भावकभाव से उसी को भोगे तो उस जीव को अपनी व पर की दोनों क्रियाओं से अभिन्न मानना होगा। ऐसी स्थिति में स्व-पर का विभाग ही अस्त हो जाने से अनेक द्रव्यस्वरूप एक आत्मा का निजरूप अनुभव करता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि हो जाएगा।[36]

योगसार में भी इसका सटीक विवेचन मिलता है - यदि कर्म को चेतन का और चेतन को कर्म का कर्ता माना जाये तो दोनों एक दूसरे के उपादान बन जाने के कारण कौन चेतन और कौन अचेतन यह बात सिद्ध ही न हो सकेगी।[37] पंचाध्यायी में भी ऐसा ही मन्तव्य व्यक्त किया गया है - गुणों में परिवर्तन हुए बिना जीव कर्म का कर्ता - भोक्ता नहीं हो सकता। यदि बिना गुणों की संक्रान्ति के ही जीव कर्म का कर्ता भोक्ता हो जाए तो सब पदार्थों में सर्वशंकर दोष व सर्वशून्य दोष उत्पन्न होगा।[38]

इसलिए कहा गया है कि "दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते। दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति-क्रिया नहीं होती; क्योंकि जो अनेक (भिन्न-भिन्न) हैं वे सदा अनेक ही रहते हैं, वे मिलकर एक नहीं हो जाते।"[39] तथा एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियायें नहीं होती, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य रूप नहीं होता।[40]

इस प्रकार आत्मा वास्तव में पुद्गल कर्म का अकर्ता है। उसे पुद्गल कर्म का

कर्ता कहना उपचार मात्र है। जैसे - योद्धाओं द्वारा युद्ध किये जाने पर 'राजा ने युद्ध किया' - ऐसा कहा जाता है सो उपचार मात्र कथन है; वैसे ही जीव ने कर्म किये - ऐसा उपचार से ही कहा जाता है।[41]

उक्त प्रश्न के समाधान में आचार्यों ने जो कारण दिये हैं वह महत्वपूर्ण है -

(1) जीव व पुद्गल कर्म में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं; क्योंकि जीव व कर्म परस्पर एक दूसरे के गुणों के कर्ता नहीं होते।

(2) जीव व पुद्गल कर्म दो भिन्न द्रव्य होने से उनमें व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं होता।

(3) यदि जीव को पुद्गल कर्म का कर्ता मान जाए तो द्विक्रियावादिता का प्रसंग उपस्थित होगा। तथा दो द्रव्यों की भिन्नता संभव न हो सकेगी।

(4) जीव को पुद्गलकर्म कर्ता कहना मात्र उपचार कथन है। अत: सिद्ध हुआ कि अपने से भिन्न जीव जड़ रूप पौद्गलिक कर्मों का कर्ता नहीं है। वह केवल अपने परिणाम का कर्ता है।

यह जीव परद्रव्यरूप पौद्गलिक पदार्थ नोकर्म व द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है यह मान्य है, किन्तु जीव में होने वाले रागादि भावों को भी पौद्गलिक कहा गया है फिर उनका कर्ता कौन है ?

जिनागमजीव में होने वाले रागादिभावों को कहीं पर जीव के अपने भाव और कहीं पर पौद्गलिक स्वभाव कहे गये हैं। दोनों स्थानों पर अलग-अलग विवक्षायें हैं - प्रथम जहाँ जीव के रागादि भावों को अपने भाव कहा गया हैं वहाँ अभिप्राय यह है कि वे रागादिभाव जीव की चारित्रगुण की विकारी पर्याय हैं और उनका कर्ता उनसे अभिन्न होने से जीवद्रव्य ही है, कोई अन्य पुद्गल कर्म आदि नहीं। यदि जीव इन भावों का कर्तृत्व स्वीकार करेगा तो उनका अभाव करने का प्रयास करेगा। जो उसके द्वारा किया जाने वाला शक्य कार्य है।

दूसरी विवक्षा यह है कि जहाँ पर जीव में होने वाले रागादिभाव को पौद्गलिक कहा गया है, वहाँ अभिप्राय यह है कि यद्यपि रागादिभाव जीव के अस्तित्व में होते हैं, वे जीव के विभावभाव हैं, दुखरूप हैं, जीव की भूल से तथा कमजोरी से हुए भाव हैं और वे परद्रव्य के लक्ष्य से होते हैं तथा कर्म के उदयवश होते हैं, इसलिए कोई जीव उन रागादिभावों को अपना स्वभाव भाव न मान ले इस कारण से उन्हें निमित्त की प्रधानता से पौद्गलिक कहा गया है।

समयसार कलश 205 में आचार्य अमृतचंद्र ने इन रागादिभावों की द्विरूपता को स्पष्ट किया है। जब तक जीव भेदज्ञान पूर्वक अपने ज्ञान मंदिर में प्रवेश नहीं करता अर्थात् शुद्धात्मा का ध्यान पूर्वक अनुभव नहीं करता है तब तक वह अज्ञानी है और इसे इन भावों का कर्ता मानना चाहिए । और जब वह जीव भेदज्ञान होने के पश्चात् ज्ञान मंदिर में प्रवेश करता है अर्थात् निजात्मा का आश्रय लेकर शुद्ध आत्मा का अनुभव-ध्यान करता है तब बुद्धिपूर्वक रागादिभावों की उत्पत्ति न होने से उसे इनका कर्ता नहीं मानना चाहिए।[42]

'य: परिणमति स कर्ता' के अनुसार - जीव जिस भावरूप परिणमित होता है

उस भाव अथवा परिणाम का वह कर्ता होता है। यही कारण है कि ज्ञानी ज्ञानमयभावों का कर्ता होता है और अज्ञानी अज्ञानमय भावों का कर्ता होता है।[43]

ज्ञानी ज्ञानमय व अज्ञानी अज्ञानमय भावों का कर्ता क्यों है ? इसका सटीक व युक्तिपरक स्पष्टीकरण समयसार की 126 से 131 गाथाओं की टीका में मिलता है - "यह आत्मा स्वमेव परिणामस्वभाव वाला होने से (अपने) जिस भाव को करता है, कर्मपने को प्राप्त हुए उस भाव का ही वह कर्ता होता है। वह भाव ज्ञानी का ज्ञानमय ही होता है; क्योंकि ज्ञानी को स्व-पर के विवेक से सर्व परभावों से भिन्न आत्मा की ख्याति सम्यक् प्रकार से अत्यंत उदय को प्राप्त हुई है तथा वह भाव अज्ञानी के अज्ञानमय ही होता है; क्योंकि उसे सम्यक् प्रकार से स्वपर का विवेक न होने से परपदार्थों से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यंत अस्त को प्राप्त हो गई है।"[44]

इसका भावार्थ यह है कि ज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है; इसलिए उसके अपने ज्ञानमयभावों का ही कर्तृत्व है और अज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है ; इसलिए उसके अज्ञानमयभावों का कर्तृत्व है। "कारण जैसा ही कार्य होता है इस न्याय के अनुसार, जैसे - लोहे में लौहमय कड़ा इत्यादि वस्तुएं होती हैं और सुवर्ण में सुवर्णमय आभूषण होते हैं, इसी प्रकार अज्ञानी स्वयं अज्ञानमय भाव होने से उसके अज्ञानमय भाव ही होते हैं और ज्ञानी के स्वयं ज्ञानमय भाव होने से उसके ज्ञानमय भाव ही होते हैं।"[45]

इस प्रकार रागादिभावों के कर्तृत्व व अकर्तृत्व दोनों की जिम्मेदारी जीव पर डाली गयी है और उस मान्यता का प्रगटीकरण किया है कि सर्वथा एकान्त वस्तु का स्वरूप नहीं है अर्थात् आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, अन्यथा सांख्यमत का प्रसंग उपस्थित होता है। सांख्यमतावलम्बी पुरुष को सर्वथा (एकान्त से) अकर्ता व शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानते हैं ऐसा मानने से पुरुष को संसार का अभाव प्राप्त होता है और यदि प्रकृति को संसार माना जाए तो वह भी घटित नहीं होता; क्योंकि प्रकृति तो जड़ है उसे सुखदु:खादि का संवेदन नहीं है तो उसे संसार कैसा ? ऐसे अनेक दोष एकान्त मान्यता में आते हैं।[46]

जैनदर्शन एकान्त मान्यता को अस्वीकार कर विवक्षा भेद से एक ही आत्मा में कर्तृत्व व अकर्तृत्व दोनों स्वीकार करता है। अब आगे प्रश्न उत्पन्न होता है कि आत्मा में होने वाले एकदेशशुद्धभाव व पूर्णशुद्धभावों का कर्ता कौन है ? परमशुद्धनिश्चयनय से इनका कर्ता आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा निष्क्रिय अथवा अक्रिय है। प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने षट्कारक से स्वतंत्र रूप से होती है इसलिए प्रत्येक पर्याय की कर्ता वह पर्याय स्वयं ही है। चार प्रकार के कर्ता का कथन करते समय भी यह कहा जा चुका है कि तत्समय की पर्यायगत योगयता ही वास्तविक कर्ता है इसलिए एकदेशशुद्धपर्याय व पूर्णशुद्धपर्यायों की कर्ता वे पर्यायें स्वयं ही हैं।

समयसार गाथा 320 की टीका में आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं कि "ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भांति दूर से जानना है इसलिए ज्ञान के कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। वह तो अकारक तथा अवेदक है। वहीं पर यह भी कहा गया है कि जब जीव ज्ञानी हो जाता है तब वह किसी का कर्ता व भोक्ता नहीं होता।"[47] इसलिए पर्याय का कर्तृत्व द्रव्य पर

न होकर एकसमयवर्ती उसी पर्याय पर आवेगा। उसी गाथा की टीका में आचार्य जयसेन भी कहते हैं शुद्धज्ञान परिणत हुआ जीव स्वयं शुद्धउपादान रूप से न तो कर्ता है, न भोक्ता है वह तो केवल कर्म के बंध को तथा मोक्ष को और कर्म के उदय तथा निर्जरा को मात्र जानता है।[48]

परमार्थप्रकाश में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन मिलता है कि "परमार्थनय से जीव न तो उत्पन्न होता है और न मरता है और न बंध करता है, न मोक्ष करता है वह तो मात्र उन्हें जानता है।"[49]

इसलिए यह निश्चित हुआ कि शुद्ध पारिणामिकभाव अपरिणामी होने से मोक्ष का कारण नहीं हैं। जो शक्तिरूप मोक्ष है वह शुद्ध पारिणामिक भाव में पहले ही स्थित है। बंध के कारणभूत जो क्रिया है वह शुद्धपारिणामिक भाव के साथ तादात्म्य रूप नहीं होती और उसी तरह मोक्ष की कारणभूत क्रिया (शुद्धात्मानुभूति पर्याय) याने एकदेशशुद्धपर्याय व पूर्णशुद्धपर्याय भी शुद्ध पारिणामिक के साथ तादात्म्य रूप नहीं होती, क्योंकि ये पर्यायें अनित्य है और शुद्ध पारिणामिकभाव नित्य है। अत: परमशुद्धनिश्चय की अपेक्षा से आत्मा एकदेशशुद्धभाव व पूर्णशुद्धभावों का कर्ता नहीं है। आत्मा ज्ञान मात्र होने से अकर्ता है।

दूसरी अपेक्षा से आत्मा को इन शुद्ध भावों का कर्ता कहा जाता है, क्योंकि कार्य जीव के अस्तित्व में हुआ है। जीव के पुरुषार्थ से हुआ है और वह प्रयोजभूत इष्ट कार्य भी है। वह कार्य सुखरूप होने से उसका भोक्ता भी जीव है।

इस प्रकार जैनदर्शन में प्रत्येक तथ्य का प्रतिपादन विवक्षावश होता है। आत्मा को रागादिभावों का कर्ता व अकर्ता दोनों कहा गया है; किन्तु उसमें सर्वथा कर्तृत्व व सर्वथा अकर्तृत्व का निषेध किया है। किस अपेक्षा से कर्ता व किस अपेक्षा से अकर्ता है इस विवक्षा का ध्यान रखा गया है। उसी प्रकार एकदेशशुद्धभावों व पूर्णशुद्धभावों के कथंचित् कर्तृत्व व कथंचित् अकर्तत्व के कथन में यही बात मिलती है।

निष्कर्ष :-

सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में मान्य कर्तृ-कर्म मीमांसा (विचार) "य: परिणमति स कर्ता, य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म" जो स्वयं कार्यरूप परिणमित होता है वह कर्त्ता है तथा उसका जो परिणाम है वह कर्म है। कर्ता-कर्म की इस परिभाषा को अद्यतन ध्यान में रखा गया है। व्याप्य-व्यापकभाव तथा परिणाम-परिणामी सम्बन्ध के द्वारा एक द्रव्य में ही कर्ता-कर्म की स्थिति संभव है। इस तथ्य के निरूपण में भी उक्त परिभाषा का अनुसरण किया है। तत्पश्चात् जीव को अपने से भिन्न परद्रव्यों, घट, पट, रथ, शरीरादि, द्रव्यकर्मों का कर्ता कहना उपचार कथन मात्र है। यदि उसे कर्ता माना जाए तो क्या दूषण उत्पन्न होंगे यह बतलाकर, समस्त परकर्तृत्व रूप मान्यता के निषेध में एक द्रव्य में ही कर्ता-कर्म संभव है इसी मान्यता को पुष्ट किया गया है तथा जीव में उत्पन्न होने वाले रागद्वेषादि विकारी भावों को भी अज्ञानमय अवस्था में कथंचित् कर्ता कहा गया है यदि जीव रागादि भावों का सर्वथा कर्ता हो तो वे जीव के स्वभावभाव हो जाएगें और मुक्त अवस्था में भी उनका अभाव नहीं हो सकेगा।

जीव के आश्रय से होने वाली सम्यक्दर्शनादि रूप मोक्ष की कारणभूत पर्यायों के कर्तृत्व व अकर्तृत्व का कथन कर जीव को स्वभाव से अकर्ता बतलाया गया है। इस प्रकार कर्ता-कर्म की अवधारणा ने एक द्रव्य में कर्ता-कर्म को स्वीकृत कर परकर्तृत्व का पूर्णत: निषेधकर अशुद्ध व शुद्धपर्यायों के कथंचित् कर्तृत्व व कथंचित् अकर्तृत्व का निरूपण कर जीव को मात्र अपने परिणामों का कर्ता विभिन्न अपेक्षाओं से निरूपित किया गया है जिससे सर्वथा कर्तावादी व अकर्तावादी मान्यताओं का स्वत: निरसन हो जाता है और प्रत्येक द्रव्य अपने कार्य का कर्ता व परद्रव्य के कार्य का अकर्ता होने से वस्तु की सत्ता स्वतंत्र, स्वाधीन, स्वसहाय, स्वावलंबी, स्वयंसिद्ध प्रमाणित हो जाती है।

जैनदर्शन में मान्य कर्तृ-कर्म मीमांसा की उपर्युक्त विवेचना के उपरान्त जैनेत्तर दर्शनों में स्वीकृत कर्ता-कर्म संबंधी अवधारणाओं की समीक्षा विवक्षित है। जैनदर्शन जहाँ परमार्थिक दृष्टि कर्ता-कर्म में अभेद का प्रतिपादन करते हुए एक ही द्रव्य-पर्याय रूप से कर्तृ-कर्म का विधान करता है। वहीं जैनेत्तर दर्शनों में जगत् व्यवस्था व जगत् कर्तृत्व के लिए सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान ईश्वर और त्रिगुणात्मक प्रकृति इत्यादि सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हम इस बिन्दु पर विचार करने का प्रयास करेंगे कि क्या इस जगत् रूपी कार्य और जागतिक व्यवस्था का क्रमश: कोई कर्ता या व्यवस्थापक है जो विश्व में व्याप्त अथवा विश्वातीत रहकर उसका नियमन करता है अथवा जगत् में विद्यमान वस्तुएँ बिना किसी अवान्तर-कर्ता अथवा व्यवस्थापक के ही स्वयं शक्ति सामर्थ्य और अपनी स्वभावगत विशेषताओं के कारण जागतिक व्यवस्थाओं को कायम रखती हैं। पुन: यह भी दिखाने का प्रयास करेगें कि जगत् से परे व इतर उसका कर्ता व व्यवस्थापक मानने से कौन-कौन सी तार्किक, नैतिक और अध्यात्मिक दृष्टि से भी कठिनाइयाँ आती हैं।

7. ईश्वरवादी दर्शनों में मान्य जगत्कर्तृत्व की अवधारणा :-

भारतीय आस्तिक परम्परा में ईश्वर का महत्व सदैव जीवंत रहा है। आस्तिक सम्प्रदायों में मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक आते हैं। इनमें मीमांसा तथा सांख्य मूलत: ईश्वरविरोधी हैं यद्यपि बाद में इनका सेश्वर रूप भी प्राप्त होता है। वेदान्त, योग, न्याय तथा वैशेषिक मूलत: ईश्वरवादी दर्शन हैं, किन्तु इन दर्शनों में ईश्वरकृत जगत् व्यवस्था व जगत् कर्तृत्व के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अवधारणायें प्राप्त होती हैं। कोई ईश्वर को सृष्टि का मात्र निमित्त कारण स्वीकृत करता है तो कोई निमित्त व उपादान कारण दोनों। वेदान्त परम्परा में माध्व को छोड़कर समस्त वेदान्ती दार्शनिक शंकर, रामानुज, वल्लभ व निम्बार्क ईश्वर को सृष्टि का निमित्त व उपादान दोनों कारणों के रूप में स्वीकृत करते हैं; किन्तु माध्य केवल निमित्त कारण के रूप में मानते हैं। यद्यपि निमित्त व उपादान कारणों के सन्दर्भ में परस्पर भिन्नता (मतभेद) दिखलाई पड़ती है, परन्तु सभी वेदान्ती इस बात पर एकमत हैं कि सृष्टि व्यापार ईश्वर की लीला अथवा क्रीड़ा मात्र है। ईश्वर आप्तकाम होते हुए सृष्टि व्यापार में प्रवृत होता है जैसे - लोक में सकल मनोरथों की सिद्धि वाले पुरुष के सभी

व्यापार निष्प्रयोजन लीला मात्र होते हैं। उसी प्रकार सर्वज्ञ व सर्वकाम ईश्वर का व्यापार लीलामात्र है। जगत् की सत्ता के सन्दर्भ में वेदान्ती दार्शनिकों की अपनी पृथक-पृथक मान्यतायें हैं। शंकर ने जगत् को ब्रह्म का विवर्त माना है तो रामानुज ने ब्रह्म का परिणाम। लेकिन माध्व जगत् को न तो शंकर की तरह ब्रह्म का विवर्त और न रामानुज की तरह ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। शंकर को छोड़कर सभी वेदान्ती जगत् की यथार्थ सत्ता को स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार समस्त वेदान्ती दार्शनिक सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व लय ईश्वराधारित मानते हैं और वह ईश्वर पूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, जीवों का पालक, रक्षक, कर्मफलदाता, मोक्षफलदाता भी है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर जगत् का आदि सृष्टा, पालक, संहारक है। वह जगत् का केवल निमित्त कारण है। परमाणु आदि उपादान कारण तथा जीवों के अदृष्ट को सहकारी कारण माना गया है जिनके सहयोग से वह सृष्टि की रचना में प्रवृत होता है। सृष्टि व्यापार को ईश्वर का स्वभाव माना गया है। वह स्वभावत: सृष्टि की रचना में प्रवृत होता है। ईश्वर को एक, सर्वज्ञ, नित्य प्रज्ञावान, इच्छाशक्ति से युक्त तथा अनेक ऐश्वर्य व विभूतियों से सम्पन्न माना गया है। वह संसार के मनुष्यों एवं मनुष्येतर जीवों का धर्म व्यवस्थापक, उनको शुभ-अशुभ कर्मों का कर्मफलदाता व दयालु है।

योगदर्शन में न्याय के समान ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानता है, उपादान नहीं। उपादान कारण प्रकृति को माना गया है। योग दर्शन में ईश्वर की कल्पना सृष्टि के आरंभ में जीवों के मोक्ष हेतु उपदेश देने, ईश्वर प्राणिधान में उपयोग, प्रकृति व पुरुष में संयोग, जीवों के कर्मफलदाता के रूप में की गयी है।

यदि हम ईश्वर को मानने वाले सभी दर्शनों वेदान्त, न्याय-वैशेषिक और योग पर तुलनात्मक रूप से दृष्टिपात करें तो पाएगें कि उपर्युक्त सभी दर्शन ईश्वर की निम्नलिखित विशेषताओं से सहमत हैं -

(अ) सृष्टि का रचियता

(ब) कर्मफलदाता

(स) मोक्षफलप्रदाता

(द) सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक

(इ) वेदों का रयिचता या अभिव्यक्ता

(फ) करुणाशील

किन्तु निम्नलिखित बातों में मतभेद प्राप्त होता है :-

(1) वेदान्त में माध्व को छोड़कर सभी मतों में ईश्वर को सृष्टि निमित्त और उपादान दोनों प्रकार का कारण माना गया है। माध्व ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानते हैं। न्याय-वैशेषिक और योग भी ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं।

(2) सभी वेदान्ती सृष्टि रचना का प्रयोजन ईश्वर की लीला मानते हैं, किन्तु योग में यह प्रयोजन प्राणियों पर अनुकम्पा या करुणा माना गया है और न्याय में स्वभाव।

यद्यपि समस्त दर्शनों में ईश्वर की सत्ता व जगत्कर्तृत्व के सन्दर्भ में युक्तियाँ दी गयी हैं किन्तु इनका व्यवस्थित विवेचन न्याय दर्शन में मिलता है तथा उदयनाचार्य

ने न्यायकुसुमांजलि में ईश्वर की सत्ता व जगत्कर्तृत्व के सन्दर्भ में आठ युक्तियाँ दी हैं उन्हें सामान्यीकृत किया जा सकता है; क्योंकि उन युक्तियों को प्राय: सभी दर्शन अपने-अपने तरीके से स्वीकृत करते हैं जो कि निम्नांकित हैं:-[50]

(1) विश्व अथवा संसार में जितने भी कार्य हैं वे किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा बनाये हुए देखे जाते हैं, इसलिए पृथ्वी, पर्वत आदि जितने भी कार्य हैं वे किसी बुद्धिमान के द्वारा बनाए हुए हैं; क्योंकि जो-जो कार्य होता है वह किसी कर्ता की अपेक्षा रखता है और वह कर्ता ईश्वर ही है। जो किसी कर्ता का बनाया हुआ नहीं होता वह कार्य भी नहीं होता है, जैसे - आकाश।

(2) प्रत्येक सृष्टि में परमाणु मिलकर द्वयणुक, त्रयगुणक आदि बनाते हैं, किन्तु परमाणु अचेतन होने के कारण स्वयं द्वयणुक आदि कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकते; उनको क्रिया में प्रवृत कराने के लिए किसी चेतन कर्ता की आवश्यकता है यह चेतन कर्ता ईश्वर ही है।

(3) जगत् को धारण करने के लिए अर्थात् उसे गिरने आदि से रोकने के लिए तथा उसके संहार के लिए किसी दिव्य पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता है। यह दिव्य पुरुष ईश्वर ही है।

(4) प्रत्येक सृष्टि के आरंभ में मनुष्य सभी प्रकार के शिल्पों में अनभिज्ञ होते हैं उन्हें शिल्पों में शिक्षित करने के लिए ईश्वर समय-समय पर शरीर धारण कर उन्हें शिक्षित करता है और अपनी विभूति को अभिव्यक्त करता है। शिल्पों में न्यूनाधिक मात्रा दृष्टिगोचर होती है इनकी सर्वाधिक मात्रा ईश्वर में है।

(5) वेदों में प्रमाणिक ज्ञान है, वेदों की प्रमाणिकता का भी कोई कारण होना चाहिए। इस प्रमाणिकता का कारण ईश्वर है। ईश्वर जो सर्वज्ञ है, इनका रचयिता है।

(6) वेद किसी सर्वज्ञ की रचना है, क्योंकि वे वेद हैं। जो किसी सर्वज्ञ द्वारा रचित नहीं होते, वे वेद नहीं होते, जैसे - मनुष्यों द्वारा उच्चरित वाक्य। वेदों में इन्द्रियातीत विषयों का वर्णन है जिनसे मनुष्य अनभिज्ञ होते हैं, अत: वे ईश्वर के अतिरिक्त किसी और की रचना नहीं हो सकते।

(7) वेद वाक्यात्मक है, अत: वे किसी पुरुष की रचना हैं जैसे - कोई जुलाहा धागों को वस्त्र के रूप में आयोजित करता है वैसे ही ईश्वर शब्दों को वेद के रूप में आयोजित करता है। जैसे-एक पर्वत का आयोजन घट के आयोजन से भिन्न है, वैसे ही वेदों का आयोजन मानवीय आयोजन से भिन्न है।

(8) अंतिम युक्ति वैशेषिक की एक विशिष्ट मान्यता पर आधारित है। न्याय के अनुसार, परमाणुओं से सर्वप्रथम द्वयणुक उत्पन्न होते हैं। द्वयणुकों का परिमाण परमाणुगतद्वित्व संख्या से उत्पन्न होता है, किन्तु द्वित्व संख्या की उत्पत्ति 'अपेक्षाबुद्धि' से ही हो सकती है। 'अपेक्षाबुद्धि' किसी चेतन में ही उत्पन्न हो सकती है और यह 'अपेक्षा बुद्धि' ईश्वर में ही हो सकती है, क्योंकि सृष्टि के आरंभ में एकमात्र ईश्वर ही अपेक्षा बुद्धि वाला तत्त्व था।

(क) ईश्वरवादी दर्शनों में मान्य जगत्कर्तृत्व की अवधारणा की समीक्षा -

जैनाचार्यों ने स्वाद्वाद मंजरी, आप्तपरीक्षा, प्रमेयरत्नमाला, न्यायकुमुदचंद्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अर्थप्रकाशिका, षड्दर्शनसमुच्चय, तर्करहस्य दीपिका, मोक्षमार्गप्रकाशक आदि अनेक ग्रन्थों में ईश्वर की सत्ता व उसके जगत्कर्तृत्व का सयुक्तिक व सप्रमाण खण्डन किया है।

ईश्वर प्रत्यक्ष ग्राह्य नहीं है, इसे सभी दर्शन स्वीकार करते हैं अत: ईश्वर की सिद्धि अधिकांशत: शब्द प्रमाण (श्रुति) या अनुमान के आधार पर की गयी है। सभी नास्तिकदर्शन श्रुति को प्रमाण नहीं मानते। अत: उनका श्रुति के आधार पर ईश्वर को स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अनुमान प्रमाण के आधार पर दी गयी युक्तियाँ में अनेक दोष पाये जाते हैं जो कि निम्नांकित हैं -

कार्यत्व हेतु का निराकरण करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि आपका यह कहना ठीक नहीं है कि पृथ्वी आदि किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा बनाये गये हैं, कार्य होने से, घट की तरह। क्योंकि इस अनुमान में व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता। 'प्रमाण द्वारा व्याप्ति के सिद्ध होने पर ही साधन से साध्य का ज्ञान होता है' यह सर्ववादियों द्वारा सम्मत है। यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने शरीर धारण करके (सशरीर) जगत् को बनाया है तो वह शरीर दृश्य है अथवा पिशाच की तरह अदृश्य ? यदि वह शरीर दृश्य था, तो इसमें प्रत्यक्ष से बाधा आती है, क्योंकि हमें ऐसा कोई दृश्यशरीरवाला ईश्वर दिखाई नहीं देता। जो घास, वृक्ष, इन्द्रधनुष, बादल आदि की सृष्टि करता हो। इसलिए जहाँ-जहाँ कार्यत्व है वहाँ-वहाँ सशरीरकर्तृत्व है, यह व्याप्ति नहीं बनती। अतएव कार्यत्व हेतु साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास होने से दोषपूर्ण है।(51)

यदि यह कहो कि ईश्वर अदृश्य शरीर से सृष्टि करता है तो ईश्वर के अदृश्य होने में कारण क्या है- शरीराभाव, विद्यादिप्रभाव अथवा जातिविशेष ? ईश्वर में शरीराभाव मानना तो ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर रहित ईश्वर में कार्यकर्तृत्व नहीं बन सकता। ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के द्वारा ईश्वर में कर्तृत्व मानना तभी संभव है जब ज्ञानादि का आश्रय शरीर का सद्भाव हो। शरीर के अभाव में मुक्तात्मा की तरह ईश्वर ज्ञानादि का आश्रय भी नहीं हो सकता। अब यदि विद्यादि का प्रभाव ईश्वर के अदृश्य होने में कारण है तो ईश्वर को कभी तो दृश्य होना चाहिए, सर्वदा अदृश्य नहीं। पिशाचादि की तरह जाति-विशेष के ईश्वर के अदृश्य होने में कारण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि एक व्यक्ति में जाति विशेष नहीं होता है वह तो अनेक व्यक्तिनिष्ठ माना गया है।(52)

ईश्वर को अदृश्य मान लेने पर भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि ईश्वर क्षित्यादि का कर्ता किस कारण से होता है - सत्तामात्र से, ज्ञानवान होने से, अथवा ज्ञानेच्छा-प्रयत्नवान् होने से ? यदि ईश्वर सत्तामात्र से क्षित्यादि (पृथ्वी आदि) कार्यों का कर्ता होता है तो कुम्भकारादि भी क्षित्यादि के कर्ता हो जायेंगे, क्योंकि सत्तामात्र तो इनमें भी विद्यमान है। ज्ञानवान होने से ईश्वर को क्षित्यादि का कर्ता मानने पर योगियों में भी क्षित्यादि के कर्तृत्व का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि ज्ञानवान् तो वे भी हैं। अब यदि ईश्वर को ज्ञानेच्छाप्रयत्नवान मानकर क्षित्यादि का कर्ता सिद्ध किया जाता है तो ऐसा

करना भी संगत नहीं है, क्योंकि शरीर रहित प्राणी के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न का होना संभव नहीं है।[53]

तथा ईश्वर को अशरीर सृष्टा मानने में दृष्टान्त व दृष्टान्तिक विषम हो जाते हैं, क्योंकि घटादिक कार्य शरीर सहित कर्ता के बनाये हुए ही देखे जाते हैं; फिर आकाश की तरह अशरीर ईश्वर किस प्रकार कार्य करने में समर्थ हो सकता है ? इस कारण सशरीर और अशरीर दोनों पक्षों में कार्यत्व हेतु की सकर्तृत्व साध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।[54] एक अन्य आपत्ति यह है कि ईश्वर को सशरीर माना जाए तो ईश्वर को अदृष्ट का विषय होना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण शरीर अदृष्ट से ही निश्चित होते हैं। इस प्रकार ईश्वर को अशरीरी भी नहीं माना जा सकता है।

तथा आपके मत में कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है, क्योंकि जगत्रूपधर्मी के इस देश, इस काल में उत्पन्न वृक्ष, विद्युत, मेघ आदि किसी कर्ता के द्वारा बनाये हुए नहीं देखे जाते हैं, इसलिए यहाँ प्रत्यक्ष से बाधित धर्मों के अनन्तर हेतु का कथन किया गया है अतएव यह हेतु दोषपूर्ण है।

जगत् को अकर्तृत्व सिद्ध करने वाले अनेक प्रत्यनुमानो* की मौजूदगी होने से आपके ये सब हेतु प्रकरण-सम है। ये विपरीत अनुमान विरुद्ध प्रकरण की चिन्ता उपस्थित करके मूल हेतु की सामर्थ्य रोक देते हैं। अकर्तृत्व साधक अनुमान ये हैं - ईश्वर जगत् का रचने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पास जगत् को रचने के उपकरण आदि कारण सामग्री नहीं है। जैसे - दण्ड, चक्र व चीवर आदि उपकरणों से रहित कुम्हार घड़े को नहीं बनाता। वैसे ही ईश्वर भी बिना सामग्री के जगत् की रचना नहीं कर सकता। इसी तरह ईश्वर इस सृष्टि का विधाता नहीं है, क्योंकि वह सर्वव्यापी होने से क्रिया शून्य है जैसे कि आकाश। जो स्वयं बिल्कुल निष्क्रिय है उससे इस जगत् की उत्पत्ति की क्रिया नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार ईश्वर इस विचित्र जगत् का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह एक है, एक स्वभाववाला है जैसे कि आकाश इत्यादि अनेकों अनुमान उपस्थित किये जा सकते हैं।[55]

जगत् के निर्माण में ईश्वर की प्रवृति कैसे होती है ? अपनी रुचि के अनुसार, कर्म की परतंत्रता से, करुणा के द्वारा, क्रीड़ा से, निग्रह-अनुग्रह के लिए अथवा स्वभाव से ईश्वर की प्रवृति होती है। अपनी रुचि के अनुसार जगत् के निर्माण में प्रवृति मानने पर यह दोष आता है कि कभी इस सृष्टि से भिन्न विलक्षण प्रकार की सृष्टि भी उत्पन्न हो सकती है। ईश्वर तो स्वतंत्र है, उसकी इच्छा पर कोई अंकुश नहीं है। अत: उसके द्वारा दूसरे प्रकार के जगत् बनाने की इच्छा होना संभव है, परन्तु अभी तक इस जगत् का एक ही रूप एक-ही नियम देखा व सुना जाता है, अन्य प्रकार की सृष्टि न तो देखी गयी है और न सुनी ही गयी है। यदि ईश्वर प्राणियों के कर्म के अनुसार सृष्टि करता है तो ईश्वर की स्वातंत्र्य हानि का प्रसंग आता है। यदि ईश्वर अदृष्ट के अधीन होकर कार्य करता है तो अदृष्ट को ही सृष्टिकर्ता मान लीजिए, ईश्वर की कल्पना करने से क्या लाभ है ? यदि ईश्वर अदृष्टाधीन है तो जगत् को ही अदृष्टाधीनमान लीजिए, दोनों के बीच में ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है? यदि ईश्वर करुणा के द्वारा जगत् के निर्माण में प्रवृति

करता है तो सभी प्राणियों को सुखी होना चाहिए, फिर दु:खी प्राणी क्यों देखे जाते हैं ? यदि ईश्वर क्रीड़ा के लिए सृष्टि की रचना करता है तो वह रथ्यापुरुष तथा बालक के समान ज्ञानवान् और वीतराग नहीं हो सकता है। किसी का निग्रह और किसी का अनुग्रह करने के लिए प्रवृति करने पर वह रागी और द्वेषी सिद्ध होता है। अब यदि ईश्वर स्वभाव से ही जगत् के निर्माण में प्रवृति करता है तो अचेतन पदार्थों की स्वभाव से ही अपने-अपने कार्यों में प्रवृति हो। तब उनका एक अधिष्ठाता मानने की क्या आवश्यकता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है।[56]

"ईश्वर जगत का कर्ता है" यह निराकृत होने के पश्चात् आपके द्वारा मान्य ईश्वर एक, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, स्वतंत्र व नित्य है, यह भी सिद्ध नहीं होता है।

आपकी यह मान्यता "ईश्वर एक है, क्योंकि अनेक ईश्वर होने से जगत् में क्रम व एकरूपता नहीं रह सकती" एकान्त रूप से सत्य नहीं है; क्योंकि जैसे - अनेक मधुमक्खियाँ एक साथ मिलकर मधुकोश का निर्माण करती हैं अथवा कई शिल्पी मिलकर गृह का निर्माण करते हैं फिर भी मधुकोश व गृह के निर्माण में क्रम व एकरूपता देखी जाती है।

ईश्वर सर्वव्यापी भी नहीं हो सकता; क्योंकि उसके सर्वव्यापी होने से प्रमेय पदार्थों के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। ईश्वर का सर्वज्ञत्व भी किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं सर्वज्ञत्व प्राप्त किये बिना हम प्रत्यक्ष से ईश्वर का साक्षात् ज्ञान नहीं कर सकते। अनुमान से भी हम ईश्वर को नहीं जान सकते, क्योंकि वह बहुत दूर है, इसलिए सर्वज्ञत्व को सम्बद्ध किसी भी हेतु से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। सर्वज्ञत्व के बिना जगत् की विचित्र रचना नहीं हो सकती - इस अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जगत् की विचित्रता की व्याप्ति सर्वज्ञत्व के साथ नहीं है। आगम प्रमाण से भी हम सर्वज्ञ को नहीं जान सकते, क्योंकि वेद आदि आगम पूर्वापरविरोध आदि दोषों से युक्त हैं, इसलिए विश्वसनीय नहीं हैं।

ईश्वर को स्वतंत्र कहना भी दोषयुक्त है; क्योंकि यदि वह स्वतंत्र है तो वह दु:खों से परिपूर्ण विश्व की रचना क्यों करता है ? अन्यथा ईश्वर को क्रूर और निर्दय मानना चाहिए।

यदि ईश्वर नित्य है तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि सर्वथा नित्य ईश्वर सतत क्रियाशील है अथवा अक्रियाशील ? ईश्वर को सतत क्रियाशील मानने पर कोई भी कार्य कभी समाप्त नहीं हो सकेगा तथा अक्रियाशील मानने पर ईश्वर जगत् का निर्माण नहीं कर सकता।[57]

आगम प्रमाण -

आगम से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि ईश्वर को सिद्ध करने वाला आगम ईश्वर का बनाया हुआ है या किसी दूसरे का ? यदि वह आगम ईश्वर प्रणीत होकर ही ईश्वर की सिद्धि करता है तो ईश्वर की महान क्षति होगी; क्योंकि महात्मा लोग स्वयं ही अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करते हैं तथा ईश्वर शास्त्र का कर्ता सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि शास्त्र अक्षररूप होता है तथा अक्षर तालु आदि से उत्पन्न होते हैं यह तालु

आदि का व्यापार शरीर पुरुष के ही संभव है। यदि ईश्वर को सशरीर मानोगे तो ईश्वर में पूर्वोक्त दोष मानने पड़ेंगे। यदि आप कहें कि ईश्वर को सिद्ध करने वाला आगम दूसरे का बनाया हुआ है तो वह दूसरा पुरुष सर्वज्ञ है या असर्वज्ञ? यदि वह सर्वज्ञ है तो ईश्वर के द्वैत का प्रसंग होने से आपने जो पहले ईश्वर को एक माना है उसमें बाधा उपस्थित होगी तथा अन्य पुरुष को सर्वज्ञ मानने पर बहुत से पुरुषों के सर्वज्ञ स्वीकार करने में अनवस्था दोष आवेगा तथा यदि आगम का प्रणेता अन्य पुरुष अंसर्वज्ञ है तो उसे वचनों में विश्वास कौन करेगा ?[58]

दूसरी बात आपके आगम में कथित वचन पूर्वापर विरोधी होने से अविश्वसनीय हैं, अप्रमाण हैं। अत: ईश्वर की सिद्धि में दिया जाने वाला आगम प्रमाण स्वयं अप्रमाणित होने से ईश्वर के प्रमाण्य (अस्तित्व) को सिद्ध नहीं करता।[59]

पं. सदासुखदास जी कृत अर्थप्रकाशिका टीका में लम्बी प्रश्नोत्तर श्रृंखला के द्वारा सर्वशक्तिमान ईश्वर का कर्ता कौन है, यह तर्क करते हुए ईश्वर के द्वारा जगत् कर्तृत्व को सभी प्रकार से असंभव बताया है और लोक अथवा जगत् के अनादिस्वभाव को ही युक्तियुक्त प्रतिपादित किया है।[60]

मोक्षमार्गप्रकाशक के पंचम अध्याय में भी विभिन्न मतों के निराकरण के अन्तर्गत सृष्टिकर्तावाद का निराकरण गंभीर तर्क-विर्तकों के साथ किया गया है और अंत में लोक के अनादिनिधन स्वरूप को युक्तिपरक रूप से प्रतिपादित किया गया है।[61]

8. सांख्यदर्शन प्रणीत जगत् व्यवस्था :-

सांख्य के निरीश्वर सांख्य[62] व सेश्वर सांख्य[63] ऐसे दो भेद हैं। निरीश्वर सांख्यवादी प्रकृति को जगत् का कर्ता मानते हैं और सेश्वर सांख्यवादी ईश्वर व प्रकृति दोनों को जगत् का कर्ता मानते हैं। सर्वप्रथम यहाँ पर सांख्यदर्शन का मन्तव्य प्रस्तुत किया जाएगा कि प्रकृति द्वारा जगत् की व्यवस्था कैसे संभव है :-

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि प्रकृति से ही निर्मित है। सांख्यकारिका में कहा गया है कि -

प्रकृते र्महांस्तोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोऽशक:।
तस्मादपि षोऽकत् पंचभ्य: पंच भूतानि ॥[64]

अर्थात् प्रकृति से महत् (बुद्धि), महत् से अहंकार, अहंकार से सोलहगण, सोलहगण से पंचभूत प्रादुर्भूत होते हैं। सर्वप्रथम प्रकृति से विषय का निश्चय कराने वाली बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होती है, बुद्धि से 'मैं सुभग हूँ' इत्यादि अहंकार पैदा होता है - अहंकार से रूपरसादि पंचतन्मात्रायें एवं ग्यारह इन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती हैं तथा पंचतन्मात्रायें से पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ये प्रधानस्वरूप 24 तत्त्व हैं एवं पच्चीसवां तत्त्व पुरुष है।

प्रकृति की दो अवस्थायें हैं - व्यक्त और अव्यक्त। सांख्यमतानुसार प्रधान अर्थात् कारणभूत प्रकृति अव्यक्त है, किन्तु महत्-अहंकारादि कार्यरूप प्रकृति व्यक्त है। यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही प्रकार का प्रधान सत्त्वादि तीन गुण युक्त, विवेक

रहित, विषयभूत, सामान्य रूप, अचेतन व प्रसवधर्मी है और पुरुष तत्त्व व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही तत्त्वों से विपरीत होता है।[65] व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति में समानता होने के साथ-साथ कुछ भिन्नता भी है जो इस प्रकार है- "व्यक्त प्रधान हेतुत्वमान *, अनित्य, अव्यापक, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिंग*, सावयव व परतंत्र है तथा इसके विपरीत अव्यक्त प्रकृति है।"[66]

(क) सांख्य दर्शन प्रणीत प्रकृतिकर्तृत्व का जैनदर्शन सम्मत खण्डन -

जैनदर्शन सांख्यदर्शन प्रणीत जगत् की प्रकृतिकर्तृत्व व्यवस्था में दूषण बतलाकर एवं उसे असिद्ध सिद्धकर जगत् के अनादिनिधन स्वभाव की सिद्धि करता है।

सांख्य ने प्रकृति के द्वारा जो सृष्टि क्रम बतलाया है वह युक्तिसंगत नहीं है उसकी सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं होती। प्रकृति को सिद्ध करने के लिए जो पांच हेतु दिये जाते हैं उनमें अनेक दोष आने के कारण वे प्रकृति को सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

जैनाचार्यों का कहना है कि प्रकृति द्वारा उत्पन्न जगत् (तेईस तत्त्वों की उत्पत्ति) के सम्बन्ध में सबसे मुख्य आपत्ति यह है कि तत्त्वसृष्टि करनेवाली प्रकृति स्वभाव से ही तत्त्वसृष्टि में प्रवृत होती है अथवा किसी निमित्त का आश्रय लेकर सृष्टि में प्रवृति करती है? प्रथम पक्ष में स्वभाव से प्रकृति की प्रवृति मानने पर उसकी प्रवृत्ति निरंतर होना चाहिए और उसमें कभी विराम नहीं होना चाहिए। चैतन्य शून्य प्रकृति में इतनी ही तत्त्वसृष्टि है इत्यादि प्रकार का विकल्प नहीं हो सकता है।

अब यदि ऐसा माना जाए कि प्रकृति किसी निमित्त का आश्रय लेकर तत्त्वसृष्टि करती है तो वह निमित्त क्या है - पुरुष की प्रेरणा अथवा पुरुषार्थ कर्त्तव्यता* ? पुरुष की प्रेरणा को निमित्त नहीं माना जा सकता है, क्योंकि पुरुष स्वभावत: अभिलाषारहित और निष्क्रिय है। पुरुषार्थ कर्त्तव्यता भी तत्त्वसृष्टि में निमित्त नहीं होती क्योंकि निरभिलाष होने के कारण पुरुष के लिए किसी अर्थ को उत्पन्न करना बन ही नहीं सकता तथा जड़ प्रकृति भी पुरुष के किसी प्रयोजन का सम्पादन नहीं कर सकती है। निरभिलाष पुरुष का कोई अर्थ अथवा प्रयोजन संभव ही नहीं है। इस प्रकार प्रकृति से महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति बतलाना तर्कसंगत नहीं है।[67]

यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि प्रकृति से महत् आदि तत्वों का जो प्रपच्च उत्पन्न होता है वह प्रकृति से भिन्न होता है अथवा अभिन्न ? कारण कि महदादि भेदों को प्रकृति स्वरूप मानने पर कार्यपने से प्रकृति से प्रवृति होने में विरोध आता है, क्योंकि जो जिससे सर्वथा अभिन्न होता है वह उसका कारण अथवा कार्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कारण व कार्य भिन्न-भिन्न लक्षण वाले होते हैं, अन्यथा उनकी व्यवस्था में सांकर्य होगा। ऐसी स्थिति में आपके द्वारा मूल प्रकृति को कारण मानना, बुद्धि, अहंकार और पंचतन्मात्राओं पूर्वोत्तर की अपेक्षा से कार्य और कारण रूप दोनों मानना तथा एकादश इन्द्रियों को व पंचभूत को केवल कार्य ही मानना यह असिद्ध हो जाएगा।[68] साथ ही साथ आपका यह कथन भी असंगत होगा। तथाहि -

"मूल प्रकृतिविकृति: महादाद्य: प्रकृति विकृतय: सप्त: ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति: न विकृति: पुरुष:॥"[69]

मूल प्रकृति विकार रहित और महदादि सप्त तत्त्व प्रकृति व विकृति दोनों रूप होते हैं। शेष सोलह तत्त्व केवल विकार रूप हैं पुरुष तत्त्व न प्रकृति है और न विकृति है।

पुन: सभी पदार्थों को परस्पर में अव्यतिरेक स्वीकार करने पर या तो वे कार्य रूप अथवा कारण रूप ही सिद्ध होंगे; क्योंकि कार्य-कारण भाव आपेक्षिक होता है। किन्तु रूपांतर स्वरूप अपेक्षणीय वस्तु का अभाव होने से सभी पदार्थों के पुरुष के समान प्रकृति का विकृतिपना होने से अभाव प्राप्त हो जाता है। अन्यथा पुरुष को भी प्रकृति के विकृति की संज्ञा प्राप्त होगी।[70] लोक में कार्य-कारण भाव अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ज्ञात होता है, किन्तु प्रधान से महदादि की उत्पत्ति का निश्चायक अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान किसी प्रमाण से न होने के कारण प्रकृति और महदादि में कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता।[71]

आपका यह मत भी युक्तिसंगत नहीं है कि व्यक्त हेतुमत् अनित्यादि धर्मयुक्त हैं और अव्यक्त इसके विपरीत धर्मयुक्त है, क्योंकि जो जिससे अभिन्न स्वभावी होता है वह उससे विपरीत नहीं होता, क्योंकि भिन्न स्वभावी होना ही विपरीत का लक्षण है। यदि ऐसा न हो तो भेद का व्यवहार ही समाप्त होगा। तथा विपरीत (भिन्न स्वभावी) न हो तो सत्त्व, रज और तम का परस्पर में भिन्न स्वभाव के निमित्त से होने वाला भेद नहीं रहेगा और सम्पूर्ण विश्व एकरूप हो जाएगा। अत: व्यक्त से अभिन्न जो अव्यक्त है उसके भी व्यक्त स्वरूप के समान हेतुमत्व, अनित्यत्वादि धर्मों का योग स्वीकार करना होगा। अथवा व्यक्त को अहेतुमत्व आदि धर्मों का योग स्वीकार करना होगा, क्योंकि वह अव्यक्त स्वरूप से अव्यतिरिक्त है जैसे उसका स्वरूप अव्यतिरिक्त है। इस प्रकार एक ही व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप प्रधान को मानने का प्रसंग आता है।[72] प्रकृति से बुद्धि का प्रादुर्भाव मानना तो हास्यास्पद ही है, क्योंकि अचेतन प्रकृति से चेतन के धर्म स्वरूप बुद्धि का निर्माण कैसे संभव है ?

कूटस्थ नित्य पदार्थ में कारणभाव असिद्ध है, क्योंकि नित्य में क्रम अथवा अक्रम से अर्थक्रिया होने में विरोध है। दोनों ही पक्षों और अनेक दोष आने के कारण सर्वथा नित्य प्रकृति न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत्। इस दोष को दूर करने के लिए सांख्य प्रकृति में परिणमन को स्वीकार करते हैं तो प्रकृति में सर्वथा नित्यत्व के व्याघात का प्रसंग आता है, जो कि आपके मत के विरुद्ध है।[73]

सत्कार्यवाद की सिद्धि हेतु दिये गये असत्करणात् इत्यादि पंच हेतु विपक्षभूत असत्कार्यवाद को ही सिद्ध कर देते हैं। सत्कार्यवाद के द्वारा कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता है इसका विचार हम पूर्व में 'निमित्तोपादान' नामक अध्याय में कर चुके हैं यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करना मात्र पिष्टपोषण ही होगा।

प्रमेयरत्नमाला में आचार्य अनंतवीर्य ने विस्तार से प्रकृति के स्वरूप पर प्रकाश डालकर प्रमाण व तर्क-युक्तिपूर्वक यह सिद्ध किया है कि प्रकृति की सत्ता किसी भी प्रमाण से निश्चित नहीं होती। यदि किसी प्रकार सत्ता को संभव मान भी लिया जाए तो उससे महत् आदि कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।[74] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सांख्यदर्शन प्रणीत प्रकृति के द्वारा जगत् कर्तृत्व संभव नहीं है।

9. सेश्वर सांख्य अथवा योगदर्शन में मान्य जगत् व्यवस्था एवं उसका खण्डन :-

सांख्य व योगदर्शन समानतंत्र माने गये हैं। सांख्य दर्शन अचेतन प्रकृति द्वारा जगत् के उद्भव एवं विकास की व्याख्या करता है, किन्तु योगदर्शन का मानना है कि अचेतन प्रकृति बिना किसी चेतन अधिष्ठाता के महदादि कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकता और वह चेतन सामान्य आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि सृष्टिकाल में वह स्वयं अज्ञानी रहता है अत: वह चेतन अधिष्ठाता ईश्वर है जो अज्ञान, क्लेश और आशयों से असंपृक्त है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा अनादियुक्त है। वह ईश्वर प्रकृति को जन्म नहीं देता, किन्तु वह प्रकृति के साम्य को निष्क्रियता की अवस्था से विचलित कर देता है और बाद में एक ऐसी चेतन व्यवस्था के अनुगमन में उसका सहायक होता है जिससे कि कर्मों का फल ठीक तरह से विभाजित हो सके।

जैन आचार्य योगदर्शन के उक्त मन्तव्य को तर्कसंगत नहीं मानते हैं उनका कहना है कि अकेला प्रधान व अकेला ईश्वर कार्य करने में समर्थ नहीं है, परन्तु दोनों परस्पर सापेक्ष होकर कार्य करते हैं, क्योंकि जब प्रधान व ईश्वर में पृथक-पृथक कर्तृत्व संभव नहीं है तो दोनों सम्मिलित अवस्था में भी कार्य नहीं कर सकते। सम्मिलित अवस्था में कार्य तभी कर सकते हैं, जब वे एक दूसरे में अतिशय उत्पन्न करें, परन्तु दोनों के नित्य होने के कारण उनमें कोई अतिशय उत्पन्न नहीं हो सकता है यदि वे दोनों एक साथ मिलकर कार्य करते हैं तो सब कार्यों को एक ही समय में उत्पन्न क्यों नहीं कर देते हैं ?

इस दोष को दूर करने के लिए सेश्वर सांख्य का कथन है कि प्रधान में पाये जाने वाले सत्त्व आदि तीन गुण कार्य की उत्पत्ति में सहकारी कारण होते हैं और ये गुण क्रमवर्ती हैं। अत: कार्य भी क्रम से ही उत्पन्न होते हैं। जब ईश्वर को रजोगुण की सहायता मिलती है तब वह सृष्टि करता है, जब उसको सत्वगुण की सहायता मिलती है तब वह सृष्टि की स्थिति करता है और जब ईश्वर को तमोगुण की सहायता मिलती है तब वह सर्वजगत् का प्रलय करता है।

सेश्वर सांख्य के उक्त कथन में अनेक दोष पाये जाते हैं यहाँ उनसे पूछा जा सकता है कि जब प्रधान और ईश्वर सर्ग, स्थिति और प्रलय इन तीनों में से किसी एक कार्य को करते हैं तब उनमें शेष दो कार्यों के करने की शक्ति रहती है या नहीं ? यदि शक्ति रहती है तो सृष्टिकाल में भी स्थिति और प्रलय का प्रसंग प्राप्त होता है इसी प्रकार स्थितिकाल में उत्पाद और विनाश का तथा विनाशकाल में स्थिति और उत्पाद का प्रसंग बना ही रहता है। यदि एक कार्य के करने के समय शेष दो कार्यों के करने की शक्ति नहीं है तो हम यह कह सकते हैं कि उनमें उसी एक कार्य को करने की ही शक्ति सदा होनी चाहिए और शेष दो कार्यों को करने की शक्ति भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनके उत्पादन में उनकी शक्ति ही नहीं है। इस प्रकार सेश्वर सांख्य द्वारा परिष्कृत किया हुआ पक्ष भी बाधित होता है। इस तरह प्रकृति को सृष्टि का कर्ता मानना अथवा ईश्वर व प्रकृति उभय को कर्ता मानना बाधित होता है।[75]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष फलित होता है कि ईश्वरकृत जगत् व्यवस्था तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति परिणाम रूप जगत् व्यवस्था अनेक दोषयुक्त होने से स्वयं निराकृत होकर जैनदर्शन प्रणीत अनादि-निधन, स्वतंत्र, स्वाधीन जगत् व्यवस्था को पुष्ट करती है और यह सिद्ध करती है कि चित्र-विचित्र जगत् किसी का कार्य अथवा परिणाम न होकर स्वयंकृत, स्वसंचालित, स्वसहाय व स्वाधीन है।

10. कर्तृ-कर्म मीमांसा के द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि :-

कर्ता-कर्म सिद्धान्त जैनदर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि जैनेतर दर्शन जीव व अजीव की भिन्न सत्ता को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु फिर भी उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन का मानना है कि भिन्न सत्ता एवं भिन्न स्वभाव वाले तत्त्वों में किसी भी प्रकार से कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है और यदि कोई सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है तो वे भिन्न नहीं रह सकते। चेतन व अचेतन (जड़) द्रव्यों में कर्ता-कर्म सम्बन्ध तभी संभव है जब दोनों एक हो, परन्तु उनका एक होना असंभव है, क्योंकि कोई द्रव्य अपना स्वरूप छोड़कर अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। अत: कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी असंभव है। कर्ता-कर्म की व्यवस्था एक ही पदार्थ में होती है व होनी चाहिए। यदि वह दो पदार्थों में स्वीकार की जाती है तो कर्ता एक पदार्थ होगा, कर्म दूसरा पदार्थ होगा और कर्मफल की व्यवस्था किसी तीसरे पदार्थ में होगी। इस प्रकार कर्ता-कर्म एवं कर्मफल की व्यवस्था ही चरमरा जाएगी और जहाँ पर कार्य की निष्पत्ति में अनेक पदार्थ होंगे तो वहाँ कर्ता का निश्चय ही नहीं हो सकेगा। इसलिए जैनदर्शन में यह मान्य किया गया है कि एक परिणाम के कर्ता दो पदार्थ नहीं होते और एक पदार्थ के दो परिणाम नहीं होते। प्रतिसमय एक पदार्थ में क्रम से एक ही परिणाम होता है उस परिणाम को ही उसका कर्म कहते हैं। कर्ता-कर्म दोनों व्याप्य-व्यापक भाव से एक पदार्थ में ही होते हैं तभी कर्ता-कर्म का असंदिग्ध व यथार्थ निर्णय होता है।

दूसरी बात, दो द्रव्यों में कर्ता-कर्म की व्यवस्था तब बन सकती है जब एक द्रव्य द्वारा दूसरे द्रव्य का परिणमन संभव हो सके; परन्तु एक द्रव्य के द्वारा दूसरे द्रव्य का परिणमन संभव नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें दो स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं कि स्वपरिणमन शक्ति से रहित द्रव्य को परिणमाता है अथवा स्वयं परिणमन शक्ति से युक्त द्रव्य को परिणमाता है ? प्रथम स्वयं परिणमन शक्ति से रहित द्रव्य को दूसरे द्रव्य के द्वारा परिणमाया नहीं जा सकता; क्योंकि जिसमें शक्ति स्वत: न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता और स्वयं परिणमते हुए को अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं होती है; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती। इस प्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को परिणमित नहीं कर सकता है इसलिए वह उसका कर्ता भी कदापि नहीं हो सकता है।[76] उक्तं च -

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्ध: परद्रव्यात्मतत्त्वयो:।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुत: ॥

परद्रव्य व आत्मतत्व में कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अत: कर्ता-कर्म सम्बन्ध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो

सकता है।[77] विभिन्न द्रव्यों के बीच सर्व प्रकार के सम्बन्ध का निषेध ही वस्तुत: पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा है, क्योंकि पर के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की स्वीकृति परतंत्रता को सूचित करती है तथा अन्य संबंधों की अपेक्षा कर्ता-कर्म सम्बन्ध सर्वाधिक परतंत्रता का सूचक है। यही कारण है जैनदर्शन में कर्तृत्व का पूर्णत: निषेध किया गया है तथा - वस्तु की स्वतंत्र परिणमनशीलता की उद्घोषणा की गयी है। एतावता यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्रतया अपने परिणमन का कर्ता है एवं उसका परिणाम उसका कर्म है। प्रत्येक द्रव्य की इस स्वतंत्र कर्तृ-कर्म व्यवस्था में अन्य द्रव्य का किचिंत् मात्र हस्तक्षेप संभव नहीं है। वस्तु की ऐसे ही स्वतंत्र परिणमन व्यवस्था की परिनिष्पत्ति जैनदर्शन के वस्तुस्वातंत्र्य के पोषक कर्ता-कर्म सिद्धान्त में होती है।

सन्दर्भ - सूची

* *ईश्वर की अध्यक्षता में ही प्रकृति सम्पूर्ण चराचर जगत् को उत्पन्न करती है।*

* *यह जन्तु अज्ञ है अपने सुख-दुख का अनीश है इसलिए ईश्वर से प्रेरित होकर स्वर्ग जाता है या नरक जाता है अर्थात् कौन कहाँ जाये यह उसकी इच्छा पर निर्भर है।*

(1) *पाणिनि व्याकरण।*

(2) *कातंत्र-व्याकरण, सूत्र 380, पृ. 138.*

(3) *समयसार कलश, श्लोक 51.*

(4) *प्रवचनसार, गाथा 184 की तत्त्वप्रदीपिका टीका।*

(5) *कर्मशब्दनोऽनेकार्थ:। क्वचित्कर्तुरीप्सिततमेवर्तते-यथा घटं करोतीति। क्वचिपुण्यापुण्यवचन: "यथा कुशलाऽकुशलं कर्म" (आ. मी. श्लो. 8) इति। क्वचित्क्रियावचन: यथा- "उत्क्षेपणवक्षेपणमा कुच्चनं प्रसारणं गमनमिति कार्माणि" (वैशे. 1/1/17) इति। तत्रेह क्रियावचनो ग्रहणं। राजवार्तिक, भाग-2, अध्याय 6, सूत्र 1.*

(6) *यथा कर्मणि द्वितीयेति। तथा क्रिया वचनोऽपि अस्ति। किं कर्म करोषि। कां क्रियामित्यर्थ:। इह क्रियावाची गृहीत:।*
भगवती आराधना भाग 1, गाथा 20 की विजयोदया टीका, पृ. 42.

(7) *सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 6, सूत्र 1, पृ. 318.*

(8) *कातंत्र-व्याकरण, सूत्र 381, पृ. 138.*

(9) *राजवार्तिक, भाग - 2, अध्याय 6, सूत्र 1, पृ. 504.*

(10) *भगवती आराधना, भाग 1, गाथा 20 की विजयोदया टीका, पृ. 42.*

(11) *समयसार कलश, श्लोक 51.*

(12) *प्रवचनसार, गाथा 117 की तत्त्वप्रदीपिका टीका.*

(13) *राजवार्तिक, भाग-2, अध्याय 6, सूत्र 1.*

(14) (क) *समयसार, गाथा 76 की आत्मख्याति टीका का पंडित जयचंद छावड़ाकृत भावार्थ, पृ. 142.*
(ख) *समयसार (आत्मख्याति टीका) पर सहजानंद वर्णीकृत सप्तदशांगी टीका, पृ. 161.*

(15) *पं. रत्नचंद भारिल्ल, 'समयसार - एक सरल अध्ययन', मनीषियों की दृष्टि में समयसार, जयपुर, 1989, पृ. 7.*

* *तत्स्वरूप - अभिन्न सत्तावान पदार्थों में होती है।*

(16) *व्याप्यव्यापकता तदात्मानि भवेन्नैवातदात्मन्यति।*
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थिति: ॥
समयसार कलश, पृ. 47.

(17) *समयसार (आत्मख्याति टीका), पृ. 140.*

(18) समयसार कलश, श्लोक 49, पृ. 48.

(19) प्रवचनरत्नाकर, भाग 3, पृ. 145-146.

(20) यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
य परिणति क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥

(21) समयसार कलश, पृ. 184.

(22) आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयनात्मैव परिणामिनः परिणामस्वरूप कर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वाह् । .... तत् आत्मात्मस्वरूपेण परिणमति न पुद्गलस्वरूपेण परिणमति । पृ. 251.

(23) जहं भावं सुहमसुहं करोदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदणो अप्पा ॥

(24) जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
शुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सहभावो ॥

(25) यदाऽयमात्माशुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति तदा जवातापिच्छ रागपरिणटस्फटिकवत् परिणामस्वभावः सन् शुभोऽशुभश्च भवति । यदा पुनः शुद्धेनारागभावेन परिणमति तदा शुद्धरागपरिणत स्फटिकवत्परिणामस्वभावः सन् शुद्धो भवतीति सिद्धं जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वम् ।
प्रवचनसार (तत्त्वप्रदीपिका टीका), पृ. 14.

(26) कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं ।
सो तस्स तेण कत्ता हवदि त्ति य सासणे पढ़िदं ॥

(27) ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरधाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीहि विविहाणि ॥
समयसार, गाथा 98.

(28) जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णाम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥
समयसार, गाथा 103.

(29) यदि खल्वमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथा- नुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात् न च द्रव्यांतरमयव्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोऽस्ति । ततो व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्तास्ति ।
समयसार, गाथा 99 की आत्मख्याति टीका, पृ. 181.

(30) नान्यद्रव्यपरिणाममन्यद्रव्यप्रपद्यते ।
स्वान्यद्रव्यस्थेयं परस्य घटते कथम् ॥
योगसार, अधिकार 3, गाथा 16.

(31) जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति ।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥ 80 ॥
ण वि कुव्वादि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥ 81 ॥
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ 82 ॥

(32) (क) जीव पुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य पुद्गल-परिणामानां पुद्गलकर्मणोऽपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वसिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्या प्रतिषिद्धत्वादिरेतर निमित्त मात्रीभवनेनैव द्वयोरपिपरिणामः ।
समयसार, गाथा 80-81-82 की आत्मख्याति टीका.

(ख) पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) श्लोक 575-576.

(33) यथा कुंभकारनिमित्तेन मृत्तिका घटरूपेण परिणमति तथा जीवसंबंधिमिथ्यात्व-रागादि परिणामहेतुं लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमति। .... यद्यप्युपादानरूपेण न करोति तथात्यन्योन्यनिमित्तेन घटकुंभकारयोरिव परिणामं जानीहि द्वयोरपि जीवपुद्गलयोरिति।
समयसार, गाथा 80-81-82 की तात्पर्यवृति टीका.

(34) ववहारस्य दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं।
त चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥
समयसार, गाथा 84.

(35) जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो किरियावदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं ॥
जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकोरियावादिणो हुति ॥
समयसार, गाथा 85-86.

(36) क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थितया प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च... सर्वज्ञावमत: स्यात्।
समयसार, गाथा 85 की आत्मख्याति टीका पृ. 154.

(37) एवं संपद्यते दोष: सर्वथापि दुरुत्तर:।
चेतनाचेतन द्रव्य विशेषाभाव लक्षण: ॥
योगसार, अधिकार 2, गाथा 30.

(38) गुणसंक्रान्तिमृते यदि कर्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्ता।
सर्वस्य सर्वसंकरदोष: स्यात् सर्वशून्यदोषाश्च ॥
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) श्लोक 574.

(39) नोभौ परिणमत: खलु परिणामो नोभयो: प्रजायेत।
उभयोर्न परिणति: स्वाद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥
समयसार कलश, श्लोक 53.

(40) नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥
समयसार कलश, श्लोक 54.

(41) समयसार, गाथा 105, 106, 107, 108.

(42) माऽकर्तारमयी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हता:
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादश:।
ऊर्ध्वम् तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥

(43) जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणस्सि ॥
समयसार, गाथा 126.

(44) (क) एवमय आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोऽपि ममेव भावमात्मन: करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत।... अज्ञानिन: तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंत-प्रत्यस्तमितविविक्तात्म-ख्यातित्वाद- ज्ञानमय एव स्यात् ॥
समयसार (आत्मख्याति टीका) पृ. 205.

(ख) ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेममज्ञानमग्नमहसो बत ते वराका:।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्म कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्य: ॥
समयसार कलश, श्लोक 202.

(ग) द्रष्टव्य है - समयसार गाथा 328, 329, 330, 331.

(45) समयसार, गाथा 130-131 की आत्मख्याति टीका का पंडित जयचंद छावड़ा कृत भावार्थ, पृ. 211.

(46) समयसार (आत्मख्याति टीका) कलश 205 का पंडित जयचंद छावड़ा कृत भावार्थ, पृ. 530.

(47). यथात्र लोके दृष्टिदृश्यादव्यंतविभक्तवेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, ... किन्तु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबन्धं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति ।

समयसार (आत्मख्याति टीका) पृ. 506.

(48) शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणतजीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति । .... जाणदि य बंध मोक्खं जानाति च । कौ ? बंधमोक्षौ । न केवलं बंध मोक्षौ कम्मुदयं णिज्जरं चेव शुभाशुभरूपं कर्मोदयं सविपाकविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरा चैव जानातिइति ।

समयसार (तात्पर्यवृति टीका), पृ. 322.

(49) ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवर एउँ भणेइ ॥
अध्याय 1, श्लोक 68, पृ. 68.

(50) कार्यायोजनधृत्यादे: पदात् प्रत्यमत: श्रुते: ।
वाक्यात् संख्याविशेषाश्च साध्यो विश्वविदव्यज: ॥
न्यायकुसमांजलि, पंचमस्तवक, पृ. 168.

(51) (क) अथ कथमिव तव्कुहेवाकानां बिडम्बनारूपत्वम् इति । ब्रूम: । यत्तावदुक्तं परै: क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तका: कार्यत्वाद् घटवदिति । तदयुक्तम् । व्याप्तरेगृहणात् । "साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेत्" इति सर्ववादिसम्वाद: । .... प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाध:, तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत् साधारणानैकान्तिकौ हेतु:।

स्याद्‌वाद मंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक 6, पृ. 32.

(ख) यत्तावत् - क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्व सिद्धये साधनमुक्तम्, तत्किं सावयवत्वम्, प्रागसत: स्वकारणसत्तासमवाय: कृतमं इति प्रत्यय-विषयत्वम् विकारित्वं वा स्यात् ? .... अत: कार्यस्वरूपस्य विचार्यमाण- स्यानुपपत्ते: असिद्धो हेतु: ।

न्यायकुमुदचंद्र, भाग - 1, पृ. 101.

(ग) प्रमेयरत्नमाला, पृ. 64.

(घ) षड्‌दर्शन समुच्चय, पृ. 171-175.

(52) (क) अस्तु वा तत् सद्भाव: तथापि अस्याऽदृश्यत्वे शरीराभाव: कारणम् । विद्यादिप्रभाव:, जाति विशेषो वा ? न तावत् शरीराभाव: ; अशरीरस्य कार्यकर्तृत्वानुपपत्ते: । ... पिशाचादिवत् जातिविशेषोस्याऽदृश्यत्वे हेतु:, इत्यप्यसुन्दरम, एकस्यजातिविशेषाऽसंभवात् अनेकव्यक्ति-निष्ठात्वात्तस्य ।

न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-1, पृ. 105.

(ख) स्याद्‌वादमंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक 6, पृ. 33

(53) (क) अस्तु वाऽदृश्योऽसौ, तथापि सत्तामात्रेण, ज्ञानवत्त्वेन, ज्ञानेच्छा-प्रयत्नत्त्वेन, तत्पूर्वकव्यापारेण, ऐश्वर्येण वा क्षित्यादे: कारणं स्यात् ?... उभयमपि अशरीरे न सम्भवत्त्येव ।

न्यायकुमुदचंद्र, भाग-1, पृ. 106.

(ख) षड्‌दर्शन समुच्चय, पृ. 181-182.

(54) अशरीरश्चेत तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम् । घटादयो हि कार्यरूपा: सशरीरकर्तृका दृष्टा: । ... तस्मात् सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतो-र्व्याप्त्यसिद्धि ।
स्याद्वादमंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक 6, पृ. 33.

* **प्रत्यनुमान** - विपरीत अनुमान ।

(55) प्रकरणसमाश्चामी, प्रकरणचिन्ताप्रवर्तकानां हेत्वन्तराणां सद्भावात् । तथाहि- ईश्वरो जगत्कर्ता न भवति निरूपकरणत्वात्, दण्डचक्रचीवराद्युपकरणर- हितकुलालवत्, तथा व्यापित्वादाकाशवत्, एकत्वात्तद्वदित्यादय इति ।
षड्दर्शन समुच्चय, पृ. 185.

(56) (क) किंच ईश्वरस्य जगन्निर्माणे यथारुचिप्रवृत्ति: 1, कर्मपारतन्त्र्येण 2, करुणया 3, क्रीडया 4, निगृहानुगृहविधानार्थ 5, स्वभावतो, 6. वा । अथ स्वभावत: तर्ह्यचेतनस्यापि जगत एव स्वभावत: प्रवृत्ति रस्तु किं तत्कर्तृकल्पत्वादभूत- भावित्वादित्योऽपि स्वयमुत्थाप्या:, तुल्याक्षेपसमा- धानत्वात् । षड्दर्शन समुच्चय, पृ. 182-183.

(ख) प्रो. उदयचंद जैन : न्यायकुमुदचंद्र परिशीलन, पृ. 60-61.

(57) स्वाद्वादमंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक 6, पृ. 34-42.

(58) नाप्यागमस्तत्साधक: । स हि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात् ? तत्कृत एव चेत तस्य सर्वज्ञतां साधयति तदा तस्य महत्त्वक्षति: । स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्तनस्य महतामनधिकृतत्वात् । .... असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वास: । वही, पृ. 37-38.

(59) (क) "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" । छान्दोगय उपनिषद्
किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिए ।

(ख) "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" । (एतरेय उपनिषद 6/3)
अग्नि व सोम सम्बन्धी पशु का वध करना चाहिए ।

(ग) "सप्तदश प्राजापात्यान पशूनालभेत" । (तैतरीय संहिता 1/4)
प्रजापति संबंधी सत्रह पशुओं को मारना चाहिए ।

(घ) "नानृत ब्रूयात" । ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात । (आपस्तम्ब सूत्र)
असत्य नहीं बोलना चाहिए । ब्राह्मण के लिए असत्य बोलने में कोई दोष नहीं है ।

(ङ) स्वाद्वाद मंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक 6, पृ. 38-39 ।

(60) अर्थप्रकाशिका, अध्याय 3, पृ. 121-126.

(61) पृ. 99-111.

(62) सांख्यदर्शन के इतिहास को तीन प्रधानयुगों में विभक्त किया जाता है - (1) मौलिक अर्थात् उपनिषद, भगवद्गीता, महाभारत और पुराणों का सांख्य ईश्वरवादी था । (2) दूसरे युग का अर्थात् महाभारत के अर्वाचीन भाग में तथा सांख्यकारिका और वादरायण के सूत्रों में वर्णित सांख्य 'प्रकृतिवाद' के सिद्धान्त से प्रभावित होकर अनीश्वरवादी हो गया (3) तीसरे युग का अर्थात् ईसा की सोलहवीं शताब्दी का सांख्य दर्शन विज्ञानभिक्षु के अधिपतित्व में फिर से ईश्वरवाद की ओर झुक गया ।

(63) योग को सेश्वरसांख्य भी कहा जाता है इस मत में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मानकर एक पुरुष विशेष को ईश्वर माना गया है यह पुरुष विशेष सदा क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और वासना से अस्पृष्ट रहता है ।

(64) सांख्यकारिका, कारिका 21.

(65) त्रिगुणमविवेकि विषय: सामान्य चेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान ॥
वही, कारिका 11.

* हेतुत्वमान - व्यक्त प्रधान से महत् आदि उत्तरोत्तर 24 तत्त्वों की उत्पत्ति होने से उसे हेतुत्वमान भी कहा जाता है।

* लिंग - "लयं गच्छति इति लिंग" प्रलयकाल में व्यक्त प्रकृति अव्यक्त प्रकृति में विलीन होने से उसे लिंग भी कहा जाता है।

(66) हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥
वही, कारिका 10.

* पुरुषार्थकर्त्तव्यता - पुरुष के प्रयोजन हेतु प्रवृति करना।

(67) अस्तु वा ततस्ततिसिद्धि: तथापि प्रकृति: तत्त्वसृष्टौ भूतसृष्टौ च प्रवर्त्तमानां स्वभावत: प्रवर्त्तते किच्विन्निमित्तमाश्रित्य वा? स्वभावत: प्रवृतौ नैयत्येन प्रवृति: प्रवृतिविरागश्च न स्यात्, चैतन्य शून्यस्य एतावत्येव तत्त्वसृष्टि:, ... तत: प्रधानस्य परिणामप्रसराऽनुपस्ते: अयुक्तम् प्रकृतेर्महान इत्यादि।
न्यायकुमुदचंद्र, भाग-1, पृ. 365.

(68) प्रकृत्यात्मकत्वे महदादिभेदानां कार्यतया तत: प्रवृति विरोध:। न खलु यद्यस्मात्सर्वथाऽव्यक्तिरिक्तं तत्तस्य कार्य कारणं वा युक्तं भिन्नलक्षणत्वात्तयो:। ...... तन्नस्यात्।
प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग - 2, पृ. 153.

(69) सांख्यकारिका, कारिका 3.

(70) सर्वेषामेव हि परस्परव्यतिरेके कार्यत्वं कारणत्वं वा प्रसज्येत। .... अन्यथा पुरुषस्यापि प्रकृति विकृतिव्यपदेश: स्यात्।
प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग-2, पृ. 154.

(71) (क) अन्वयव्यतिरेकनिश्चयसमाधिगम्यो लोके कार्यकारणभाव: प्रसिद्ध:। न च प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्पत्तिनिश्चयेऽन्वयो व्यतिरेको वा प्रतीतोस्ति येन प्रधानान्यमहान्महतोऽहङ्कार इत्यादि सिद्ध्येत्। वही, पृ. 154.
(ख) प्रो. उदयचंद जैन : न्यायकुमुदचंद्र परिशीलन, पृ. 198.

(72) हेतुमच्वादिधर्मयोगि व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् .... व्यक्तं वाडहेतुमच्वादि-धर्मयोगि स्यादव्यक्त स्वरूपाव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवदिव्येकान्त:।
प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग - 2, पृ. 154.

(73) (क) न च नित्यस्य कारणभावोस्ति, क्रमाऽक्रमाभ्यां तस्यार्थ क्रियाविरोधात्।.... नापि सर्वात्मना नित्यत्व व्याघातात्।
वही, पृ. 165.
(ख) प्रो. उदयचंद जैन : न्यायकुमुदचंद्र परिशीलन, पृ. 198.

(74) प्रमेयरत्नमाला, पृ. 242-250.

(75) (क) प्रो. उदयचंद जैन : न्यायकुमुदचंद्र परिशीलन, पृ. 200-201.
(ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 2, पृ. 169-173.

(76) समयसार, गाथा 116 की आत्मख्याति टीका।

(77) समयसार कलश, श्लोक 200.

अध्याय - छह
षट्कारक मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1 *अध्याय का विवेच्य विषय*
2 *षट्कारक मीमांसा व वस्तुस्वातंत्र्य*
3 *दर्शन में कारक सिद्धान्त की आवश्यकता*
4 *कारक का लक्षण व भेद*
5 *कारक के भेदों का स्वरूप*
6 *षट्कारक शक्तियों का स्वरूप*
7 *जैनदर्शन में मान्य षट्कारक सिद्धान्त की दो रूपों में व्याख्या*
8 *निश्चयकारक की स्वीकृति का फल*
9 *षट्कारक मीमांसा द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि*

षट्कारक मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1. अध्याय का विवेच्य विषय :-

इस अध्याय के अन्तर्गत सर्वप्रथम षट्कारक मीमांसा व वस्तुस्वातंत्र्य विषयक दृष्टिकोण पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जाएगा। उसके पश्चात् कारक शब्द की व्युत्पत्ति, कारक का लक्षण, षट्कारकों का स्वरूप, दर्शन में कारक सिद्धान्त की आवश्यकता, षट्कारक शक्तियों का स्वरूप, व्यवहार व निश्चय षट्कारक, निश्चयकारक की स्वीकृति का फल और अंत में षट्कारक मीमांसा से वस्तुस्वातंत्र्य सिद्ध कैसे होता है, इसका निरूपण किया जाएगा।

2. षट्कारकमीमांसा व वस्तुस्वातंत्र्य :-

वस्तुस्वातंत्र्य के वृहद परिप्रेक्ष्य में जब जैनसिद्धान्तों का अवलोकन किया जाता है तो उसमें अन्य सिद्धान्तों की भांति षट्कारक सिद्धान्त भी वस्तु की स्वतंत्रता को उद्घाटित अथवा दिग्दर्शित करने वाला एक ऐसा सिद्धान्त प्रतीत होता है, जो यह बतलाता है कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने स्वभाव में निहित षट्कारक व्यवस्था से स्वयमेव स्वतंत्र होती है। उसका कर्ता न तो परद्रव्य (निमित्त कारण) होता है, न ही त्रैकालिक द्रव्य होता है और न ही उसके एक समयपूर्व में होने वाले पर्याय (अनंतरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय) होते हैं, बल्कि उस समय होने रूप प्रत्येक पर्याय ही, स्वयमेव अपने षट्कारक से स्वतंत्रतया व परनिरपेक्ष परिणमित होती है।

उपादान-निमित्त मीमांसा के अन्तर्गत निमित्तकारण, उपादानकारण, अनंतरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय व तत्समय की योग्यता रूप क्षणिक उपादान की चर्चा की गयी है जिसमें तत्समय की योग्यता को कार्य का वास्तविक कारण स्वीकार किया गया है और यह तत्समय की योग्यता रूप पर्याय स्वयं अपने स्वतंत्र षट्कारकों से उत्पन्न होती है, उसे अपने कार्य में परकारकों की अपेक्षा नहीं रहती है। इससे परिलक्षित होता है कि प्रत्येक वस्तु का परिणमन अथवा उसकी पर्यायें स्वतंत्र अपने कारकों से उत्पन्न होने से, उसे अन्य कारकों की अपेक्षा न होने से वस्तु की स्वतंत्रता का ज्ञान या दिग्दर्शन कराती है। इस प्रकार षट्कारक मीमांसा द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि होती है।

3. दर्शन में कारक सिद्धान्त की आवश्यकता :-

व्याकरण में मान्य कारकों की दार्शनिक क्षेत्र में आवश्यकता क्यों पड़ी ? यह विचारणीय प्रश्न है। चूंकि दर्शन में जीवन के सम्पूर्ण कर्मों व परिणामों पर विचार किया जाता है, प्रत्येक द्रव्य या पदार्थ कार्य कैसे करता है, अथवा उसमें कार्य या परिणमन कैसे होता है, किन कारकों के द्वारा होता है, इत्यादि विषयों का दार्शनिक अध्ययन व मनन योग्य विषय बन जाना स्वाभाविक ही है। पुन: यह सर्वविदित तथ्य है कि जगत् में प्रत्येक कार्य, कारण पूर्वक ही होता है, बिना कारण के कार्य नहीं होता। दर्शन के क्षेत्र में कारण-कार्य संबंधों पर जब विचार किया जाता है तो वहाँ कारण अथवा कारक का निर्णय करना आवश्यक हो जाता है। भारतीय दर्शनों में वस्तु के परिणमन के सन्दर्भ में पृथक्-पृथक् विचार व्यक्त किये गये हैं जिसका कर्तृ-कर्म-मीमांसा के अन्तर्गत गहनता से व

प्रमाण-युक्तिपूर्वक विचार किया जा चुका है एवं जैनदर्शन का दृष्टिकोण भी व्यक्त किया जा चुका है कि वह न केवल ईश्वर कर्तृत्व का निषेध करता है, बल्कि यह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का व एक गुण को दूसरे गुण का कर्ता भी नहीं मानता और वह यहाँ तक भी सीमित नहीं रहता है इससे भी आगे बढ़कर यह घोषित करता है कि एक गुण की पर्याय दूसरे गुण की पर्याय को नहीं करती तथा एक गुण की पर्याय भी अपने ही गुण की आगे अथवा पीछे की पर्याय की कर्ता नहीं है। प्रत्येक पर्याय अपने षट्कारकों से स्वयमेव व स्वतंत्र होती है व परकारकों की अपेक्षा नहीं रखती। जैनदर्शन वस्तु के परिणमन को स्वतंत्र बताकर यह उद्घाटित करने का प्रयास करता है कि यदि प्रत्येक द्रव्य का कार्य स्वयं के स्वभाव में विद्यमान षट्कारकों से न होकर परकारकों से हो तो अनेक दोष उत्पन्न हो जायेंगे। किसी द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र न होने से उसकी स्वतंत्र सत्ता कायम न रह सकेगी और वस्तु को पराधीन मानना होगा और पराधीन व्यवस्था में सुख की उत्पत्ति संभव न हो सकने से दर्शन का प्रयोजन ही व्यर्थ हो जाएगा। इस कारण से दार्शनिक क्षेत्र में कारकों का प्रयोजन समझकर उन्हें स्वीकृत किया गया है।

4. कारक का लक्षण व भेद :-

सामान्यत: कारक का अर्थ होता है - 'कार्य करने वाला'। जो क्रिया की उत्पत्ति में उपकारक हो, वह कारक है अर्थात् क्रिया के उत्पादकरूप धर्म से युक्त होना ही कारकत्व है।

व्याकरण दर्शन के अनुसार 'कारक' शब्द की व्युत्पत्ति है - 'करोति क्रियां निर्वतयतीतिकारक:'[(1)] 'साक्षात् क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्'[(2)] 'क्रिया निष्पादकत्वं कारकत्वम्'[(3)] जो साक्षात् क्रिया का जनक हो अथवा क्रिया निष्पति में प्रयोजक हो, वह कारक है। तात्पर्य यह है कि जो किसी न किसी रूप में क्रिया व्यापार के प्रति प्रयोजक होता है, वही कारक हो सकता है, अन्य नहीं। इस नियम के अनुसार कारक छह हैं - कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण।[(4)] जो स्वतंत्रतापूर्वक अपने परिणाम को करे वह कर्ता है। कर्ता जिस परिणाम को प्राप्त करता है वह परिणाम उसका कर्म है। उस परिणाम का उत्कृष्तम साधन करण है। कर्म जिसे दिया जाय वह सम्प्रदान है। जिसमें कर्म किया जाय वह ध्रुव वस्तु अपादान है। जिसके आधार से कर्म किया जावे वह अधिकरण है।

महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कर्ता आदि छ: प्रकार के कारकों का उल्लेख किया है तथा सम्बन्ध व संबोधन को कारक नहीं माना है।[(5)] क्योंकि ये छहों कारक क्रिया के प्रति किसी न किसी प्रकार प्रयोजक हैं, इसलिए इनकी कारक संज्ञा है। यहाँ पर सम्बन्धकारक व संबोधन कारक को इसलिए कारकों के अन्तर्गत परिगणित नहीं किया गया है, क्योंकि सम्बन्ध कारक*, संबंध सूचक है और वह कार्य के प्रति प्रयोजक नहीं है तथा संबोधन कारक में तो हे राम ! हे सीते ! ऐसा संबोधन मात्र होता है। अत: वह भी कार्य सूचक नहीं है। ये दोनों कारक शब्द की व्युत्पत्ति अर्थ (जो क्रिया का जनक हो, वह कारक है) का अनुसरण नहीं करते, अथवा कारक की परिभाषा उन पर घटित नहीं होने से वे कारक नहीं हैं। इस प्रकार कर्ता आदि के भेद से कुल कारक छह ही हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कारकों की स्वीकृति अनिवार्य नहीं है।

जैनदर्शन में भी पूर्वोक्त कर्ता आदि कारकों को ही कारक की संज्ञा दी गयी है।[6] सम्बन्ध व संबोधन कारक को कारक की श्रेणी में इसलिए नहीं रखा गया है, क्योंकि जैनदर्शन एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पूर्णत: भिन्न व स्वतंत्र सत्ता मानता है और जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से सम्बन्ध ही नहीं है। तब सम्बन्ध सूचक कारक की क्या आवश्यकता है ? और उसके द्वारा संबोधन किसको किया जाएगा या किस प्रकार संभव हो सकता है ?[7] अत: सम्बन्ध व संबोधन को कारक की श्रृंखला में रखना उसके लिए नितान्त अस्वाभाविक है या कहें उसकी वस्तु व्यवस्था के विपरीत है।

5. कारक के भेदों का स्वरूप :-

(i) कर्ताकारक -

'य: परिणमति स कर्ता'[8] - जो स्वतंत्रता से (स्वाधीनतापूर्वक) अपने परिणाम को करे या क्रिया-व्यापार में जो स्वतंत्ररूप से अर्थ का प्रयोजक होता है, वह कर्ताकारक कहलाता है।

(ii) कर्मकारक -

'य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म'[9] - कर्ता जिस परिणाम को प्राप्त करता है अथवा कर्ता की क्रिया द्वारा ग्रहण करने के लिए जो अत्यंत इष्टकारक होता है, वह कर्मकारक कहलाता है।

(iii) करण कारक -

करण शब्द पांच अर्थों में प्रयुक्त होता है (अ) करण-इन्द्रिय (ब) करण-कान (स) करण-गणित (द) करण-परिणाम (इ) करण-साधन। यहाँ पर करण 'साधन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भगवती अराधना में इस तथ्य का उल्लेख मिलता है कि 'करण' शब्द के अनेक अर्थ हैं। रूपादि विषय को ग्रहण करने वाले ज्ञान जिनसे उत्पन्न होते हैं, वे इन्द्रियाँ करण हैं। कार्य को उत्पन्न करने में जो कर्ता को अतिशय सहायक होता है उसको भी करण या साधकतम मात्र कहते हैं, जैसे - देवदत्त कुल्हाड़ी से लकड़ी काटता है।[10] आचार्य शर्ववर्म ने 'येन क्रियते तत्कारणम्' कहकर करण को परिभाषित किया है। जिसके द्वारा क्रिया की जाती है वह कारक करण संज्ञक कहलाता है।[11] महर्षि पाणिनि ने 'करण' का लक्षण साधकतम किया है 'साधकतमं करणं'।[12] क्रिया की सिद्धि में जो साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधन होता है वह करण कारक कहलाता है। यहाँ पर साधकतम शब्द यह बतलाता है कि कार्य का साधन मध्यम या जघन्य कारक नहीं है केवल कार्य का उत्कृष्ट साधन ही कारण है, अन्य नहीं।

जैनदर्शन में कार्य के साधन चार कहे गये हैं - निमित साधन, त्रिकाली साधन, अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय साधन, उस समय की पर्याय की योग्यता साधन।[13] उसमें कर्ताकारक की भांति, उस समय की पर्यायगत योग्यता ही कार्य का उत्कृष्ट साधन है, क्योंकि अन्य तीन को साधन मानने से अनेक दूषण उत्पन्न होते हैं। जैसे-घड़े का उत्कृष्ट साधन उस समय की पर्याय की योग्यता रूप क्षणिक उपादान कारण है। अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय को पिण्ड, क्षत्रक, स्थास, कोश, कुशूल आदि के अभाव रूप साधन कहा जाता है और मिट्टी त्रिकाली साधन तथा कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवर, धर्म, अधर्म, आकाश व काल निमित्त साधन हैं।

(iv) सम्प्रदान कारक -

यह तीन शब्दों के मेल से बना है सम् + प्र + दान। सम् - सम्यक् प्रकार से, प्र - प्रकृष्ट रूप से, दान - शुद्धता का दान दिया जावे। अत: इसका शाब्दिक अर्थ है - 'सम्यक् प्रकार से विशेष करके जो दान अपने को दिया जावे।'(14) अन्य शब्दों में, कर्म के द्वारा जो अभिप्रेत होता है वह सम्प्रदान कारक कहलाता है।

कातंत्र व्याकरण में भी सम्प्रदान कारक को इस प्रकार परिभाषित किया गया है - 'यस्मै दित्सा रोचते धारयते वा तत्सम्प्रदानम्' जिसके लिए देने की इच्छा है जिसे रुचता है अथवा जो धारण करता है वह सम्प्रदान कारक होता है।(15)

(v) अपादान कारक -

विश्लेष अथवा अलग होने पर जो ध्रुव या स्थिर बना रहे, वह अपादान कहलाता है।(16) यह दो चीजों से निष्पन्न होता है, जिनमें एक ध्रुव, स्थिर तथा निष्क्रिय होती है और दूसरी सक्रिय। अपादान से किसी के विश्लेष होने पर पहला ध्रुव रहता है तथा जिसका विश्लेष होता है उसमें गति होती है। जैसे - 'ग्रामाद गच्छति' वह गाँव से जाता है। अपादान के सम्बन्ध से यह अपाय कहलाता है। अपादान के निष्क्रिय होने पर भी इस गति को निष्पन्न करने के कारण अपादान नामक कारक बन जाता है।(17)

सरल शब्दों में कहा जाय तो जिसमें से कर्म किया जाता है उस ध्रुव वस्तु को अपादान कारक कहते हैं। व्याकरणानुसार - 'यतोऽपैति भयमादत्ते तदपादानम्' अर्थात् जिससे दूर होता है, डरता है और ग्रहण करता है वह कारक अपादान संज्ञक है।(18)

(vi) अधिकरण कारक -

क्रिया का वास्तविक आधार या तो कर्ता होता है जो क्रिया करता है अथवा उसका कर्म, जिस पर क्रिया की जाती है, पर क्रिया के होने से पहले कर्ता तथा कर्म को किसी आधार पर रहना जरूरी है यही आधार (अधिकरण) कहलाता है। भर्तृहरि ने कहा है - 'जो स्वयं क्रिया का आधार नहीं है, अपितु आश्रयभूत कर्ता तथा कर्म को धारण किये हुए है वह अधिकरण कारक है।'(19) अन्य शब्दों में, जो क्रिया का आधारभूत कारक है, वह अधिकरण कहलाता है। कातंत्र व्याकरणानुसार - 'य आधारस्तदधिकरणम्।' जो आधार है उस कारक को अधिकरण कहते हैं।(20)

6. षट्कारक शक्तियों का स्वरूप :-

जैनदर्शन का मन्तव्य है कि प्रत्येक द्रव्य अनेकान्तगर्भ, अनन्तधर्मो व शक्तियों का समुच्चय स्वरूप है। उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु में विद्यमान धर्मों में षट्कारक धर्म अथवा शक्तियाँ पायी जाती हैं। षट्कारक प्रत्येक वस्तु में विद्यमान सामान्य व अनुजीवी गुण* हैं। जैसे - व्याकरण में छहकारक और एक सम्बन्ध, ऐसी सात विभक्तियाँ आती हैं, वैसे ही जैनदर्शन में छहकारक शक्तियाँ व सम्बन्ध शक्ति का वर्णन मिलता है। परमार्थ विभक्ति उसे कहा जाता है जो आत्मा को पर से विभक्त करे। स्व में एकत्व और पर से विभक्त ऐसा आत्मा व अन्य द्रव्यों का स्वभाव है। कर्ता-कर्म-करण आदि छहकारक और एक सम्बन्ध यह सातों विभक्तियाँ आत्मा को पर से विभक्त-पृथक् बतलाती हैं, किन्तु अपने में ही स्व-स्वामी सम्बन्ध बतलाकर पर से आत्मा को भिन्न

रखती हैं।[21] इन शक्तियों का उल्लेख आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में किया है।

यहां सर्वप्रथम उस शक्ति का उल्लेख किया जाएगा जिसके कारण द्रव्य स्वयं षट्कारक रूप से परिणमित होता है और वह शक्ति है क्रियाशक्ति - 'कारकानुगत भवत्तारूप भावमयी क्रियाशक्ति:'- कारकों के अनुसार परिणमित होने रूप भावमयी क्रियाशक्ति।[22] प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप सिद्ध कारकों के अनुसार उत्पाद-व्यय रूप अर्थक्रिया करता है, ऐसा वस्तु में विद्यमान क्रियाशक्ति बतलाती है।

षट्कारक शक्तियाँ :-

(i) कर्मशक्ति -

'प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्ति:' - वह शक्ति है जिससे प्राप्त होने वाले अपने सिद्ध स्वरूप को द्रव्य स्वयं प्राप्त करता है।[23]

(ii) कर्ताशक्ति -

'भवतारूपसिद्धरूप भावभावकत्वमयीक कर्तृशक्ति:' यह वह शक्ति है जिससे होने रूप स्वत: सिद्धभाव का यह द्रव्य भावक होता है।[24]

(iii) करणशक्ति -

'भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्ति:' यह वह शक्ति है जिससे यह द्रव्य अपने प्राप्यमाण कर्म की सिद्धि में स्वत: साधकतम होता है।[25]

(iv) सम्प्रदानशक्ति -

'स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी संप्रदानशक्ति:' इस शक्ति के द्वारा प्राप्यमाण कर्म स्वयं के लिए समर्पित होता है।[26]

(v) अपादान शक्ति -

'उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति:' इस शक्ति के द्वारा उत्पाद-व्यय भाव के अपाय (हानि/नाश) होने पर भी द्रव्य सदा अन्वय रूप से ध्रुव बना रहता है।[27]

(vi) अधिकरण शक्ति -

'भाव्यमानभावाधारात्वमयी अधिकरणशक्ति:' इस शक्ति के द्वारा भाव्यमान समस्त भावों का आधार स्वयं द्रव्य होता है।[28]

पंडित फूलचंद सिद्धांतशास्त्री ने 'जैनतत्त्व मीमांसा' में षट्कारक शक्तियों का उल्लेख करते हुए इनके सन्दर्भ में अत्यंत सुंदर निष्कर्ष दिया है जो इस प्रकार है - 'ये कतिपय शक्तियाँ है इससे यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्य की जितनी अर्थ-व्यंजनरूप पर्यायें* होती हैं वे सब कारकान्तर निरपेक्ष ही होती हैं। वस्तुत: कारकान्तरों का अन्य द्रव्य के किसी भी कार्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में ऐसी भी शक्ति है जिससे किसी का अपने से भिन्न अन्य किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है उसका नाम सम्बन्ध शक्ति है। इससे यही सूचित होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही स्वामी है। इस प्रकार इतने विवेचन से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य का ध्रुवस्वरूप या उत्पाद-व्ययरूप जितना भी 'स्व' है वह सब वस्तु ही है। न तो वस्तु अपने स्व का

उल्लंघन कर अन्यरूप हो सकती है और न ही उसमें अन्य वस्तु का किसी भी अपेक्षा से सम्बन्ध ही हो सकता है। वह निरन्तर अपनी अचलित सीमा में सदाकाल अवस्थित रहती है ऐसी परनिरपेक्ष स्वयंसिद्ध वस्तुव्यवस्था है।[29]

7. जैनदर्शन में मान्य षट्कारक सिद्धांत की दो रूपों में व्याख्या :-

जैनदर्शन में षट्कारक व्यवस्था को दो रूपों में व्याख्यायित किया गया है और इनकी व्याख्या दो रूपों में संभव होने से उनमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार 'देवदत्त की गाय' (इस प्रकार) अन्यपने में षष्ठीव्यपदेश (छठवीं विभक्ति का कथन) होता है, उसी प्रकार 'वृक्ष की शाखा', 'द्रव्य के गुण' ऐसे अनन्यपने में भी (षष्ठी व्यपदेश) होता है। जिस प्रकार देवदत्त फल को, अंकुश द्वारा, धनदत्त के लिए, वृक्ष पर से बगीचे में तोड़ता है, उसी प्रकार 'मिट्टी स्वयं घटभाव को (घड़ा रूप परिणाम को) अपने द्वारा, अपने लिए, अपने में से, अपने में करती है,' ऐसा अनन्यपने में कारक व्यपदेश होता है।[30] यहाँ पर अन्यपने व भिन्नकारक के रूप में व्यवहार कारक व अनन्यपने व अभिन्नकारक के रूप में निश्चयकारक की चर्चा की है। अन्यत्र भी कहा गया है - 'अभिन्नकर्ता-कर्मादि कारक निश्चयनय का विषय है और व्यवहारनय भिन्न कर्ता-कर्मादि को विषय करता है।'[31]

'प्रवचनसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी से संबंधित तथ्यों को उद्घाटित करते हुए कहा है कि "जहाँ पर (अन्य) के निमित्त से कार्य की सिद्धि कही जाती है, वहाँ व्यवहार कारक है और जहाँ अपने ही उपादानकारण से कार्य की सिद्धि कही जाती है, वहाँ निश्चयकारक है।"[32]

अब यहाँ पर व्यवहार व निश्चय कारक की संक्षेप में व्याख्या की जाएगी। परिशिष्ट में निश्चय व व्यवहारनय का स्वरूप स्पष्ट किया गया है अत: यहाँ पुन: उसके स्वरूप को उद्घाटित करना मात्र विषय का पिष्ट-पोषण होगा या विषय की वृद्धि करेगा। जैसा दोनों नयों का स्वरूप है वैसा ही उसके विषयभूत षट्कारकों का स्वरूप है।

(अ) व्यवहारकारक -

यहाँ पर व्यवहारनय के अन्तर्गत उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की चर्चा अपेक्षित है जो भिन्न-भिन्न, वस्तुओं के संश्लेषरहित सम्बन्ध को विषय बनाता है। जैसे - 'देवदत्त का धन है।'[33] यह असद्भूत व्यवहार ही उपचार है और उपचार में भी जो उपचार करता है वह उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय है।[34] इस नय की अपेक्षा से सभी कार्यों का पराश्रित रूप से कथन किया जाता है। यही कारण है कि व्यवहारनय में मान्य षट्कारक या व्यवहार षट्कारक भिन्न-भिन्न द्रव्यों में घटित होते हैं। घट का उदाहरण जिनागम में मिलता है, जो व्यवहार कारक के स्वरूप को स्पष्ट करता है जैसे - 'कुम्हार घट का कर्ता है; घट उसका कर्म है; दण्ड, चक्र, चीवर इत्यादि करण है ; कुम्हार जल भरने वाले के लिए घट बनाता है इसलिए जल भरने वाला सम्प्रदान है। टोकरी में से मिट्टी लेकर घट बनाता है इसलिए टोकरी अपादान है और पृथ्वी के आधार से घट बनाता है इसलिए पृथ्वी अधिकरण है।' यहाँ पर सभी कारक भिन्न-भिन्न हैं। अन्य कर्ता है, अन्य कर्म है, अन्य करण है, अन्य सम्प्रदान है, अन्य अपादान है और अन्य

अधिकरण है।[35] ये भिन्न-भिन्न होने से इन्हें 'भिन्न कारक' भी कहा जाता है, क्योंकि ये कारक एक ही द्रव्य की पर्यायों पर लागू न होकर भिन्न-भिन्न द्रव्यों की पर्यायों पर घटित हो रहे हैं।

परमार्थत: कोई द्रव्य किसी का कर्ता-हर्ता नहीं हो सकता, इसलिए छहों व्यवहारकारक असत्य हैं वे मात्र उपचरित असद्भूतव्यवहार नय से कहे जाते हैं। निश्चय से किसी द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ कारकता का सम्बन्ध है ही नहीं।[36]

(ब) निश्चय कारक -

निश्चयनय वस्तु के स्वरूप को स्वीकार करता है उसमें पररूप का निषेध करता है। या कहें कि 'वस्तु जैसी है' उसका यथावत् निरूपण करता है। इसलिए उसके द्वारा परसापेक्ष कथन का निषेध होना स्वाभाविक है। जिनागम में निश्चय कारक को भी उदाहरण सहित स्पष्ट किया गया है - "मिट्टी स्वतंत्रतया घट रूप कार्य को प्राप्त होती है, इसलिए मिट्टी कर्ता है और घड़ा कर्म है अथवा घड़ा मिट्टी से अभिन्न होने से मिट्टी स्वयं ही कर्म है; अपने परिणमन स्वभाव से मिट्टी ने घड़ा बनाया, इसलिए मिट्टी स्वयं ही करण है ; मिट्टी ने घड़ारूप कर्म अपने को ही दिया इसलिए मिट्टी स्वयं सम्प्रदान है ; मिट्टी ने अपने में से पिण्डरूप अवस्था नष्ट करके घटरूप कर्म किया व स्वयं ध्रुव बनी रही इसलिए वह स्वयं ही अपादान है ; मिट्टी ने अपने ही आधार से घड़ा बनाया इसलिए वह ही अधिकरण है।"[37] इस प्रकार निश्चय से छहों कारक एक ही द्रव्य में हैं। अत: इसे 'अभिन्न-कारक' भी कहा जाता है। परमार्थत: एक द्रव्य दूसरे की सहायता नहीं कर सकता और द्रव्य स्वयं ही, अपने को, अपने से, अपने लिए, अपने में से, अपने में करता है, इसलिए निश्चय से छहों कारक ही परम सत्य हैं।[38] अन्यत्र भी कहा गया है कि "स्वयमेव षट्कारकी रूप से वर्तता हुआ (द्रव्य) अन्य कारक की अपेक्षा नहीं रखता।"[39]

(i) विभाव पर्याय व निश्चयकारक -

पंचास्तिकाय, गाथा 62 की टीका में आचार्य अमृतचंद्र ने (निश्चयकारक की विवेचना करते हुए) जीवद्रव्य व पुद्गलकर्म की बंधान अवस्था में जीव विभाव-पर्याय रूप प्रवृत होता है। अर्थात् उन्होंने विभाव-पर्याय की स्थिति में निश्चय कारक के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है :-

"निश्चय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं अपने-अपने स्वभाव के कर्ता हैं - (1) कर्म वास्तव में कर्म रूप से प्रवर्तमान पुद्गलस्कन्धपने से कर्तृत्व को धारण करता हुआ, (2) कर्मपना प्राप्त करने की शक्तिरूप कारणपने को अंगीकृत करता हुआ, (3) प्राप्य ऐसे कर्मस्वपरिणामरूप से कर्मपने से अनुभव करता हुआ, (4) पूर्वभाव का व्यय हो जाने पर भी ध्रुवत्व का अवलंबन करने से अपादानपने को प्राप्त करता हुआ, (5) उत्पन्न होने वाले परिणामरूप कर्म द्वारा समाश्रित होने से सम्प्रदानपने को प्राप्त करता हुआ और (6) धारण करते परिणाम का आधार होने से अधिकरणपने को प्राप्त होता हुआ इस प्रकार स्वयमेव षट्कारकरूप से वर्तता हुआ अन्य कारक की अपेक्षा नहीं करता।

इस प्रकार जीव भी (1) भावपर्याय रूप से प्रवर्तनमान आत्मद्रव्य रूप से कर्तापने

को धारण करता हुआ, (2) भाव पर्याय प्राप्त करने की शक्तिरूप से करणपने को अंगीकृत करता हुआ, (3) प्राप्त हुई भाव पर्याय रूप से कर्मपने को अनुभव करता हुआ, (4) पूर्व की भाव पर्याय का व्यय होने पर भी ध्रुवपने का अवलंबन होने से अपादानत्व को प्राप्त हुआ, (5) उत्पन्न होने वाले भाव पर्यायरूप द्वारा समाश्रित होने से सम्प्रदानपने को प्राप्त हुआ और (6) धारण की जाने वाले भाव पर्याय का आधार होने से अधिकरणपने को प्राप्त हुआ। इस प्रकार स्वयं ही षट्कारक-रूप से वर्तता हुआ अन्य कारक की अपेक्षा नहीं रखता है।''[40]

इस टीका का भावार्थ करते हुए पंडित जयचंद छावड़ा ने संक्षिप्त रूप में आचार्य के मन्तव्य को प्रकट किया है - 'पुद्गल की कर्मोदयादि रूप से या कर्म बंधादिरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में, पुद्गल ही स्वयमेव छहकारक रूप से वर्तता है। इसलिए उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं। जीव भी औदायिक भावरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में जीव स्वयं ही छहकारक रूप से वर्तता है इसलिए उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। पुद्गल की व जीव की उपरोक्त क्रियायें एक ही काल में वर्तती हैं तथापि दोनों के कारक के बिल्कुल भिन्न व निरपेक्ष हैं।' ऐसा सभी पदार्थों के विषय में समझना चाहिए।[41] वस्तुत: इस टीका निहितार्थ यह है कि किस प्रकार पुद्गल कर्म और जीव परस्पर कारकान्तर की अपेक्षा किये बिना प्रतिसमय षट्कारकभाव को प्राप्त होते हैं।

(ii) स्वभाव पर्याय व निश्चय कारक -

शुद्ध पर्याय या स्वभाव के आश्रय से होने वाली पर्याय को स्वभाव पर्याय कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है - (1) स्वभाव व्यंजन पर्याय* (2) स्वभाव अर्थपर्याय*।

प्रवचनसार के ज्ञानतत्व प्रज्ञापन अधिकार की 16 वीं गाथा की टीका करते हुए आचार्य अमृतचंद्र ने यह तथ्य स्पष्ट किया है कि शुद्धोपयोग से होने वाली शुद्धात्मा की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने से अत्यंत स्वाधीन है, लेशमात्र भी पराधीन नहीं है। तात्पर्य यह है कि अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रय आनंद की प्राप्ति के लिए रंचमात्र भी पर के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। ''यह आत्मा शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञायक स्वभाव के कारण स्वतंत्र होने से जिसने कर्तृत्व के अधिकार को ग्रहण किया है उसी (शुद्ध अनंतशक्तियुक्त) ज्ञान रूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही प्राप्य होने से कर्मत्व का अनुभव करता हुआ, उसी ज्ञान रूप से परिणमित होने के स्वभाव से स्वयं ही साधकतम होने से कारणता को धारण करता हुआ, उसी ज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होने से (अर्थात् कर्म स्वयं ही देने में आता होने से) सम्प्रदानता को धारण करता हुआ, उसी ज्ञानरूप परिणमित होने के समय पूर्व में प्रवर्तमान विकलज्ञान* स्वभाव का नाश होने पर भी सहज ज्ञान स्वभाव से स्वयं की ध्रुवता का अवलंबन करने से अपादानता को धारण करता हुआ, और उसी ज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से अधिकरणता को आत्मसात् करता हुआ स्वमेव छहकारक रूप होने से अथवा उत्पत्ति अपेक्षा से द्रव्यभाव भेद से भिन्न घातिकर्मों को दूर करके स्वयमेव अर्विर्भूत होने से 'स्वयंभू' कहलाता है।[42]

अत: सर्वद्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में छहकारक एकसाथ वर्तते हैं इसलिए आत्मा और पुद्गल शुद्ध दशा में हो या अशुद्ध दशा में स्वयं षट्कारक रूप परिणमन करते हैं और दूसरे कारकों की (निमित्त कारणों) की अपेक्षा नहीं रखते।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जहाँ व्यवहार से अन्य द्रव्य के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है वहीं जब प्रत्येक द्रव्य प्रति समय स्वभाव से स्वयं षट्कारक रूप से प्रवर्तित होता है तब प्रत्येक द्रव्य की स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति के समय उसका स्वयं षट्कारक रूप से प्रवृत होना सुनिश्चित ही घटित होता है। असद्भूत व्यवहारनय से जो प्रत्येक कार्य में कारकान्तर की सापेक्षता कही गयी है वह केवल इसीलिए विकल्प का विषय है, क्योंकि वस्तु में सापेक्षता घटित नहीं होती है। आगम में विभाव पर्याय और स्वभाव-पर्याय में जो अन्तर बतलाया गया है वह केवल इस कारण बतलाया गया है कि जब यह आत्मा स्वयं को रागादि से भिन्न ज्ञायक स्वभाव रूप अनुभवता है तब स्वभाव पर्याय उत्पन्न होती है और जब 'मैं रागादिरूप हूँ' इस रूप से अनुभवता है तब विभाव-पर्याय उत्पन्न होती है।[43]

8. निश्चयकारक की स्वीकृति का फल :-

"स्वाश्रित स्वरूप षट्कारक विचारौ ऐसै।
निश्चयकरि आनकौ विधान न बखानिए॥" [44]

ऐसा नियम है कि जहाँ पर आकुलता है, वहीं पर परतंत्रता है और जहाँ पर निराकुलता है, वहीं पर स्वतंत्रता है, क्योंकि आकुलता की परतंत्रता के साथ और निराकुलता की स्वतंत्रता के साथ व्याप्ति है। अतएव उक्त कथन के समुच्चयरूप में यही निश्चय करना चाहिए कि जो निश्चय कथन है, वह यथार्थ है, वस्तुभूत है और कर्ता-कर्म आदि की वास्तविक स्थिति को सूचित करने वाला है तथा जो व्यवहार कथन है, वह विवक्षित कार्य को अन्य के द्वारा बतलाने वाला होने से उपचरित है, अभूतार्थ है। उसे परमार्थ मानने पर वह कर्ता-कर्मादि की वास्तविक स्थिति का अपलाप करनेवाला है।[45] इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में कहा है - "जो श्रमण आत्मा ही कर्ता है, आत्मा ही करण है, आत्मा ही कर्म है और आत्मा ही फल (सम्प्रदान) है, ऐसा निश्चयकर यदि अन्यरूप नहीं परिणमता है तो वह नियम से शुद्ध आत्मा प्राप्त करता है।"[46]

उक्त गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने 'स्फटिक-मणि' के उदाहरण द्वारा ज्ञान व अज्ञानरहित दोनों दशाओं में आत्मा के षट्कारक रूप स्वतंत्र परिणमन की बात कही है और टीका के अंत में कहा है कि बंधमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है। इस प्रकार जाननेवाला पुरुष परमाणु की भांति एकत्वभावना में उन्मुख होने से, उसे परद्रव्यरूप परिणति किंचित् नहीं होती और वह पुरुष पर के साथ संपृक्त* नहीं होता; इसलिए परद्रव्य के साथ असंबद्धता के कारण वह सविशुद्ध रहता है और कर्ता, कर्म, करण तथा कर्मफल को आत्मा रूप से भाता हुआ पुरुष पर्यायों के द्वारा संकीर्ण * नहीं होता; इसलिए पर्यायों के द्वारा संकीर्ण न होने से सविशुद्ध होता है।[47]

इसके पूर्व में आचार्य अमृतचंद्र ने इसी ग्रंथ की 16 गाथा की टीका में कहा है कि

"अतो न निश्चयत: परेण सहात्मन: कारकत्वसंबंधोऽस्ति, यत: शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतंत्रैर्भूयते"-निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का सम्बन्ध नहीं है। जीव व्यर्थ ही शुद्धात्मा स्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री (बाह्य साधन) ढूढ़ने की व्यग्रता से ही परतंत्र होते हैं।

और भी कहा गया है - 'जब तक आत्मा नाम कर्ता, कर्मतापन्न आत्मा को, करणभूत आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा में से, आत्मा में ही स्थित रहकर न जानेगा, तब तक परमात्मा को कैसे प्राप्त करेगा।'(48) स्वामी समन्तभद्र ने भी स्वयंभूस्त्रोत में पूर्वोक्त मन्तव्य प्रगट किया है - 'प्रत्येक संसारी प्राणी अपने से भिन्न परद्रव्य का कार्य करने में सर्वथा अनीश है फिर भी अहं क्रिया से पीड़ित होने के कारण ऐसा मानता है कि मैं अपने से भिन्न परद्रव्य का कार्य करता हूँ।'(49)

जैनअध्यात्म में व्यवहारनय के श्रद्धान को छोड़ने का निर्देश दिया गया है तथा निश्चयनय के विषय का श्रद्धान करने का उपदेश दिया गया है। एतद्विषयक आचार्य कुन्दकुन्द का वचन ध्यान देने योग्य है - "जो व्यवहार कारक की श्रद्धा छोड़ता है वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है तथा जो व्यवहार-कारकों से लाभ मानता है वह अपने आत्मकार्य में सोता है" इसलिए व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चयनय का ही श्रद्धान करने योग्य है।(50)

यहाँ प्रश्न उठता है कि व्यवहार-कारक का श्रद्धान छोड़कर निश्चय कारक का श्रद्धान करना क्यों योग्य है ? व्यवहारनय-निश्चयकारक और व्यवहारकारक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है इसलिए उसका त्याग करना उचित है तथा निश्चयनय-निश्चयकारक और व्यवहारकारक का यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता, सो ऐसे ही श्रद्धान सम्यकत्व होता है इसलिए उसका ही श्रद्धान करना।

पुन: शंका उत्पन्न होती है कि जैनआगम में दोनों कारकों को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है वह कैसे संभव है ? उसके समाधान में कहा गया है कि जैनआगम में जहाँ निश्चयकारक की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' - ऐसा जानना। तथा जहाँ व्यवहारकारक की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे 'ऐसा है नहीं', निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है ऐसा जानना" - इस प्रकार जानने का नाम ही निश्चयकारक व व्यवहार कारक का ग्रहण है।(51) पुन: प्रश्न उठता है कि यदि व्यवहार कारक असत्य है उनको जानने से शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती है तो उसका उपदेश जिनागम में क्यों किया गया है ? इसका कारण यह है कि व्यवहार कारक के बिना निश्चयकारक का उपदेश दिया गया हैं। निश्चय कारक का ज्ञान कराने के लिए व्यवहारकारक द्वारा उपदेश देते है। व्यवहारकारक है, व्यवहारकारक का विषय है, जानने योग्य है, परन्तु ग्रहण या अंगीकार करने योग्य नहीं है।

पुन: निश्चयनय से विवक्षित षट्कारक व्यवस्था ही वस्तु के स्वतंत्र परिणमन अथवा वस्तुस्वातंत्र्य को सिद्ध करती है, क्योंकि यह एक ही द्रव्य की पर्याय में छहों कारकों को स्वीकार कर उसमें अन्य कारकों का किचिंत् मात्र भी हस्तक्षेप अस्वीकार

कर द्रव्य के स्वतंत्र व निरपेक्ष परिणमन व्यवस्था को दर्शाता है। जबकि व्यवहारनय अन्य-अन्य द्रव्यों में छहों कारकों का निरूपण कर वस्तु के परिणमन को पराधीन निरूपित करता है।

9. षट्कारक मीमांसा द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि :-

अस्तु लौकिक व परमार्थ व्यवस्था में मान्य षट्कारकों की भिन्नता के स्वरूप हम भलीभांति अवगत हो चुके हैं। इस तथ्य से अपरिचित नहीं हैं कि लौकिक व परमार्थिक वस्तु स्वरूप में ऐसा स्वीकार करने के क्या कारण रहे हैं। परमार्थ अथवा निश्चय से प्रणीत वस्तुव्यवस्था में छहों कारक एक ही द्रव्य में घटित होने से प्रत्येक कार्य अपने कारकों से स्वमेव, स्वतंत्र व परनिरपेक्ष होता है, उसे परकारकों की बिल्कुल भी अपेक्षा नहीं रहती। अत: परमार्थिक वस्तुव्यवस्था कहें या वस्तु का स्वभाव कहें यह पदार्थ अथवा वस्तु को परिणमन की पराधीन अनुभूति से बाहर निकालकर स्वाधीन अनुभूति का सुखद रसास्वादन कराता है, जो कि दर्शन का मूल व मुख्य प्रयोजन है। अन्यथा दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुगमन का कोई प्रयोजन नहीं बचेगा।

दूसरी बात, जैनदर्शन में षट्कारक प्रत्येक वस्तु में विद्यमान सामान्य गुण हैं। ये प्रत्येक वस्तु में स्वभावत: विद्यमान होने से प्रत्येक वस्तु अपने कार्य को अपने कारकों से स्वतंत्र करती हैं, परकारकों से नहीं। कारण कि गुणों का परिणमन ही कार्य अथवा परिणाम है और गुणों की परिणमनशीलता किसी अन्य द्रव्य अथवा उसके गुणों पर आश्रित न होकर स्वाश्रित है। यदि परिणमन परसापेक्ष, पराश्रित, पराधीन होवे तो किसी भी द्रव्य/पदार्थ का स्वतंत्र अस्तित्व कायम नहीं रह सकता और जब पदार्थ पराश्रित होगा तो उसका कार्य स्वाश्रित संभव कैसे होगा ? अत: वस्तुस्वरूप या वस्तुव्यवस्था की दृष्टि से परिणमन की स्वतंत्रता पूर्वापेक्षित है।

यदि कारक के लक्षण व कारक के भेदों के स्वरूप की ओर दृष्टिपात किया जाए तो हमें यह परिज्ञान होता है कि वस्तु प्रतिसमय षट्कारक रूप परिणमन करने के कारण अपना कार्य स्वतंत्रता व स्वाधीनता से करती है। जैसे - कर्ताकारक के स्वरूप पर दृष्टिपात किया जाय तो 'जो स्वतंत्रतापूर्वक अपने कार्य को करे वह कर्ता है'। इसमें जो 'स्वतंत्रतापूर्वक' शब्द का प्रयोग किया गया है वह महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह बतलाता है कि केवल मात्र वही कर्ता है जो अपना कार्य किसी भी परद्रव्य के किंचित् मात्र सहयोग के बिना स्वतंत्रता से करता है। कर्ता के पश्चात् उसका परिणाम वह कर्म है और फिर क्रमश: करण, सम्प्रदान, अधिकरण भी वस्तु से भिन्न नहीं है। यह भलीभांति उदाहरणों से स्पष्ट हो चुका है।

जैनदर्शन कारक सिद्धान्त के द्वारा एक महत्वपूर्ण तथ्य को उद्घाटित करता है कि प्रत्येक द्रव्य में होने वाले षट्कारक रूप परिणमन का कर्ता उस समय में होने योग्य पर्यायगत योग्यता ही है। उसका कर्ता न उसके एकक्षणपूर्ववर्ती पर्याय है और न उत्तरवर्ती ही; बल्कि वह पर्याय स्वयं अपने षट्कारकों से होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन से यह सिद्ध होता है कि षट्कारक व्यवस्था प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय होने वाली पर्याय की स्वतंत्रता बतलाकर वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि करता है।

संदर्भ - सूची

(1) कातंत्र-व्याकरण, पृ. 138.

(2) वही, पृ. 149 (पाद टिप्पणी).

(3) दीनानाथ शुक्ल : भारतीय दर्शन का परिभाषा कोश, पृ. 70.

(4) कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च ।
अपादानाधिकरणो इत्याहुः कारकाणि ॥ वही, पृ. 70.

(5) के.ए. सुब्रह्मण्य अय्यर : भृर्तहरि का वाक्यपदीय, डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी (अनुवाद) पृ. 329.

* **संबंधकारक** - यह केवल सम्वन्ध मात्र है अतः कारक नहीं है, क्योंकि इसका क्रिया के साथ साक्षात् योग नहीं है और न ही यह क्रिया का जनक ही है अतएव कारक छह ही माने जाते है ।

(6) प्रवचनसार (तत्त्वप्रदीपिका टीका), पृ. 26-27.

(7) नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयो ।
समयसार कलश, श्लोक 200.

(8) समयसार कलश, श्लोक 51.

(9) वही, श्लोक 51.

(10) क्रियते रूपादि गोचरा विज्ञप्तय एभिरिति करणानि इन्द्रियाण्युच्यन्ते क्वचित्करणशब्देन । अन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यददिशयितं साधकं तत्करणमिति साधकतममात्रमुच्यते । भगवती आराधना, भाग - 1, गाथा 20 की विजयोदया टीका.

(11) कातन्त्र-व्याकरण, सूत्र 388, पृ. 141.

(12) पाणिनि व्याकरण 1/4/42.

(13) जैनसिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग-2, पृ. 42-43.

(14) वही, पृ. 47.

(15) कातंत्र व्याकरण, सूत्र 396, पृ. 143.

(16) के. ए. सुब्रह्मण्य अय्यर : भृर्तहरि का वाक्यपदीय, डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी (अनुवाद), पृ. 353.

(17) वही, पृ. 353.

(18) कातंत्र-व्याकरण, सूत्र 400, पृ. 144.

(19) कर्तृकर्मव्यवहितातामसाक्षाद्धारयत् क्रियाम् ।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥
के.ए. सुब्रह्मण्य अय्यर : भर्तृहरि का वाक्यपदीय, डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी (अनुवाद), पृ. 356.

(20) कातंत्र-व्याकरण, सूत्र 414, पृ. 148.

* **अनुजीवीगुण** - भावस्वरूपीगुण को अनुजीवी गुण कहते है । जैसे - दर्शन -ज्ञानरूप चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि ।

(21) ब्र. हरिलाल जैन : 'आत्मप्रसिद्धि', मगनलाल जैन (अनुवाद), पृ. 488.

(22) समयसार (आत्मख्याति टीका) 40 वीं शक्ति, परिशिष्ट पृ. 673.

(23) वही, 41 वीं शक्ति, पृ. 673.

(24) वही, 42 वीं शक्ति, पृ. 673.

(25) वही, 43 वीं शक्ति, पृ. 673.

(26) वही, 44 वीं शक्ति, पृ. 673.

(27) समयसार (आत्मख्याति टीका) 45 वीं शक्ति, परिशिष्ट, पृ. 673.

(28) वही, 46 वीं शक्ति, पृ. 673.

(29) पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री : जैनतत्त्वमीमांसा, पृ. 185.

(30) यथा देवदत्तस्य गौरित्यन्यत्वे षष्ठीव्यपदेशः, तथा वृक्षस्य शाखा द्रव्यस्य गुणा इत्यनन्यत्वेऽपि...तथा मतृिका घटभावं स्वयं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात् स्वस्मिन् करोति। पंचास्तिकाय, गाथा 46 की समयव्याख्या टीका, पृ. 85-86.

(31) तत्त्वानुशासन, श्लोक 29.

(32) प्रवचनसार, गाथा 16 की तत्त्वप्रदीपिका टीका, पृ. 27.

(33) संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा-देवदत्तस्यधनमिति। आलाप पद्धति, पृ. 228.

(34) असद्भूत व्यवहार: एवोपचार:, उपचारादप्युपचारं य: करोति स उपचरिता- सद्भूतव्यवहार:। वही, पृ. 227.

(35) प्रवचनसार (तत्त्वप्रदीपिका टीका) गाथा 16 का भावार्थ पृ. 27-28.

(36) वही, पृ. 28.

(37) वही, पृ. 28.

(38) वही, पृ. 28.

(39) स्वमेवषट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठामान न कारकान्तमपेक्षते। पंचास्तिकाय, गाथा 62 की समयव्याख्या टीका, पृ. 105.

(40) अत्र निश्चयेनाभिन्नकारकात्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूपकर्तृत्वमुक्तम्। कर्म खलु कर्मत्व प्रर्वतमान पुद्गलस्कंधरूपेण कर्तृतामनुबिभ्राणं.. जीवस्य कर्तुर्नास्ति कर्मकर्तृ निश्चयनोति। वही, पृ. 105-106.

(41) वही, पृ. 106.

* **स्वभाव-व्यंजनपर्याय** - पर निमित्त के सम्बन्ध से द्रव्य का जो आकार हो उसे स्वभावव्यंजनपर्याय कहते है। जैसे - जीव की सिद्ध पर्याय।

* **स्वभाव-अर्थपर्याय** - पर निमित्त के सम्बन्ध से रहित जो अर्थपर्याय होती है उसको स्वभावअर्थपर्याय कहते है।

* **विकलज्ञान** - अपूर्ण (मतिश्रुतादि) ज्ञान।

(42) शुद्धानन्तशक्तिज्ञायक स्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वाधिकार:, शुद्धान्त-शक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्,....उत्पत्ति- व्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्मण्यपास्य स्वमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयंभूरिति निर्दिश्यते। प्रवचनसार, गाथा 16 की तत्त्वप्रदीपिका टीका, पृ. 26-27.

(43) पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री : जैनतत्त्वमीमांसा, पृ. 212.

(44) बाबूलाल जैन फागुल्ल (संपा.) : फूलचंदसिद्धान्त शास्त्री अभिनंदन ग्रंथ, पृ.289.

(45) पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री : जैनतत्त्वमीमांसा, पृ. 193.

(46) कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पं लहदि सुद्धं॥
प्रवचनसार, गाथा 126.

* **संपृक्त** - संबंधवाला, संगवाला।

* **संकीर्ण** - खण्डित।

(47) तथा हि - यदा नामानादिप्रसिद्ध पौद्गलिक बन्धनोपाधि संनिधिप्रधावितो-परारोपिता विकारोऽहमासं संसारी .... तत् पर्याया संकीर्णत्वाच्च सविशुद्धो भवतीति। प्रवचनसार, गाथा 16 की तत्त्वप्रदीपिका टीका, पृ. 258-260.

(48) भावत्काल आत्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन निमितं आत्मन: सकारात् आत्मानि स्थितं न जानासि तावत्कालं परमात्मानं किं लभसे। परमार्थप्रकाश, अधिकार 2, गाथा 16.

(49) अनित्यमत्राणमहं क्रियामि प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं निरंजना शान्तिमजीगमस्त्वम्॥ श्लोक 12.

(50) जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥
अष्टपाहुड (मोक्षपाहुड), गाथा 31, पृ. 290

(51) मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 251.

अध्याय - सात
क्रमबद्धपर्याय एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1 *अध्याय का प्रतिपाद्य विषय*
2 *क्रमबद्धपर्याय एवं वस्तुस्वातंत्र्य*
3 *वस्तुव्यवस्था में निहित पर्यायों का क्रमवर्तित्व*
4 *द्रव्य क्रमवर्ती व अक्रमवर्ती धर्मों का समन्वय*
5 *क्रमबद्धपर्याय शब्द का जिनागम में प्रयोग*
6 *क्रमबद्धपर्याय का अर्थ एवं स्वरूप*
7 *जैनदर्शन में मान्य सर्वज्ञता का स्वरूप*
8 *मीमांसकों के सर्वज्ञता विरोधी आक्षेपों का खण्डन एवं सर्वज्ञता की सिद्धि*
9 *क्रमबद्धपर्याय एवं नियतिवाद में भिन्नता*
10 *चारों अनुयोगों का प्रतिपाद्य क्रमबद्धपर्याय*
11 *क्रमबद्धपर्याय द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि*

क्रमबद्धपर्याय एवं वस्तुस्वातंत्र्य

1. अध्याय का प्रतिपाद्य विषय :-

इस अध्याय में हमारा उद्देश्य क्रमबद्धपर्याय अथवा क्रमनियमित पर्याय का वस्तुस्वातंत्र्य की दृष्टि से विचार करना है। पर्यायों का स्वतंत्र, स्वाधीन, क्रमसर परिणमन वस्तु का स्वभाव है। पर्यायों के क्रमवर्तित्व व गुणों की सहवर्तिता में वस्तु का जो स्वरूप उद्घाटित होता है, वह वास्तव में वस्तुस्वातंत्र्य मूलक है। इस क्रम में हम क्रमबद्धपर्याय का शाब्दिक अर्थ, क्रमबद्धपर्याय शब्द का जिनागम में प्रयोग, उसका स्वरूप, सर्वज्ञता की अवधारणा द्वारा क्रमबद्धपर्याय की पुष्टि पर विचार करते हुए सर्वज्ञता के विरुद्ध मीमांसकों के आक्षेपों का युक्ति व तर्कसम्मत निराकरण करने का प्रयास करेंगे। अंत में पंचसमवायोंपूर्वक कार्य की सिद्धि तथा क्रमबद्धपर्याय व नियतिवाद में भिन्नता बतलाते हुए तथा चारों अनुयोगों में क्रमबद्धपर्याय के कथन का उल्लेख करते हुए क्रमबद्धपर्याय द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य को प्रतिपादित करने का प्रयास करेंगे।

2. क्रमबद्धपर्याय एवं वस्तुस्वातंत्र्य :-

जैनदर्शन के अनुसार लोक में विद्यमान जड़-चेतन समस्त वस्तुएं सत् है और सत् का स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक अथवा द्रव्यगुण-पर्यायात्मक है। वस्तु अपनी ध्रौव्यता कायम रखते हुए उत्पत्ति व विनाश रूप परिणमन करती रहती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वरूप से परिणामी व नित्य है। प्रत्येक द्रव्य की पूर्व पर्याय का व्यय होना व नवीन पर्याय का उत्पाद होना तथा गुणों का नित्य रूप से कायम रहना उसका स्वभाव है। वस्तु मात्र स्वतंत्र रूप से परिणमनशील ही नहीं है, बल्कि उसके परिणमन में एक निश्चित क्रम भी है। उसके इस परिणमन क्रम में कभी-भी फेरबदल नहीं होता है। परिणमन की इस क्रमनियमितता को जिनागम में 'क्रमनियमितपर्याय' या 'क्रमबद्धपर्याय' के नाम से विवेचित किया है। क्रमबद्धपर्याय इस तथ्य का प्रतिपादन करती है कि वस्तु का परिणमन स्वतंत्र व स्वाधीन होने के साथ-साथ क्रमनियमित भी है। जगत् के समस्त कृत्रिम-अकृत्रिम पदार्थों में भी परिणमन का निश्चित क्रम दिखलाई पड़ता है, जैसे - प्रकृति में ऋतुओं का निश्चित क्रम देखा जाता है- वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, बसंत, ग्रीष्म। वृक्ष की उत्पत्ति भी एक निश्चित क्रम में होती है- बीज, अंकुर, पौधा (वृक्ष), फूल व फल। सप्ताह के दिनों तथा वर्ष के महीनों में भी एक निश्चित क्रम है। मनुष्य व अन्य प्राणियों के शरीर के विकास व परिवर्तन में भी क्रम प्रवाह दिखलाई पड़ता है। जैसे - बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था। घट के निर्माण में भी क्रमान्विति पायी जाती है - पिण्ड, क्षत्रक, स्थास, कोश, कुशूल और घट। इस प्रकार जगत् का प्रत्येक पदार्थ चाहे वह हमारे दृष्टिगम्य स्थूल पदार्थ हो अथवा दृष्टि से परे सूक्ष्म हो, उनको परिणमन में क्रमरूपता पायी जाती है। कोई भी पदार्थ परिणमन की इस क्रमरूपता का उल्लंघन नहीं कर सकता है और न ही अन्य पदार्थों को व्यवस्थित परिणमन में हस्तक्षेप कर सकता है। इससे यह निष्कर्ष फलित होता है कि प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वतंत्र, स्वाधीन व क्रमबद्ध है। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त की

भी वस्तुस्वातंत्र्य के साथ अन्विति है और यह सिद्धान्त वस्तुस्वातंत्र्य की पुष्टि करता है।

3. वस्तुव्यवस्था में निहित पर्यायों का क्रमवर्तित्व :-

जैनदर्शन के अनुसार, प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं - (अ) क्रमवर्ती (ब) अक्रमवर्ती। एक के पश्चात् एक होने के कारण पर्याय क्रमवर्ती धर्म हैं, और युगपत् पाये जाने के कारण गुण, अक्रमवर्ती या सहवर्ती धर्म हैं। इसलिए पर्यायों को क्रमवर्ती, क्षणवर्ती व समयवर्ती कहते हैं और गुणों को सहवर्ती, अक्रमवर्ती व सहभू कहते हैं।

समयसार गाथा 2 की आत्मख्याति टीका में द्रव्य को क्रमरूप (पर्याय) व अक्रमरूप (गुण) प्रवर्तनमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायों को अंगीकार किया है, ऐसा कहा गया है।[1] अन्यत्र भी इस सन्दर्भ में कई कथन उपलब्ध होते हैं - "क्रम-क्रम से एक के बाद दूसरी होने के कारण पर्याय को क्रमप्रवृत अथवा क्रमवर्ती कहते हैं तथा सभी पर्यायों एवं द्रव्यों में सदा विद्यमान रहने के कारण गुणों को अक्रमवर्ती अथवा सहवर्ती कहते हैं। ऐसा क्रमवर्ती तथा अक्रमवर्ती उभयरूप स्वभाव वस्तु का है।" [2]

परमार्थप्रकाश व प्रवचनसार का कथन भी द्रष्टव्य है - [3] "सहभुव जाणहि ताहँ गुण क्रमभुवपज्जउवुत्तु।" अर्थात् सहभू को गुण व क्रमभू को पर्याय समझना चाहिए। "सहक्रमप्रवृतानेकधर्म- व्यापकानेकान्तमय:" अर्थात् (गुण-पर्याय विशिष्ट द्रव्य) सह-क्रम-प्रवृत अनेक धर्मों में व्यापक अनेकान्तमय है।

पंचास्तिकाय गाथा 18 की टीका में देव व मनुष्यादि पर्यायों की क्रमरूपता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि - "देव - मनुष्यादि पर्यायें क्रमवर्ती होने का जिनका समय उपस्थित हुआ है वे उत्पन्न होती हैं और जिनका समय बीत गया है वे व्यय को प्राप्त होती हैं।" [4]

पं. फूलचंद जी सिद्धान्तशास्त्री ने उक्त टीकार्थ पर अपना मन्तव्य निम्न प्रकार से व्यक्त किया है- "यहाँ देव-मनुष्यादि पर्यायों को क्रमवर्ती कहा गया है इससे सिद्ध है कि द्रव्यस्वभाव में पर्यायों के होने का जो क्रम सुनिश्चित है उसी क्रम से अपने-अपने काल में वे होती हैं और व्यय को प्राप्त होती हैं। यह द्रव्य व उनकी पर्यायों का स्वरूप है इसमें स्वरूप से उत्पाद व व्ययरूप प्रत्येक पर्याय निश्चित क्रम में नियत होने से स्वकाल में ही उसका उत्पाद और स्वकाल में ही उसका व्यय होता है ऐसा उनका स्वभाव है।"[5] इस प्रकार उपर्युक्त उद्धहरणों का निहितार्थ यह है कि पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं और गुण अक्रमवर्ती अथवा सहवर्ती होता है ऐसी वस्तु की व्यवस्था है।

4. द्रव्य क्रमवर्ती व अक्रमवर्ती धर्मो का समन्वय :-

द्रव्य के क्रमवर्ती व अक्रमवर्ती धर्मों में परस्पर विरोध नहीं, किन्तु समन्वय है। सत् क्रमवर्ती है, यह भी विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि वह अनादिकाल से क्रम से परिणमनशील है और सत अक्रमवर्ती है, यह भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि परिणमन करता हुआ भी गुणों का समुदाय सत् एकरूप है। [6]

5. क्रमबद्ध पर्याय शब्द का जिनागम में प्रयोग :-

"क्रमबद्धपर्याय" शब्द को जिनागम में "क्रमनियमित पर्याय" शब्द से इंगित किया गया है, जो कि एकार्थवाची है। पंडित फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री ने जैनतत्त्व मीमांसा में उन्हें एकार्थवाची स्वीकार किया है।[7] वर्तमान में बहुधा इसी शब्द (क्रमबद्धपर्याय) का प्रयोग प्रचलन में है और क्रमबद्धपर्याय नाम से स्वतंत्र पुस्तकें भी लिखी गयी हैं। इस शब्द का प्रयोग समयसार की 308 से 311 की आत्मख्याति टीका में मिलता है।[8] तथा जिनागम के चारों अनुयोगों में क्रमबद्धपर्याय का कथन मिलता है।

6. क्रमबद्धपर्याय का अर्थ एवं स्वरूप :-

शाब्दिक अर्थ -	क्रम	-	एक के बाद एक, एक साथ नहीं।
	बद्ध	-	नियमित अर्थात् निश्चित।
	पर्याय	-	द्रव्यों अथवा गुणों का परिणमन।

उक्त अर्थ में दो बातें स्पष्ट की गयी हैं -

(अ) पर्यायें एक के बाद एक क्रमशः होती हैं।

(ब) पर्यायें अपने सुनिश्चित क्रम में होती हैं अर्थात् जिसके बाद जो पर्याय होना होती है, वही होती है, अन्य नहीं।

द्रव्य-गुण पर्यायात्मक वस्तु में पर्यायों के क्रम के सन्दर्भ में पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 169 का कथन दृष्टव्य है -: "द्रव्यत्व को नहीं छोड़ करके पहले होने वाली एक पर्याय को नाश करके और एक अर्थात् दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है तथा उसके नाश होने पर और अन्य पर्याय उत्पन्न होती है। इस क्रम में कभी अन्तर नहीं पड़ता है।"[9]

समयसार में जीव व अजीव के परिणामों को क्रमबद्ध बतलाते हुए कहा गया है - "प्रथम तो जीव क्रमनियमित ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसी प्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।[10] यहाँ समस्त जीवों और अजीवों के परिणमन को क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है। जीव और अजीव के अतिरिक्त जगत् में और है ही क्या ? जीव और अजीव द्रव्यों के समूह का नाम ही विश्व अर्थात् जगत् है इस प्रकार समस्त जगत् का परिणमन ही क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है। [11]

पंचाध्यायी में इसी तथ्य को 'पाद निक्षेप' के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया है - "जब मनुष्य चलता है तब उसका दायाँ और बायाँ पैर एक के बाद एक क्रमशः उठता है अर्थात् दाये के बाद बायाँ और बाये के बाद दायाँ ऐसा चलने का जो पादक्रम है वह उल्टा-सीधा नहीं होता, उसी प्रकार जीव व अजीव द्रव्यों का परिणमन भी क्रमबद्ध होता है, उनकी पर्यायों का क्रम उल्टा-सीधा नहीं होता।" [12]

पंडित फूलचंद सिद्धान्त शास्त्री ने इस सन्दर्भ में जो अपना मन्तव्य व्यक्त किया है वह उल्लेखनीय है - 'प्रत्येक कार्य अपने स्वकाल में ही होता है इसलिए प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रमनियमित है। एक के बाद एक अपने-अपने स्वकाल में निश्चय उपादान के अनुसार होती रहती हैं। यहाँ पर 'क्रम' शब्द पर्यायों की क्रमाभिव्यक्ति को दिखलाने के लिए स्वीकार किया गया है और 'नियमित' शब्द प्रत्येक पर्याय का स्वकाल अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार नियमित है-यह दिखलाने के लिए किया जाता है।'[13]

प्रवचनसार गाथा 99 व उसकी टीका में द्रव्य के उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मक त्रिलक्षण स्वभाव की सिद्धि में मोतियों के हार का दृष्टान्त देते हुए पर्यायों की क्रमबद्धता की बात कही है जो इस प्रकार है - "जिस प्रकार - जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोती के हार में अपने-अपने स्थान में प्रकाशित समस्त मोतियों में, पीछे-पीछे के स्थानों में मोती प्रगट होने से और पहले-पहले के मोती प्रगट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचयिता डोरा अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है। इसी प्रकार जिसने नित्यवृति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) द्रव्य में, अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित (प्रगट) होते हुए समस्त परिणामों में, पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचयिता प्रवाह अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है।" [14]

इस दृष्टान्त का स्पष्टीकरण कानजी स्वामी ने निम्न प्रकार से किया है - उक्त दृष्टान्त में लटकते हुए मोतियों के हार की बात कही है जिसमें सभी मोती अपने स्थान में प्रकाशित हैं और पीछे-पीछे के स्थान में पीछे-पीछे का मोती प्रकाशित होता है इसलिए उन मोतियों की अपेक्षा से हार का उत्पाद है तथा एक के बाद दूसरे मोती को लक्ष्य में लेने से पहले का मोती लक्ष्य में से छूट जाता है इसलिए पहले का मोती दूसरे स्थान पर प्रकाशित नहीं होता, इस अपेक्षा से हार का व्यय है और सभी मोतियों में परस्पर सम्बन्ध जोड़ने वाला डोरा होने से हार ध्रौव्यरूप है। (इस प्रकार हार का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाला निश्चित होता है।)

इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य नित्य-स्थायी है, नित्यस्थायी द्रव्य लटकते हुए हार की भांति सदैव परिणमित होता है, उसके परिणाम अपने-अपने अवसर में प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार मोती की माला में मोती का क्रम निश्चित है, माला फिराने से वह क्रम उल्टा-सीधा नहीं होता, उसी प्रकार द्रव्य की अनादि अनंत पर्यायमाला-पर्यायों की पंक्ति है। उसमें प्रत्येक पर्याये क्रमबद्ध है, कोई पर्याय आगे-पीछे नहीं होती। [15]

जैनआगम में पर्यायों के क्रमभावी स्वभाव की सिद्धि हेतु और भी कई उदाहरण मिलते हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड में भी 'नक्षत्रों' के दृष्टान्त द्वारा पर्यायों की क्रमबद्धता को बतलाया गया है जो कि निम्नांकित है - जैसे प्रकृति में कृतिका, रोहिणी, मृगशीर्ष .... आदि सभी नक्षत्रों का क्रमशः उदयरूप क्रम पाया जाता है यदि वर्तमान में 'रोहिणी' नक्षत्र उदयरूप हो तो उसके पूर्व 'कृतिका' नक्षत्र ही था और अब 'मृगशीर्ष' नक्षत्र ही आएगा - ऐसा क्रम दिखलाई पड़ता है। यदि नक्षत्रों का क्रम निश्चित न हो तो पहले कौन-सा नक्षत्र था और अब कौन सा होगा उसका ज्ञान होना संभव नहीं है। वैसे ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों का क्रम सुनिश्चित है। प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में ही प्रगट होती है, पूर्व अथवा पश्चात् में नहीं। [16]

उक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक वस्तु में पर्यायों का प्रवाहक्रम पूर्ण व्यवस्थित निश्चित है उसके क्रमबद्ध प्रवाह में कोई भी परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति में होने वाला क्रमबद्ध परिवर्तन भी इस तथ्य की पुष्टि करता है।

सामान्यतः क्रमबद्धपर्याय को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि -

"जिस द्रव्य की जो पर्याय, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस निमित्त व जिस पुरुषार्थपूर्वक जैसी होनी होती है, उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी क्षेत्र में, उसी काल में, उसी निमित्त व उसी पुरुषार्थसिद्धि, वैसी ही होती है, अन्यथा नहीं।" वस्तुव्यवस्था के इस नियम को क्रमबद्धपर्याय कहा जाता है।

कहा भी गया है - जिस जीव के द्वारा, जहाँ, जिस काल में, जिस कारण से, जिस परिमाण में जो प्रातव्य है, उस जीव के द्वारा, वहाँ, उस काल में, उस कारण से, उस परिमाण में वह नियम से प्राप्त किया जाता है। [17] ऐसा ही मन्तव्य आचार्य कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में व्यक्त किया है साथ ही, सर्वज्ञता के आधार पर वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन को बतलाया है। वे उसकी गाथा 321-322 में लिखते हैं - "जिस जीव का, जिस देश में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनेदव ने नियतरूप से जाना है, उस जीव का, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से जन्म अथवा मरण अवश्य होता है उसे टालने में इन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र कोई भी समर्थ नहीं हैं।"[18]

जिनागम में और भी अनेक स्थानों पर इस प्रकार का मन्तव्य व्यक्त किया गया है, यथा- "सम्यग्दृष्टि को ऐसा निश्चय है कि जिस जीव का, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जन्म-मरण या लाभ-अलाभ या सुख-दु:ख होना जिनेन्द्र भगवान ने केवलज्ञान में जाना है, उस जीव का, उस देश में, उस काल में, उस विधान से, जन्म-मरण या लाभ-अलाभ या सुख-दु:ख नियम से होता ही है उसे दूर करने में इन्द्र-नरेन्द्र व जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं।" [19]

"सम्यग्दृष्टि को ऐसा विचार होय है, 'वस्तु का जो स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जान्या है, तैसा निरंतर परिणमै है, होय है। उसे इष्ट-अनिष्ट मानकर सुखी-दु:खी होना निष्फल हैं। ऐसो विचार तैं दु:ख मिटै है - यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है।' [20]

पूर्वोक्त उद्धरणों में वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन में सर्वज्ञता का आधार भी दिया गया है। सर्वज्ञ ने जैसा वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्ष किया है उसके अनुसार, प्रत्येक वस्तु का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप से क्रमबद्ध परिणमन होता है। वस्तु कभी-भी अपने क्रमनियमित स्वभाव का उल्लंघन नहीं करती और सदाकाल अपने क्रम से अवस्थाओं में अस्वस्थान्तर होता रहता है अत: सर्वज्ञता भी क्रमबद्धपरिणमन की सिद्धि में एक हेतु बनता है।

7. जैनदर्शन में मान्य सर्वज्ञता का स्वरूप :-

जैनदर्शन में ज्ञान को आत्मा का स्वरूप अथवा स्वाभाविक गुण माना गया है और उसे स्व-पर प्रकाशक भी स्वीकार किया गया है। [21] आचार्य विद्यानंद ने कहा है कि ऐसा कोई ज्ञेय नहीं, जो 'ज्ञ' स्वभाव आत्मा के द्वारा न जाना जाए। किसी विषय की अज्ञता का होना ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषों का कार्य है। जब ज्ञान के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषों का क्षय हो जाता है तो बिना किसी रुकावट के समस्त ज्ञेयों का ज्ञान युगपत् हुए बिना नहीं रह सकता। इसी को सर्वज्ञता कहा गया है। [22]

जैनमनीषियों ने प्रारंभ से त्रिकाल व त्रिलोकवर्ती अशेष पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान के अर्थ में सर्वज्ञता को पर्यवसित किया है। आगम ग्रंथों व न्याय ग्रंथों में सर्वत्र सर्वज्ञता

का प्रतिपादन मिलता है। षट्खण्डागम सूत्रों में कहा गया है - "केवली भगवान समस्त लोकों, समस्त जीवों और समस्त पदार्थों को सर्वदा एक साथ जानते व देखते हैं।[23] आचार्य कुन्दकुन्द का भी कथन है कि आवरणों के अभाव में उद्भूत केवलज्ञान, भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित आदि सब तरह के ज्ञेयों को पूर्णरूप से युगपत् जानता है।[24]

सम्पूर्ण जिनागम सर्वज्ञता के स्वरूप संबंधी कथनों से भरा पड़ा है। तत्त्वार्थसूत्र व उनकी टीकाओं में भी सर्वज्ञता का प्रतिपादन मिलता है - "सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य" सूत्र में उमास्वामी ने भी केवलज्ञान का विषय समस्त द्रव्यों और उनकी तीन काल संबंधी पर्यायों का युगपत् जानना कहा है।[25] इस सूत्र के टीकाकार आचार्य पूज्यपाद व आचार्य अकलंकदेव का कथन भी क्रमशः द्रष्टव्य है - सब द्रव्यों की पृथक-पृथक तीनों कालों में होने वाली अनंतानंत पर्यायें हैं इन सब में केवलज्ञान की प्रवृति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है जो केवलज्ञान के विषय से परे हो। केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है इसी बात का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' कहा है।[26] यह लोकालोक स्वभाव से ही अनंत है। उससे भी यदि अनंतानंत गुने विश्व हों तो उसको भी जानने की सामर्थ्य केवलज्ञान में है ऐसा केवलज्ञान का अपरिमित माहात्म्य है।[27]

उक्त विवेचन का निहितार्थ यह है कि सर्वज्ञता वह स्थिति है जिसमें जीव तीन लोक व तीन काल संबंधी समस्त द्रव्यों का व उनकी वर्तमान, भूत, भावी पर्यायों सहित युगपत् एक समय में प्रत्यक्ष करता है और इस तथ्य का प्रगटीकरण करता है कि समस्त द्रव्यों की भूत में निष्पन्न हो चुकी पर्यायें तो क्रमबद्ध हैं ही, परन्तु अनिष्पन्न (भावी) पर्यायें भी क्रमबद्ध हैं अर्थात् उनके निष्पन्न होने का क्रम व काल सुनिश्चित है। यदि भविष्य में निष्पन्न होने वाली पर्यायें क्रमबद्ध न हो तो केवलज्ञान में उनका प्रत्यक्षत्व कैसे हो सकेगा ?

जैनदर्शन में सर्वज्ञता के सन्दर्भ में एक बात यह भी स्पष्ट की गयी है कि यदि सर्वज्ञ का ज्ञान त्रिकाल वस्तुओं को जानने की सामर्थ्य से युक्त न हो तो सामान्य ज्ञान से उसमें क्या विशिष्टता व भिन्नता रहेगी। इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द का मन्तव्य उल्लेखनीय है - "यदि अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूत की) पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न हो तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?"[28]

'धवला' में भी इसी मन्तव्य को इस प्रकार व्यक्त किया गया है -

प्रश्न - जो पदार्थ नष्ट हो चुके है जो पदार्थ उत्पन्न नहीं हुए है उनका ज्ञान केवलज्ञान से कैसे हो सकता है ?

उत्तर - हो सकता है, क्योंकि केवलज्ञान के सहाय-निरपेक्ष होने से बाह्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना उनके (विनष्ट व अनुत्पन्न) ज्ञान की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है।[29]

8. मीमांसकों के सर्वज्ञता विरोधी आक्षेपों का खण्डन एवं सर्वज्ञता की सिद्धि :-

जैनदर्शन में सर्वज्ञता की अवधारणा को क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि में एक हेतु माना गया है, परन्तु सर्वज्ञता का स्वरूप जैसा कि जैनदर्शन में मान्य किया गया है वह

प्रमाण व युक्ति से सिद्ध होता है अथवा नहीं। इसका विवेचन यहाँ पर अपेक्षित है। सर्वज्ञ की सत्ता चार्वाक व मीमांसक दोनों अमान्य अथवा अस्वीकृत करते हैं, उनके अनुसार किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करना संभव नहीं है। यद्यपि मीमांसकों ने षट्प्रमाणों के अन्तर्गत सर्वज्ञाभाव सिद्धि का प्रबल प्रयास किया है, किन्तु जैनदार्शनिकों ने मीमांसकों के तर्कों का सयुक्तिक खण्डन कर सर्वज्ञता की सत्ता सिद्ध की है।

आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानंद, अभिनवधर्मभूषण, माणिक्यनंदी, प्रभाचन्द्र आदि तार्किकों ने सर्वज्ञता के समर्थन में प्रबल हेतु दिये हैं। इनमें से कई आचार्यों ने सर्वज्ञता की स्थापना में महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की है उनमें समन्तभद्र की 'आप्तमीमांसा' जिसे 'सर्वज्ञविशेष परीक्षा' भी कहा गया है, से सर्वज्ञता की तार्किक विवेचना का सूत्रपात हुआ है। इसके अतिरिक्त आचार्य अकलंक की सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, युक्तानुशासन, लघीयस्त्रय, विद्यानंद की आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्त्री, प्रभाचंद्र की प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचंद्र, आचार्य अनंतकीर्ति की लघु व वृहत्सर्वज्ञसिद्धि आदि रचनाओं में सर्वज्ञता के सन्दर्भ में तार्किक व युक्तिपरक विवेचन मिलता है।

यहाँ मीमांसकों का पूर्वपक्ष व जैनतार्किकों का उत्तरपक्ष अवलोकनीय है -

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण -

मीमांसकों का मानना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति इन्द्रिय संबद्ध और वर्तमान प्रतिनियत रूपादि विषय में ही होती है, परन्तु सर्वज्ञपुरुष न तो इन्द्रिय संबद्ध है और न वर्तमान है।[30]

इस कथन के सन्दर्भ में जैनों का तर्क है कि प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है - इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष। इनमें से जब सर्वज्ञ इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है तब वह ज्ञान सर्वज्ञ का अभाव कैसे सिद्ध कर सकता है? क्योंकि जो जिसका विषय नहीं है वह उसके अभाव को बतलाने में समर्थ नहीं होता। अब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष पर विचार करें तो जिसको अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है वही तो सर्वज्ञ कहलाता है। अत: अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सर्वज्ञता का बाधक न होकर साधक हो जाता है। दूसरी बात, मीमांसक अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की सत्ता मानते ही नहीं हैं तब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञाभाव कैसे सिद्ध कर सकते हैं।

इस सन्दर्भ में मीमांसक कहते हैं कि यद्यपि प्रवर्तमान प्रत्यक्ष सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं है तथापि निवर्तमान प्रत्यक्ष सर्वज्ञाभाव का साधक होता है। यहाँ मीमांसकों से पूछा जा सकता है कि क्या सर्वज्ञाभाव केवल आप अपने प्रत्यक्ष की निवृति से सिद्ध करते हैं अथवा सभी के प्रत्यक्ष की निवृत्ति से? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि जिन सूक्ष्म, अतीन्द्रिय या दूरस्थ वस्तुओं का हमें प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता फिर भी वे वस्तुएं विद्यमान होती हैं। द्वितीय पक्ष को भी स्वीकार करना समीचीन है, क्योंकि सर्वज्ञ के विषय में सर्वप्रत्यक्ष की निवृति की बात वही कह सकता है जो स्वयं सर्वज्ञ हो। अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण के बल से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।[31]

(ख) अनुमान प्रमाण -

मीमांसकों के अनुसार सर्वज्ञत्व की सिद्धि अनुमान से भी संभव नहीं है, क्योंकि लिंग-लिंगी अविनाभाव सम्बन्ध सर्वज्ञ के साथ नहीं पाया जाता। सर्वज्ञ के साथ स्वभाव व कार्य हेतु दोनों असिद्ध हैं। सर्वज्ञता का न तो किसी के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध सिद्ध है और न उसका स्वभाव ही प्रत्यक्ष गोचर है अत: अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि संभव नहीं है।

इसके विरुद्ध जैनों का तर्क है कि अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध है। सर्वज्ञता की स्थापना में अनुमान प्रमाण इस प्रकार है - ''सूक्ष्म, अन्तरित व दूरवर्ती पदार्थ किसी पुरुष विशेष के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे - अग्नि। जो पदार्थ अनुमेय होता है वह किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होता है। पर्वत में स्थित अग्नि दूरवर्ती पुरुष को अनुमेय होती है, किन्तु पर्वत में स्थित पुरुष को प्रत्यक्ष होती है। इसी प्रकार जिन सूक्ष्मादि पदार्थों को हम अनुमान से जानते हैं उन्हीं पदार्थों को कोई पुरुष प्रत्यक्ष से अवश्य जानता है और जो उनको प्रत्यक्ष से जानता है वही सर्वज्ञ है।'' [32]

सर्वज्ञता का साधक दूसरा अनुमान इस प्रकार है - ''किसी पुरुष विशेष में ज्ञान के प्रतिबन्धकों का पूर्णतया क्षय हो जाता है, क्योंकि अन्यत्र उनकी न्यूनाधिकता देखी जाती है जैसे - खान से निकाले हुए स्वर्ण में कीट आदि बहिरंग मल और कालिमा आदि अन्तरंग मल रहता है, किन्तु अग्नि में पुटपाक आदि कारणों के द्वारा स्वर्ण में दोनों प्रकार के मलों का अत्यंत नाश हो जाता है।''[33]

आचार्य अकलंकदेव ने ऐसी ही युक्ति दी है - जैसे - परिमाण अतिशययुक्त होने से आकाश में पूर्ण रूप से पाया जाता है, वैसे ही ज्ञान भी अतिशययुक्त होने से किसी पुरुष विशेष में विभु-समस्त ज्ञेयों का जानने वाला होता है और जैसे अंधकार हटने पर चक्षु स्पष्ट रूप से जानती है, वैसे ही दोष व मल की हानि होने से ज्ञान ज्ञेयों को स्पष्ट रूप से जानता है। यदि यह कहा जाए कि दोष और मल की आत्यन्तिक हानि नहीं होती तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे माणिक्य आदि से मल की व्यावृत्ति आत्यन्तिक रूप से होती है उसी तरह किसी आत्मा के भी मल के प्रतिपक्षी ज्ञानादि का प्रकर्ष होने पर मल का अत्यंताभाव हो जाता है।[34]

ज्ञान के समस्त प्रतिबन्धकों का अभाव संभव होने पर सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध हो जाती है। ऐसा कोई अनुमान भी उपलब्ध नहीं है जो सर्वज्ञ की असत्ता को सिद्ध करता हो। यदि मान लिया जाय कि ऐसा कोई अनुमान है जो सर्वज्ञ की असत्ता को सिद्ध करता है तो प्रश्न उठता है कि सर्वज्ञ के नास्तित्व को सिद्ध करने का साधन क्या है। अनुपलम्भ अथवा वक्तृत्वादिक ? यदि अनुपलम्भ साधन है तो वह स्वसंबंधी अनुपलम्भ होगा अथवा सर्वसंबंधी अनुपलम्भ। स्वसंबंधी अनुपलम्भ से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक पुरुष में स्वसंबंधी अनुपलम्भ तो परचित्त आदि अनेक वस्तुओं का पाया ही जाता है, परन्तु इससे उन वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करने के लिए सर्वसंबंधी अनुपलम्भ भी समर्थ नहीं है, क्योंकि असर्वज्ञ व्यक्ति सब पुरुषों को और उनके ज्ञानों को जाने बिना

ऐसा कैसे कह सकता हैं कि सबको सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है। इस प्रकार अनुपलम्भ हेतु सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं होता है।

वक्तृत्वादि के कारण भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। वक्ता प्रमाण विरोधी या प्रमाणसंगत या सामान्य-तीन प्रकार के माने गये हैं। प्रमाण विरोधी वक्ता को मानने में तो सिद्ध-साध्यापत्ति है, क्योंकि जो प्रमाण विरोधी कहता है, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, यह हमारी मान्यता है। सर्वज्ञ तो प्रमाणसंगत और अविरोधी वचन बोलने वाला होता है। सर्वज्ञ के लिए तीन शर्तों का होना आवश्यक है - (अ) वीतरागता (ब) हितोपदेशित्व (3) घातियाकर्मविर्निमुक्तता। जिनमें उक्त तीनों शर्तों के साथ वक्तृत्व रहता है, वही सर्वज्ञ माना जाता है। सामान्य वक्ता मानने से हेतु अनैकान्तिक हो जाता है। यदि कोई कहे कि सभी पुरुष असर्वज्ञ हैं तो फिर कोई सर्वज्ञ बचा ही नहीं। विपक्ष में व्यतिरेक सिद्ध नहीं है अत: निषेध का प्रश्न ही निरर्थक है। हाँ, रथ्यापुरुष में असर्वज्ञत्व एवं वक्तृत्व दोनों गुणों का समावेश कर व्यतिरेक बना लिया जाएगा तो यह कथन भी स्ववचनबाधित है, क्योंकि साध्यभूत सब पुरुष है और इस समष्टि में रथ्यापुरुष भी सम्मिलित है तब व्यतिरेक किस प्रकार बनेगा और बिना व्यतिरेक के हेतु में प्रामाणिकता नहीं आती। अत: वक्तृत्व हेतु से सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता तथा इसमें चक्रक दोष भी उत्पन्न होता है, क्योंकि वक्तृत्व.हेतु से सर्वज्ञाभाव सिद्ध होने पर व्यतिरेक सिद्ध होगा और व्यतिरेक सिद्ध होने पर असर्वज्ञत्व सिद्धि होगी।

अनुपलब्धि के द्वारा सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यह अनुपलब्धि किस हेतु से होगी ? सत्ता से, पुरुषत्व से, या वक्तृत्व से। इन तीनों विकल्पों का प्रयोग हम वेद में भी कर सकते हैं क्योंकि वेदार्थज्ञ कोई भी उपलब्ध नहीं, अत: वेदार्थज्ञ की सत्ता कैसे मानी जाएगी ? यदि आप वेदार्थज्ञ की सत्ता मानते हैं तो सर्वज्ञ की सत्ता भी माननी पड़ेगी। जो प्रश्न आपने सर्वज्ञ के सम्बन्ध में किये हैं वे ही प्रश्न वेदार्थज्ञ के सम्बन्ध में भी हो सकते हैं।[35] इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध होती है।

(ग) आगमप्रमाण -

आगम प्रमाण भी सर्वज्ञ का साधक नहीं है। आगम दो प्रकार का होता है - नित्य और अनित्य। नित्य आगम अनादि होने व सर्वज्ञपुरुष आदिमान होने से उसके द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि कैसे संभव है। नित्य आगम की तरह अनित्य आगम भी सर्वज्ञ का साधक नहीं है। अनित्य आगम दो प्रकार होता है - सर्वज्ञप्रणीत और असर्वज्ञप्रणीत। सर्वज्ञ प्रणीत आगम को सर्वज्ञसाधक मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है तथा असर्वज्ञ प्रणीत आगम तो प्रमाण ही नहीं है ऐसे अप्रमाणभूत आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि का तो प्रश्न ही नहीं है।[36]

आगम प्रमाण के सन्दर्भ में जैनों का कथन है कि यदि आगम को सर्वज्ञाभाव का साधक माना जाए तो प्रश्न होता है कि अपौरुषेय और पौरुषेय में से कौन-सा आगम सर्वज्ञाभाव का साधक है ? अपौरुषेय (वेद) सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सर्वज्ञाभाव का प्रतिपादक कोई वेदवाक्य नहीं है। प्रत्युत 'हिरण्यगर्भ:

सर्वज्ञ:' [37] इत्यादि सर्वज्ञसाधक वेद वाक्य ही पाये जाते हैं। यदि पौरुषेय आगम को सर्वज्ञाभाव का साधक माना जाए तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि कौन-सा आगम सर्वज्ञाभाव का साधक है सर्वज्ञप्रणीत अथवा इतरप्रणीत। प्रथम पक्ष असंगत है, क्योंकि सर्वज्ञप्रणीत आगम सर्वज्ञाभाव को सिद्ध न करके सर्वज्ञ को ही सिद्ध करेगा। द्वितीय पक्ष भी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि इतरप्रणीत रथ्यापुरुष के वचनों के समान प्रमाण नहीं है। तब वह सर्वज्ञाभाव का प्रतिपादन कैसे कर सकता है ? इस प्रकार आगम प्रमाण सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करने में असमर्थ है। [38]

(घ) उपमान प्रमाण -

उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ का साधक नहीं है। गौ सदृश गवय को ग्रहण करने पर उपमान प्रमाण से गवय का ज्ञान होता है। सदृश पदार्थ के ग्रहण करने पर उपमान की प्रवृत्ति होती है, परन्तु जैसे-सर्वज्ञ के सदृश इस जगत् में दूसरा कोई पदार्थ नहीं है अत: सर्वज्ञ सदृश व्यक्ति के अभाव में उपमान से सर्वज्ञ का ज्ञान संभव नहीं है। [39]

उपमान प्रमाण के द्वारा भी सर्वज्ञाभाव का प्रतिपादन संभव नहीं है। यदि किसी पुरुष ने वर्तमान कालवर्ती सब पुरुषों को असर्वज्ञ के रूप में देखा हो तो वह कह सकता है कि जैसे ये पुरुष असर्वज्ञ हैं वैसे ही अन्य सब पुरुष असर्वज्ञ हैं, परन्तु ऐसा तो किसी ने देखा नहीं है। यदि ऐसा किसी ने देखा या जाना है तो देखने वाला ही सर्वज्ञ हो जाएगा। ऐसी स्थिति में उपमान से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। [40]

(च) अर्थापत्ति प्रमाण -

अर्थापत्ति प्रमाण भी सर्वज्ञ की सिद्धि में असमर्थ है। अर्थापत्ति प्रमाण की प्रवृति वहाँ होती है यदि कोई ऐसा अर्थ हो जो सर्वज्ञ के अस्तित्व के बिना संभव न हो तो उस अर्थ के द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान किया जा सकता है, किन्तु ऐसा कोई अर्थ उपलब्ध नहीं है तब अर्थापत्ति सर्वज्ञ की साधक कैसे हो सकती है। [41]

अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना शक्य नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञाभाव के बिना नहीं होने वाले, प्रमाण षटक से विज्ञात ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो कि सर्वज्ञ के अभाव होने पर ही हो सकता हो, अत: अन्यथानुपपद्यमानत्वरूप अर्थापत्ति सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नहीं कर सकती है। मीमांसक वेदप्रमाण्य को अर्थापत्ति का उत्थापक नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वेद प्रामाण्य सर्वज्ञ के सद्भाव में ही बन सकता है, सर्वज्ञ के अभाव में नहीं; क्योंकि गुणवान वक्ता के अभाव में वचन में प्रामाणिकता नहीं आ सकती। दूसरी बात यह भी है कि अर्थापत्ति प्रमाण अनुमान से पृथक् कोई प्रमाण नहीं है, जैसे अनुमान से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने में व्याप्ति का अभाव, सपक्ष का अन्वय नहीं होना इत्यादि दोष आते हैं ऐसे ही दोष अर्थापत्ति प्रमाण में आवेंगे। [42]

(छ) अभाव प्रमाण -

मीमांसकों का अभिमत है कि अभावप्रमाण से तो सर्वज्ञाभाव ही सिद्ध होगा, सर्वज्ञ नहीं। अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं है, क्योंकि आपके अनुसार

अभाव की प्रवृत्ति वहीं पायी जाती है जहाँ प्रमाण पच्चक की निवृति पायी जाती है। 'गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्' अर्थात् वस्तु के सद्भाव को ग्रहण कर और प्रतियोगी का स्मरण होने पर ही अभाव की प्रवृति देखी जाती है।[43] जब सर्वज्ञ का सद्भाव ही गृहीत नहीं है तो उसका स्मरण कैसे आ सकेगा ? क्योंकि अभाव प्रमाण के लिए आवश्यक शर्त है कि प्रतियोगी का स्मरण होना चाहिए। सर्वज्ञ अदृष्ट प्रतियोगी है, तब उसका अभाव कैसे संभव है ? दूसरी बात यह भी है कि अभाव दो प्रकार का होता है - प्रसज्यप्रतिषेध और पर्युदास प्रतिषेध। प्रथम में आत्यंतिक निषेध है और द्वितीय में सापेक्षिक। अब यदि प्रसज्य प्रतिषेध अभाव से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना चाहे तो उसमें अत्यंताभाव अवस्तुरूप होने से सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यदि पर्युदास अभाव से सर्वज्ञ का निषेध करें तो उसमें तो उसका सद्भाव ही सिद्ध होगा। अत: मीमांसकों द्वारा कल्पित अभाव प्रमाण सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करने में पूर्णतया असमर्थ है।[44] इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में बाधक प्रमाणों का अभाव सुनिश्चित होने के कारण सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं आती है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि सर्वज्ञ की सत्ता प्रामाणिक है, क्योंकि कोई भी प्रमाण सर्वज्ञ की सत्ता को असिद्ध करने में समर्थ नहीं है। यद्यपि अनुमानप्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध नहीं होती, किन्तु वे भी सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करने असमर्थ हैं अर्थात् वे प्रमाण भी सर्वज्ञ की सत्ता सिद्धि में बाधक नहीं हैं। अत: सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध होने पर वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन की पुष्टि होती है; क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में तीन लोक के समस्त द्रव्यों व उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों का युगपत् प्रत्यक्ष होता है व उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप में इस तथ्य का परिज्ञान कराया जाता है कि प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण की प्रतिसमय होने वाली पर्याय क्रमनियमित अथवा क्रमबद्ध ही होती हैं। परन्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से प्रत्येक वस्तु का जैसा परिणमन होता है, वैसा सर्वज्ञ मात्र जानता है, किन्तु वह उस परिणमन में फेरफार नहीं करता और न कोई अन्य शक्ति वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन में फेरफार कर सकती है।

इसके अतिरिक्त सूर्य-चन्द्रग्रहण, ज्वारभाटा, मौसम संबंधी व अन्य प्रकृति संबंधी भविष्यवाणियाँ बहुत पहले (वर्षों पूर्व) कर दी जाती हैं और वे सत्य भी प्रमाणित होती हैं तथा अष्टांगनिमित्तज्ञान व ज्योतिष विज्ञान के आधार पर भविष्य में होने वाले घटनाक्रम की जो जानकारी दी जाती है वह इस तथ्य का प्रगटीकरण करती है कि वस्तु का परिणमन सुव्यवस्थित, सुनिश्चित व क्रमबद्ध है। यदि वस्तु के परिणमन का क्रम सुनिश्चित न हो तो भविष्य संबंधी उपरोक्त घोषणायें बहुत पहले करना संभव कैसे हो सकता है ? इससे स्पष्टतया विदित होता है कि वस्तु का परिणमन क्रमबद्ध रूप से होता है तथा प्रकृति में विद्यमान विभिन्न तथ्य भी इस बात की पुष्टि करते हैं एवं प्रकृति संबंधी अनेक वैज्ञानिक उद्घोषणायें भी इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं।

9. क्रमबद्धपर्याय व नियतिवाद में भिन्नता :-

सामान्य रूप से क्रमबद्धपर्याय का अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि

क्रमबद्ध- पर्याय का सिद्धान्त नियतिवाद के समरूप है अथवा उससे समानता रखता है, क्योंकि नियतिवादियों की भी मान्यता है - ''जिसका, जिस समय में, जहाँ, जो होना होता है वह होता ही है। प्राणियों को नियति के कारण जो भी शुभ-अशुभ प्राप्त होना है वह अवश्य ही होगा। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले, पर जो नहीं होना है वह नहीं होगा और जो होना है उसे कोई नहीं रोक सकता। सब जीवों का सब कुछ नियत है वह नियत गति से ही होगा। उसमें किसी प्रकार का प्रयत्न-पुरुषार्थ निरर्थक है। किन्तु जब हम सूक्ष्मता से दोनों सिद्धान्तों का अवलोकन करते हैं तो यह विदित होता है कि नियतिवादी कार्योत्पत्ति को पूर्णत: नियति निर्धारित मानते हैं उसमें पुरुषार्थादि अन्य कारणों का पूर्णत: निषेध करते हैं तथा वे कार्य-कारण व्यवस्था को पूर्णत: अस्वीकृत करते हैं। जबकि क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है कि प्रत्येक कार्य जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस निमित्त से व जिस पुरुषार्थपूर्वक जैसा होना होता है, वैसा ही होता है, अन्यथा नहीं। अर्थात् कार्य जब होना होगा तब होगा ऐसी एकान्त मान्यता को अस्वीकार कर पांचों समवाय (स्वभाव, निमित्त, पुरुषार्थ, काललब्धि व भवितव्यता) पूर्वक ही कार्य होता है ऐसा कथन किया गया है।'' इस सन्दर्भ में आचार्य सिद्धसेन का कथन उल्लेखनीय है - ''काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (निमित्त) और पुरुषार्थ इन पांच कारणों में से किसी एक से कार्योत्पत्ति मानना एकान्त है, मिथ्यात्व है और इनके समवाय से कार्योत्पत्ति मानना अनेकान्त है, सम्यक्त्व है।''(45)

पाँच समवायों का स्वरूप :-

(क) स्वभाव - वस्तु यानि द्रव्य का स्वयं का जो स्थायी भाव है वह स्वभाव है। उस स्वभाव के अनुसार ही कार्य होता है। कोई भी कार्य अपने द्रव्य स्वभाव का कभी-भी उल्लंघन नहीं करता है। द्रव्य की जो-जो पर्याय होती है उस पर्यायरूप परिणमन करने की योग्यता रूप धर्म उस द्रव्य में विद्यमान रहता है। जैसे-घट रूप परिणमन करने का स्वभाव मिट्टी में विद्यमान है।

(ख) निमित्त - निमित्तकारण का विस्तार पूर्वक कथन 'निमित्तोपादान मीमांसा' के अंतर्गत किया जा चुका है। जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित नहीं होता; किन्तु कार्य की उत्पत्ति होने पर जिस पर अनुकूल होने का आरोप आता है, वह निमित्तकारण है। जैसे- मिट्टी जब घट रूप स्वयं परिणमित होती है तब कुम्हार, दण्ड, चाक आदि को निमित्त कहा जाता है।

(ग) पुरुषार्थ - द्रव्य की कार्योत्पादान शक्ति का नाम पुरुषार्थ है। सभी द्रव्यों के परिणमन में मूल कारण तो उस द्रव्य का वह गुण रहता है जिसकी वह पर्याय होती है तथा निमित्त कारण उसका वीर्य गुण रहता है। जीव द्रव्य के सन्दर्भ में ज्ञानात्मक कार्य होते समय ज्ञान गुण की पर्याय को पुरुषार्थ कहते हैं। अन्य गुणों के परिणमन में वीर्य गुण की शक्ति को पुरुषार्थ कहते हैं। पुद्गल द्रव्य के सन्दर्भ में उसकी परिणमन शक्ति को पुरुषार्थ कहते हैं।

(घ) काललब्धि - प्रत्येक वस्तु में विशिष्ट कार्य होने की योग्यता जिस समय में होती है उसे काललब्धि कहते हैं। इसे 'नियति' भी कहा जाता है।

(ड) भवितव्य - इसका शब्दश: अर्थ है - 'होने योग्य'। वस्तु में जिस समय जो कार्य होने योग्य होता है वही होता है, अन्य नहीं। इसी को भवितव्य या होनहार कहा जाता है।

इस प्रकार जैनदर्शन पांचों समवाय पूर्वक कार्य की सिद्धि स्वीकृत कर नियतिवाद का पूर्णत: निषेध करता है। जैनदर्शन में नियतिवादी को 'मिथ्यादृष्टि' कहा गया है।(46) क्योंकि नियति नाम का कोई स्वतंत्र व पृथक तत्त्व नहीं है। नियतिवादी पुरुषार्थ का अभाव करता हुआ केवल भाग्य भरोसे बैठकर होनहार का इंतजार करता है, यह इसकी कपोल कल्पनामात्र है। ऐसी कल्पनाओं से कार्य नहीं होता। इस कारण गोम्मटसार में उसे 'स्वच्छन्दी' कहा है तथा मिथ्यात्व का पोषण करने वाला 'गृहीत मिथ्यादृष्टि' भी कहा है।(47)

इससे स्पष्ट है कि पांचों समवाय पूर्वक ही कार्य होता है। किसी एक समवाय से कार्य की सिद्धि मानना अज्ञान व मिथ्यात्व है। जब भी कार्य होता है तब स्वभाव का स्वीकार, पुरुषार्थ का प्रयोग, निमित्त की उपस्थिति, काल की प्राप्ति, होने योग्य कार्य का होना आदि समवाय एक साथ घटित होते हैं। अत: पांच कारणों रूप समवाय से कार्योत्पत्ति मानने को 'सम्यक् नियतिवाद' भी कहा जाता है लेकिन जब कथन किया जाता है तो किसी समवाय विशेष की मुख्यता से कथन किया जाता है; किन्तु उसमें अन्य समवाय गर्भित रहते हैं उनका निषेध नहीं होता। जैसे - काललब्धि (नियति) की मुख्यता से कथन किया जाता है तो उसमें स्वभाव, पुरुषार्थ, निमित्त, भवितव्यता आदि समवाय भी निहित रहते हैं उनका निषेध नहीं होता है।

जैनदर्शन में पांचों समवाय में से सर्वाधिक जोर पुरुषार्थ पर दिया गया है यह बतलाया गया है कि पुरुषार्थ की उपस्थिति में अन्य समवाय अवश्य ही मिलते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में मुक्तिमार्ग के सन्दर्भ में पुरुषार्थ की मुख्यतापूर्वक अन्य समवायों की प्राप्ति होने पर मोक्ष रूप कार्योत्पत्ति का कथन मिलता है, जो कि दृष्टव्य है - ''यहाँ प्रश्न है कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यतानुसार बनता है, या मोह आदि के उपशमादि होने पर बनता है या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है सो कहो। यदि प्रथम दोनों कारण मिलने पर बनता है तो हमें उपदेश किसलिए देते हो ? और पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं उनमें कोई उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता, सो कारण क्या है ?''

समाधान - एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं और नहीं बनता वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे, उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु नहीं है, जिस काल में कार्य बनता है वही काललब्धि और जो कार्य हुआ वही होनहार तथा जो कर्म के उपशमादिक हैं वह पुद्गल की शक्ति है उसका आत्मा कर्ता-हर्ता नहीं है तथा पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं सो यह आत्मा का कार्य है, इसलिए आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।

वहाँ यह आत्मा जिस कारण से कार्य की सिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं और कार्य की भी सिद्धि होती ही होती है

तथा जिस कारण से कार्य की सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो। उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ अन्य कारण मिले तो कार्यसिद्धि होती है न मिलें तो सिद्धि नहीं होती। सो जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है। इससे मोक्ष होता ही होता है। इसलिए जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है उसके काललब्धि व होनहार भी हुए और कर्म के उपशमादि हुए है तो वह ऐसा उपाय करता है। इसलिए जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है उसको सर्व कारण मिलते हैं और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा जो जीव पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता उसके काललब्धि व होनहार भी नहीं और कर्म के उपशमादि नहीं हुए हैं तो यह उपाय नहीं करता। इसलिए जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता उसको कोई कारण नहीं मिलते और उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।[(48)] उक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त पुरुषार्थ की मुख्यतापूर्वक कार्य की सिद्धि को स्वीकार करता है।

10. चारों अनुयोगों का प्रतिपाद्य क्रमबद्धपर्याय :-

जैनदर्शन के चारों अनुयोगों प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग में क्रमबद्धपर्याय का कथन मिलता है जो इस प्रकार है -

(अ) प्रथमानुयोग -

सम्पूर्ण प्रथमानुयोग सर्वज्ञ भगवान, अवधिज्ञानी या मन:पर्ययज्ञानी आचार्यों द्वारा कथित भविष्यकाल तथा भूतकाल संबंधी सुनिश्चित घोषणाओं से युक्त है -

(1) तीर्थंकर नेमिनाथ द्वारा 12 वर्ष पूर्व ही द्वारिका जलने की स्पष्ट घोषणा करना। साथ ही, यह भी घोषित करना कि वह किस निमित्त से, कब और कैसे जलेगी। अनेक उपायों के बाद भी वह सब कुछ उसी रूप में घटित हुआ था।

(2) तीर्थंकर आदिनाथ ने भी भगवान महावीर के जीव मारीचि के सन्दर्भ में सब कुछ एक कोड़ा-कोड़ी सागर पहले ही बता दिया था कि वह इस अवसर्पिणी काल का चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा।

(3) आचार्य भद्रबाहु ने निमित्तज्ञान के आधार पर ही यह बता दिया था कि उत्तर भारत में 12 वर्ष तक अकाल रहेगा - यह घोषणा भी पूर्णत: सत्य हुई थी।

(4) सम्राट चन्द्रगुप्त के स्वप्नों के आधार पर भविष्यवाणियाँ की गयी थी। वह अक्षरश: सही साबित हो रही हैं।

(ब) करणानुयोग -

सम्पूर्ण करणानुयोग नियमों व विधानों से परिपूर्ण है जिसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं होता है।

(1) छह महीने और आठ समय में 608 जीवन नित्य निगोद से निकलेंगे और इतने ही समय में इतने ही जीव मोक्ष जायेगें।

(2) संसारी जीव निगोद पर्याय से कुछ अधिक दो हजार सागर के लिए ही निकलता है। उसमें भी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय, मनुष्य, देव, नारकी आदि के भवों की संख्या निश्चित होती हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य के भवों की संख्या अड़तालीस है, आदि।

(3) भूत-वर्तमान-भविष्य के तीर्थंकरों की संख्या निश्चित है।

(4) प्रत्येक गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास आदि के जीवों की संख्या भी निश्चित है।

(स) चरणानुयोग -

चरणानुयोग के ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मोक्षपाहुड़ में क्रमबद्धपर्याय संबंधी कथन मिलते हैं।

(द) करणानुयोग -

समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, पंचाध्यायी, प्रमेयकमलमार्तण्ड, मोक्षमार्ग- प्रकाशक, पद्मनंदीपंचविंशतिका आदि ग्रंथों में क्रमबद्धपर्याय का कथन मिलता है।

11. क्रमबद्धपर्याय द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि :-

निमित्तोपादान, अहिंसा, अभाव, कर्ता-कर्म, षट्कारक आदि सिद्धान्तों के माध्यम से इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि प्रत्येक द्रव्य व उसमें प्रतिसमय निष्पन्न हो रही पर्यायों का परिणमन पूर्णत: स्वतंत्र व स्वाधीन है उनके परिणमन में परद्रव्य का किंचित्मात्र भी हस्तक्षेप संभव नहीं है। क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में एक और नवीन तथ्य का प्रतिपादन मिलता है कि प्रत्येक द्रव्य व उसमें निष्पन्न हो रही पर्यायों का परिणमन पूर्णत: स्वतंत्र व स्वाधीन होने के साथ-साथ क्रमनियमित या क्रमबद्ध भी है। उनके क्रमबद्ध परिणमन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप संभव नहीं है। प्रत्येक द्रव्य न तो स्वयं ही अपनी पर्यायों के क्रम को उलट-फेर अथवा परिवर्तन कर सकता है और न ही अन्य परद्रव्य उसके सुव्यवस्थित परिणमन में हस्तक्षेप अथवा फेरफार कर सकते हैं। क्रमबद्ध रूप से परिणमन करना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है और उसके स्वभाव में किसी प्रकार का हस्तक्षेप संभव नहीं हो सकता है। प्राकृतिक व्यवस्थाओं के परिणमन में भी पूर्व निर्धारित क्रम दिखलाई पड़ता है। जैसे - पक्षी अपने नियत समय पर ही कुंजन करते हैं। सूर्य निश्चित समय पर ही उदित-अस्त होता है। दिन-रात निश्चित समय पर ही प्रकाश-अन्धकार लेकर प्रगट होते हैं। ऋतुएँ निश्चित काल में ही वसन्त का उल्लास, पतझड़ का वैराग्य, पावस की उमंग प्रगट करती हैं जो यह बतलाती है कि वस्तु का परिणमन पूर्णत: निश्चित व व्यवस्थित है। सर्वज्ञता के द्वारा भी इस तथ्य को प्रगट किया गया है कि प्रत्येक द्रव्य की भूत-वर्तमान व भावी पर्यायों का प्रवाह क्रम सुनिश्चित होने से सर्वज्ञ के ज्ञान में उसका प्रत्यक्ष होता है और कोई भी परमसत्ता द्रव्य के अनादिअनंत सुव्यवस्थित प्रवाह क्रम को परिवर्तित करने में समर्थ नहीं है। वस्तु की ऐसी सुव्यवस्थित व पूर्णत: नियमित परिणमन व्यवस्था परकर्तृत्व की मिथ्या मान्यता का निषेध करती है और वस्तु की स्वतंत्र सत्ता का बोध कराती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त भी वस्तु की स्वतंत्र परिणमन व्यवस्था का प्रतिपादन कर वस्तुस्वातंत्र्य को सिद्ध करता है।

सन्दर्भ - सूची

(1) (क) क्रमाक्रमप्रवृतविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुण पर्याय: । पृ. 9.

(ख) द्रवति गच्छति सामान्यरूपेण स्वरूपेण व्याप्नोति तांस्तान् क्रमभुव: सहभुवश्च सद्भावपर्यायान् स्वभावविशेषानित्यनुगतार्थया निरुक्तयो द्रव्यं व्याख्यातम् । पंचास्तिकाय, गाथा 9 की समयव्याख्या टीका.

(2) त्वमेकनित्यत्व निखातचेतसा-क्षणक्षयक्षोभितचक्षुषापि च ।
न वीक्ष्यसे संकलितक्रमाक्रम-प्रवृतभावोमय भारिवैभव: ॥
लघुतत्त्वस्फोट, अध्याय 4, पद्य 18.

(3) (क) परमार्थप्रकाश, अध्याय 3, श्लोक 57.

(ख) पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 138.

(ग) गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमप्रवृतय: ।
न्यायविनिश्चय 1/115/428.

(घ) प्रवचनसार, गाथा 235 की तत्त्वप्रदीपिका टीका.

(च) वही, गाथा 10 की टीका ।

(4) देवमनुष्यादिपर्यायास्तु क्रमवर्तित्वादुपस्थितातिवाहितस्वसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति। समयव्याख्या टीका, पृ. 39.

(5) पं. फूलचंद सिद्धान्त शास्त्री : जैनतत्त्वमीमांसा, पृ. 148.

(6) न विरुद्धं क्रमवर्ति च सदिति तथानादितोऽपि परिणाम ।
अक्रमवर्ति सदित्यपि न विरुद्धं सदैकरूपत्वात् ॥
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 417.

(7) वर्तमान समय में जिस पदार्थ को 'क्रमबद्धपर्याय' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, 'क्रमनियमित पर्याय' का वही अर्थ है । पृ. 268.

(8) जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामै .... ।

(9) अयमर्थ: प्रागेकं जातं उच्छिद्य जायते चैक: ।
अथ नष्टे सति तस्मिन्नऽप्युत्पद्यते यथादेशम् ॥

(10) जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीवएव, नाजीव: एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्म-परिणामैकरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीव: ।
समयसार, गाथा 308-311 की आत्मख्याति टीका ।

(11) डॉ. हुकमचंद भारिल्ल : क्रमबद्धपर्याय, पृ. 19.

(12) अस्त्यत्र य: प्रसिद्ध क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे ।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेष: ॥
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) गाथा 167.

(13) पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री : जैनतत्त्वमीमांसा, पृ. 268.

(14) यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदय- नात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति, ... ।
तत्त्वप्रदीपिका टीका, पृ. 196-197.

(15) ब्र. हरिलाल जैन : ज्ञानस्वभाव और ज्ञेय स्वभाव, मगनलाल जैन (अनु.), पृ. 309-310 व 169.

(16) पूर्वोत्तरचारिणो: कृतिकाशकटोदयादि स्वरूपयो: ।
प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 2, पृ. 365.

(17) यदप्रातव्यं यदा येन यत्र यावद्यतोऽपि वा ।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततोध्रुवम ॥
पद्मपुराण, भाग 2, पर्व 29, श्लोक 83.

(18) जं जस्स जम्मि देसे जेणं विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेय णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥

(19) (क) आ. समन्तभद्र : रत्नकरण्डकश्रावकाचार, पं. सदासुखदास (टीका), श्लो. 137 का भावार्थ, पृ. 466.

(ख) जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहीं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे ॥
अध्यात्मपद संग्रह, भैया भगवतीदास, पृ. 81.

(ग) जा करि जैसे जाहि समय में, जो होतव जा द्वार।
सो बनिहै टरिहै कछु नाहीं, करि लीनो निरधार ॥
अध्यात्मपदसंग्रह: बुधजन, पृ. 79.

(20) अष्टपाहुड (मोक्षपाहुड), गाथा 86 का पंडित जयचंद छावड़ाकृत भावार्थ।

(21) यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युपगपदवभासमानस्वपराकारोर्थविकल्पस्तद् ज्ञानम।
प्रवचनसार, गाथा 124 की तत्त्वप्रदीपिका टीका।

(22) न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्।
अष्टसहस्त्री मूल, पृ. 49.

(23) सयं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी ... सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणदि वस्सदि विहरदि त्ति।
षट्खण्डागम, पुस्तक 13, खण्ड 5, भाग 5, सूत्र 82.

(24) (क) जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥
प्रवचनसार, गाथा 47.

(ख) योगसार (अमितगति) अध्याय 1, श्लोक 28.

(ग) अष्टशती, कारिका 106.

(घ) भगवती अराधना, गाथा 2140-41.

(25) अध्याय 1, सूत्र 29.

(26) तेषां पर्यायाश्च त्रिकालभुवः प्रत्येकमनन्तानन्तास्तेषु। .... अपरिमितमहात्मयं हि तदिति ज्ञापनार्थ सर्वद्रव्यपर्यायेषु इत्युच्यते।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 29.

(27) यावांल्लोकालोकस्वभावोऽनन्तः तावन्तोऽनन्तानन्ता यद्यपि स्यु, ता नपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्य परिमितमाहात्मयं तत् केवलज्ञानं वेदितत्यम्।
राजवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 29.

(28) जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं व णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परुवेंति ॥
प्रवचनसार, गाथा 39.

(29) (क) णट्ठागुप्पण्णअत्थाणं कधं तदो परिच्छेदो। ण केवलत्तादो वज्झत्थावेक्खाए विणा तदुप्पत्तीए विरोहाभावा। ण तस्स विपज्जयणाणत्तं पसज्जदे, जहारुवेण परिच्छितीदो। ण गद्दहसिंगेण विऽचारो तस्स अच्चंताभावरु- वत्तादो।
धवला, पुस्तक 6, 1, 9-1, 14.

(ख) धवला, पुस्तक 1, खण्ड 1, भाग 1, सूत्र 22.

(ग) कषायपाहुड, पुस्तक 1, भाग 1, प्रकरण सं. 15.

(30) (क) सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।

निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना: ॥
मीमांसाश्लोकवार्तिक, सूत्र 2, श्लोक 117.

(ख) सर्वज्ञ दृश्यते तावेन्नेदानीमस्मदादिभि: ।
दृष्टो न चैकोदेशोस्ति लिगं वा योऽनुमापयेत् ॥
तत्त्वसंग्रह, श्लोक 3186.

(31) (क) न्यायकुमुदचंद्र, प्रथम प्रत्यक्षपरिच्छेद, कारिका 4, पृ. 89-90.

(ख) प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दत् त्रिकालं भुवनत्रयम् ।
रहितं विश्वतत्त्वज्ञैर्न हि तद्बाधकं भवेत् ॥
आप्तपरीक्षा, कारिका 97.

(ग) द्रव्यसंग्रह, गाथा 50 की ब्रह्मदेवविरचित टीका ।

(32) सूक्ष्मान्तरितदूरार्था: प्रत्यक्षा: कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरति सर्वज्ञसंस्थिति: ॥
आप्तमीमांसा, कारिका 5.

(33) (क) दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्य तिशायनात् ।
कचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय: ॥
आप्तमीमांसा, कारिका 4.

(ख) न्यायविनिश्चय, कारिका 361, 410, 414, 465.

(34) (क) ज्ञानस्यातिशयात् सिध्येद्विभुत्वं परिमाणवत् ।
वैषद्यक्कचिद्दोषमलहानेस्तिमिराक्षवत् ॥
माणिक्यादेर्मलस्यापि व्यावृतिरतिशयवती ।
आत्यन्तिकी भवत्येव तथा कस्यचिदात्मन: ॥
सिद्धिविनिश्चय, मूलगाथा 8-9.

(ख) तत्सिद्धिस्तु-ज्ञानतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तम्, तारतम्यत्वात् आकाशे परिमाणतारतम्यवत् ।
स्याद्वाद मंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक, 17, पृ. 176.

(35) (क) न्यायकुमुदचंद्र, भाग 1, प्रथमप्रत्यक्षपरिच्छेद, कारिका 4, पृ. 91-94.

(ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 2, पृ. 89 से 91 तक.

(ग) आप्तपरीक्षा, कारिका 98-99, पृ 224.

(घ) सिद्धि विनिश्चय 8/15-16.

(36) अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान ।
कृत्रिमेण व्यसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्ये: प्रतीयते ।
प्रकल्पते कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्ततो: ? ॥
सर्वज्ञोक्तया वाक्यं सत्यं तेन तदस्थिता ।
कथं तदुभयं सिद्ध्येत सिद्धमूलान्तराद्दते ॥
असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् ।
सर्वज्ञमवगच्छन्त: स्ववाक्यात्किन्न जानते ? ॥
मीमांसाश्लोकवार्तिक, श्लोक 4, 5, 6, 7.

(37) (क) ऋग्वेद, मंडल 10 सूत्र 121.

(ख) हिरण्यगर्भप्रकृत्य स सर्ववित् स लोकवित् ।
न्यायसूत्र 2/1/64.

(38) (क) न्यायकुमुदचंद्र, भाग-1, प्रथमप्रत्यक्षपरिच्छेदकारिका 4, पृ. 95.

(ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 2, पृ. 92-93.

(ग) आप्तपरीक्षा, कारिका 103-104, पृ. 224-225.

(39) सर्वज्ञ सदृशं कच्चिद्यदि परयेम सम्प्रति ।
उपमानेन सर्वज्ञ जानीयाम ततो वयम् ॥
मीमांसाश्लोकवार्तिक, श्लोक 8.

(40) (क) न्यायकुमुदचंद्र, भाग - 1, प्रथम प्रत्यक्ष परिच्छेदकारिका 4, पृ. 94.
(ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 2, पृ. 93-94.
(ग) आप्तपरीक्षा, कारिका 101.

(41) उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादि गोचरः । अन्यथा नोपपद्यते सार्वज्ञ्यं यदिनौभवेत्॥
प्रत्यक्षादौ निषिद्धिपि सर्वज्ञप्रतिपादके । अर्थापच्यैव सर्वज्ञमित्थं यः प्रतिपद्यते ॥
तत्त्वसंग्रह, कारिका 3217-3218.

(42) (क) नाप्यर्थापत्तेस्तदभावावगमः, सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुपजाय मानस्य प्रमाणषट्क विज्ञातस्य कस्यचिदर्थस्थासम्भावात् । ... तद्वदत्रापि व्याप्त्यादिचिन्तायां दोषान्तरं चापादनीयम् ।
प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग - 2, पृ. 94.
(ख) न्यायकुमुदचंद्र, भाग 2, प्रथमप्रत्यक्षपरिच्छेद, कारिका 4, पृ. 94.
(ग) नार्थापत्तिरसर्वज्ञं जगत्साधयितुं क्षमा ।
क्षीणत्वादन्यथाभावाभावत्तत्तदबाधिका ॥
आप्तपरीक्षा, कारिका 102, पृ. 224.

(43) मीमांसाश्लोकवार्तिक (अभाव प्रामाण्यवाद) श्लोक 27.

(44) (क) न्यायकुमुदचंद्र, भाग - 1, प्रथमप्रत्यक्षपरिच्छेकारिका 4, पृ. 95-96.
(ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 2, पृ. 95-96.
(ग) आप्तपरीक्षा, कारिका 105-109, पृ. 225-226.

(45) कालो हि सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता ।
मिच्छतं ते चेव उ समासओ होंति सम्मतं ॥
सन्मतिसूत्र, अध्याय 3, गाथा 53.

(46) जत्तु जुदा जेण जहा, जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहातस्स हवे, इदि वादो णियदिवादो दु ॥
गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा 882.

(47) ब्र. हरिलाल जैन : ज्ञान स्वभाव और ज्ञेय स्वभाव, मगनलाल जैन (हि. अनु.) पृ. 7.

(48) क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-2, पृ. 612.

(49) मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 309-310.

उपसंहार

यह चराचर विश्व जड़-चेतन की अकृत नगरी हैं जहाँ सभी द्रव्य अपने-अपने चतुष्टय रूपी सदनों में स्वतंत्रता से क्रीड़ा करते हैं। प्रत्येक वस्तु को मिले इस प्रकृति प्रदत्त वरदान में किसी अन्य सत्ता का अतिक्रमण न तो संभव है और न ही उसका कोई औचित्य।

अनादि-अनंत, स्वनिमित्त, निर्बाध विश्व व्यवस्था की सहज प्रकृति को यथावत् दिग्दर्शित करने वाला जैनदर्शन संस्कृति के दारुण कष्टों के अंत का उपाय ''वस्तुस्वातंत्र्य'' को सम्प्रेषित करता है।

प्रत्येक वस्तु अपने अनंत-अनंत गुण धर्मों से परिपूर्ण है तब फिर उसे अन्य सत्ताओं के हस्तावलंबन या हस्तक्षेप की अपेक्षा ही कहाँ रह जा जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने-अपने घर का राजा होने से अत्यंत निरपेक्ष व स्वभाव से सहज समृद्ध होने से अपने एकत्व में ही शोभित होती है। ऐसी अनादि-अनंत स्वचालित विश्व व्यवस्था में स्वतंत्र इकाई रूप से प्रत्येक वस्तु का सहयोग है। यही वस्तु की तथा विश्व की स्वतंत्र और सुंदर शोभन व्यवस्था की आधारशिला है।

वस्तुस्वातंत्र्य का मूल प्रतिपाद्य चराचर जगत् के परिणमन की स्वतंत्रता का बोध कराना है, प्रतिपादन करना है। वस्तुस्वातंत्र्य के इस प्रतिपाद्य पर सूक्ष्मता, गंभीरता व गहराई से विचार, चिंतन-मनन किया जाये तो उस अद्‌भुत खजाने में से बहुमूल्य हीरे-मोती, माणिक आदि जवाहरातों रूपी अनेक सुंदर व सुखद सिद्धान्तों का उद्‌भव होता है जिनको व्यवहारिक जीवन में अपनाने से न केवल जीवन शांतिमय, व आनंदयुक्त होता है बल्कि मानव जीवन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि श्रेयस् की प्राप्ति होती है।

प्राणी मात्र के कष्ट, दु:ख, पीड़ा व चिंता का मूल कारण परद्रव्य के परिणमन को अपने अनुरूप करना है या परद्रव्य को मैं अपने आधीन परिणमित करा सकता हूँ, ऐसी विपरीत मान्यता है। इस मान्यता या भ्रान्ति से मानसिक संतापों व कष्टों का उद्‌भव होता है और वह मानसिक पीड़ा अनेक शारीरिक व्याधियों का कारण बनती हैं। यहाँ तक की भव-व्याधि का भी कारण यही है।

प्राणीमात्र जब भ्रान्ति का परित्याग कर इस विचार को स्वीकार कर लेता है कि प्रत्येक वस्तु अथवा द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र व स्वाधीन है तो उसके जीवन में घटित होने वाले प्रत्येक प्रतिकूल प्रसंग और घटना में यह सिद्धान्त दु:खों से बचाने में ढाल का काम करता है। मानव मन में प्रतिसमय उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के परकर्तृत्व सम्बन्धी विचारों के विप्लव से उत्पन्न कष्टों से निजात दिलाने में यह सिद्धान्त पूर्णत: अनुकरणीय है। परकर्तृत्व की भ्रान्ति ही समस्त दु:खों की जननी है। जब भी हम अपनी कार्यसीमा का, मर्यादा का, उल्लंघन करके पर का कार्य करने का विकल्प चुनते हैं तभी हमारे दारुण कष्टों का जन्म होता है और जब हमारे मनस में यह विचार-दृष्टि उत्पन्न होती है कि सम्पूर्ण जगत् का परिणमन स्वतंत्र व स्वाधीन है, कुछ भी मेरे आधीन नहीं है, ऐसी स्वाधीन मनोवृत्ति से जीवन में सुख-शांति का सहज-भाव और जीवन के अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में समता का भाव जागृत होता है।

निमित्तोपादान, अहिंसा, अभाव, कर्तृ-कर्म, षट्कारक, क्रमबद्धपर्याय, ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा आदि समस्त सिद्धान्त अपने-अपने माध्यम से वस्तुस्वातंत्र्य को सम्प्रेषित व पुष्ट करते हुए जैनदर्शन को शोभायमान करने वाले अद्भुत दार्शनिक प्रत्यय तो हैं ही, साथ ही जनमानस के व्यवहारिक जीवन में सुख-शांति, कर्त्तव्यपरायणता, सहनशीलता, धैर्यता, पुरुषार्थशीलता, दयालुता, सहजता, निरपेक्षता तथा स्वावलंबनशीलता लाकर जीवन के उद्धार का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। यदि एक-एक व्यक्ति इन सिद्धान्तों के अनुसार अपनी जीवन शैली बनाये तो मात्र राष्ट्र का ही नहीं वरन् विश्व का कल्याण भी संभव है। इस प्रकार ये सिद्धान्त व्यवहारिक स्तर पर भी अनुकरणीय व उपयोगी हैं।

अस्तु हम पाते हैं कि वस्तुस्वातंत्र्य ''विश्वदृष्टि''होने के साथ-साथ 'जीवनदृष्टि' भी है। विश्व की स्वतंत्रता और स्वाधीनता को दिग्दर्शित करने वाली एक विशिष्ट अवधारणा है, क्योंकि यह प्राणीमात्र की नहीं कण-कण की स्वतंत्रता को प्रतिपादित करता है। वस्तुस्वातंत्र्य की अवधारणा के द्वारा जिस स्वतंत्रता का प्रगटीकरण किया गया है वह अपने निहितार्थ में अद्भुत है और वह सुंदर व सुव्यवस्थित विश्व-व्यवस्था का प्रतिपादन करती है। एक ऐसी विश्वव्यवस्था जिसमें निरंतर घटित हो रहे परिवर्तनों में किसी भी परसत्ता का हस्तक्षेप नहीं होता।

अवधेय है कि अनेकान्तवाद को जिनागम का सार अथवा मूल कहा जाता है लेकिन वस्तुस्वातंत्र्य अनेकान्त का भी मूल है, क्योंकि जैनदर्शन का प्रत्येक सिद्धान्त वस्तुस्वातंत्र्य से अनुप्राणित होता है और प्रत्येक सिद्धान्त में अनेकान्त तो अन्तर्निहित रहता ही है। अत: यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि जैनदर्शन का मूलभूत सार वस्तुस्वातंत्र्य है।

''वस्तुस्वातंत्र्य'' का जनक जैनदर्शन नहीं है वरन् यह वस्तु की प्रकृति प्रदत्त एकत्व रूपी मर्यादा है जिसे जैनदर्शन विश्व के शांति विधायक सिद्धान्त 'वस्तुस्वातंत्र्य' के नाम से उद्घोषित करता है। यदि इसे केवल जैनदर्शन से सम्बन्धित माना जाये तो यह भी एकान्त दृष्टि होगी क्योंकि यह वस्तु व्यवस्था है, विश्व व्यवस्था है। वस्तुस्वातंत्र्य तो अनेकान्त दृष्टि की मूलगामी विश्वदृष्टि है।

परिशिष्ट : एक
निश्चय एवं व्यवहार नय मीमांसा

1 *प्रयोजन*
2 *प्रस्तावना*
3 *निश्चयनय व व्यवहारनय का स्वरूप*
4 *निश्चयनय के भेद*
5 *व्यवहारनय के भेद*

निश्चय एवं व्यवहार नय मीमांसा

1. प्रयोजन :-

परिशिष्ट में इस तथ्य का युक्तियुक्त प्रतिपादन अपरिहार्य है कि शोध में प्रतिपादित विषय वस्तु का विवेचन किसी शैली में (नय विवक्षा से) हुआ है। यद्यपि अध्यायों में वर्णित विषयानुरूप यदा-कदा इसका स्पष्टीकरण भी हुआ है, किन्तु इसका विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में किया जाना आवश्यक प्रतीत हुआ, ताकि विषय को समझने में भ्रम की स्थिति पैदा न हो और विषय की विवेचना जिस परिप्रेक्ष्य में हुई है उसका सही परिज्ञान हो सके। अवधेय है कि निश्चय एवं व्यवहारनय का परिज्ञान न केवल वस्तुस्वातंत्र्य को समझने के लिए, बल्कि सम्पूर्ण जिनागम के अवबोध के लिए भी उपादेय है।

2. प्रस्तावना :-

सम्पूर्ण जिनागम नयों की भाषा में निबद्ध है और नयों का स्वरूप समझे बिना जिनागम के हार्द का हृदयंगम होना मुश्किल है। नयों के सम्यक् स्वरूप के ज्ञान से उसमें प्रवेश सहज ही हो जाता है। इसलिए 'धवला' में कहा गया है - ''जिनमत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए नयवाद में निपुण मुनि को ही शास्त्र का ज्ञाता समझना चाहिए।''[(1)]

इस कथन से जिनागम में नयों की उपादेयता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है और यह भी स्पष्ट होता है कि प्रत्येक कथन नय सापेक्ष होते हैं जो कथन नय विवक्षा से रहित होता है वह नयनिरपेक्ष होने से मिथ्या है और वह जिनमत में अमान्य है, क्योंकि वस्तु का सर्वथा कथन संभव नहीं हो सकता। अत: अनंतधर्मात्मक अर्थात् अनेकान्त स्वरूप वस्तु का सम्यक्ज्ञान नयों के द्वारा ही होता है। अनेकान्त नयमूलक है।[(2)]

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र में नयों की महिमा बताते हुए यहाँ तक कहा गया है कि - ''जो व्यक्ति नय दृष्टि से विहीन हैं उन्हें वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तुस्वरूप के ज्ञान के बिना सम्यक्दर्शन कैसे हो सकता है ?''[(3)]

उक्त कथन में जैनदर्शन के मुख्य ध्येय सम्यक्दर्शन की प्रीप्त नय ज्ञान के बिना असंभव बतायी गयी है। इससे सहज ही परिलक्षित होता है कि नयों का सम्यक् परिज्ञान अनेकान्तमयी जैनदर्शन को समझने की मूल दृष्टि है।

जैनदर्शन के अनुसार वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। वह एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अस्तित्व-नास्तित्व, एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मों की सत्ता को स्वीकार करता है।·जो वस्तु एक दृष्टि से अस्तिस्वरूप, एकस्वरूप और नित्यस्वरूप है वही वस्तु दूसरी दृष्टि से नास्तिस्वरूप, अनेकस्वरूप और अनित्यस्वरूप भी है। यह अनेकान्तात्मक वस्तु अथवा अनेक धर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है। प्रमाण के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का ग्रहण होता है।[(4)] प्रमाण उसे कहा जाता है जिसके द्वारा वस्तु का सम्यक् रूप से निर्णय किया जाता है। अत: सम्यकज्ञान ही प्रमाण है।[(5)] और उस प्रमाण ज्ञान के द्वारा जानी गयी वस्तु के अंश

में जिस ज्ञान की प्रवृति होती है उसे नय कहते हैं। अर्थात् जो वस्तु को नानास्वभावों से हटाकर एकस्वभाव में स्थापित करता है उसे नय कहते हैं।[6] जब तक वस्तु का प्रमाण ज्ञान के द्वारा ज्ञान नहीं होगा तब तक उसका नयों के द्वारा कथन नहीं हो सकता। इसलिए सर्वप्रथम वस्तु को प्रमाण के द्वारा जानना चाहिए। प्रमाण ज्ञान के पांच भेद हैं- (अ) मतिज्ञान (ब) श्रुतज्ञान (स) अवधिज्ञान (द) मन:पर्ययज्ञान (च) केवलज्ञान।

इसके भेदों-प्रभेदों को निम्न तालिका के द्वारा दर्शाया गया है -[7]

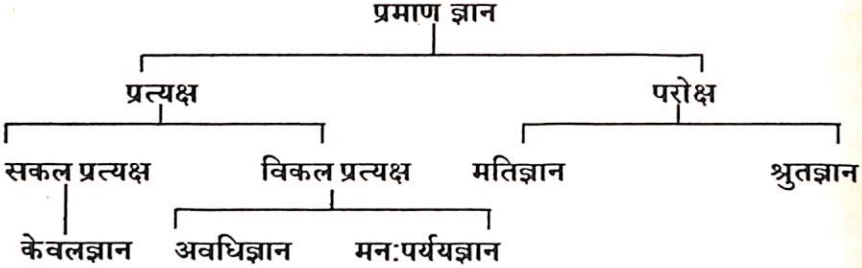

नय श्रुतज्ञान प्रमाण के भेद हैं, अन्य प्रमाणों के नहीं। यद्यपि श्रुतज्ञान भी एक प्रमाण है तथापि उसके भेद नय हैं। इसी कारण श्रुतज्ञान के विकल्प को नयं कहा गया है।[8] श्रुतज्ञान के दो भेद हैं - प्रमाण और नय। नय के दो भेद हैं - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहार।

निश्चयनय के तीन भेद हैं - (क) परमशुद्धनिश्चयनय (ख) शुद्धनिश्चयनय (ग) एकदेशशुद्धनिश्चयनय। व्यवहारनय के भी दो भेद हैं - (क) सद्भूत व्यवहारनय (ख) असद्भूत व्यवहारनय। इनके भी क्रमश: दो-दो भेद हैं।

नय के भेदों को समझने के लिए निम्न तालिका उपयोगी है -[9]

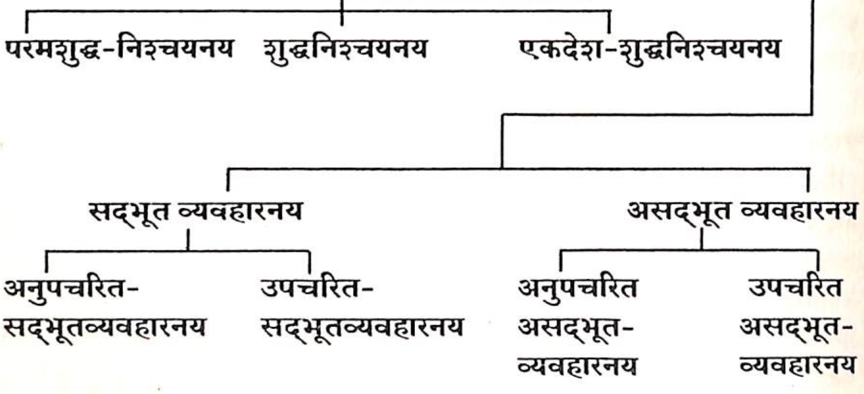

वस्तु के मूल अंश दो हैं - द्रव्य और पर्याय। वस्तु के दोनों अंशों को कहने वाले मूलनय भी दो हैं द्रव्यार्थिकनय एवं पर्यायार्थिकनय। द्रव्य-पर्याय स्वरूप वस्तु में जो मुख्यरूप से द्रव्य का अनुभव (ज्ञान) कराये, वह द्रव्यार्थिकनय है एवं जो मुख्यरूप में पर्याय का अनुभव (ज्ञान) कराये, वह पर्यायार्थिकनय है।[10] द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद हैं - नैगमनय, संग्रहनय व व्यवहारनय तथा पर्यायार्थिकनय के चार भेद हैं - ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ व एवंभूत।[11] इस तरह विस्तार से नय के सात भेद हैं तथा अतिविस्तार से संख्यात, असंख्यात एवं अनंत भेद भी हो सकते हैं।[12] क्योंकि जितने कथन के मार्ग हैं उतने ही नय हैं।[13] इसी कारण नय का एक लक्षण ज्ञाता अथवा वक्ता का अभिप्राय भी कहा जाता है। ज्ञानी वक्ता वस्तु को जानकर अपने अभिप्रायानुसार उसका कथन करता है।[14]

नय के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण बात जैनदर्शन में स्पष्टतया कही गयी है कि नयों के कथन में मुख्यता व गौणता निहित रहती है। इसमें विवक्षित नय मुख्य होता है एवं अविवक्षित नय गौण रहता है। किन्तु उसका निषेध नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक कथन प्रयोजन वश किया जाता है।[15] कहा भी गया है - ''अनिराकृत प्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नय:।'' प्रतिपक्षी धर्मों का निराकरण न करते हुए वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है।[16] यह मुख्यता और गौणता वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा से नहीं, अपितु वक्ता की इच्छानुसार होती है। विवक्षा-अविवक्षा कथन के भेद हैं, वस्तु के भेद नहीं। वस्तु में तो सभी धर्म अपनी पूर्ण सत्ता के साथ विद्यमान रहते हैं। उनमें मुख्य-गौण का प्रश्न ही नहीं है .... उनको एक साथ कहने की सामर्थ्य वाणी में न होने से विवक्षा-अविवक्षा और मुख्य-गौण का भेद पाया जाता है।[17]

यहाँ पर एक तथ्य विशेष रूप से ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण जिनागम चार अनुयोगों में निबद्ध है। (अ) प्रथमानुयोग (ब) चरणानुयोग (स) करणानुयोग (द) द्रव्यानुयोग। प्रयोजनवश संक्षेप में इसे हम दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं - पहला - आगम पद्धति, दूसरा - अध्यात्म पद्धति।[18] इन दोनों कथन पद्धतियों में भेद होने से उनके नयों में भी भिन्नता है अत: द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिक नय आगम पद्धति के मूलनय कहे जाते हैं एवं निश्चयनय व व्यवहारनय अध्यात्मपद्धति के मूलनय कहे जाते हैं।[19] द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय ही अध्यात्म में निश्चयनय व व्यवहारनय के नाम से जाने जाते हैं अर्थात् अध्यात्म पद्धति में इन दोनों का नामांतर हो जाता है। नयचक्र में उद्धृत गाथा भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है - ''सर्वनयों के मूल निश्चय और व्यवहारनय - ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक ये दोनों निश्चय - व्यवहार के हेतु हैं।''[20]

इस प्रकार आगम व अध्यात्म के दो - दो मूलनय होने से कुल नय चार ठहरते हैं, किन्तु पूर्वोक्त गाथा में द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहकर जैनाचार्यों ने आगम को अध्यात्म का हेतु कहा है, क्योंकि अध्यात्म में आत्मसिद्धि के प्रयोजन की मुख्यता है अथवा मोक्षमार्ग की प्राप्ति का मुख्यता से कथन है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि मूलनय निश्चय-व्यवहार ही हैं। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को तो निश्चय-व्यवहार का हेतु होने से मूलनय कहा गया है।

यहाँ पर अध्यात्मपद्धति में प्रचलित मूलनयों निश्चयनय व व्यवहारनय तथा उसके भेदों-प्रभेदों की चर्चा की जायेगी, क्योंकि शोध का विषय जैनदर्शन के मूल अध्यात्म का प्रतिपादन करना है।

3. निश्चयनय व व्यवहारनय का स्वरूप :-

जिनागम में निश्चयनय व व्यवहारनय संबंधी अनेक परिभाषायें प्राप्त होती है जो इस प्रकार हैं -

(1) अभेद व अनुपचार रूप से वस्तु का निश्चय करना निश्चयनय है तथा भेद व उपचार रूप से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहारनय है।[21]

(2) जिस प्रकार एक सत् का जिस प्रकार से विभाग करना व्यवहारनय है, उसी प्रकार इससे उल्टा (भेद नहीं करना) निश्चयनय का लक्षण है।[22]

(3) जो एक वस्तु के धर्मों में भेद व उपचार करता है उसे व्यवहारनय कहते हैं और इससे विपरीत निश्चयनय होता है।[23]

(4) जिसका अभिन्न कर्ता-कर्म आदि विषय है, वह निश्चयनय है और जिसका विषय भिन्न कर्ता-कर्म आदि है, वह व्यवहारनय है।[24]

(5) आत्माश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं।[25]

(6) भूतार्थ को निश्चय व अभुतार्थ को व्यवहार[26] तथा मुख्य को निश्चय व गौण के व्यवहार कहने वाले कथन भी उपलब्ध होते हैं।[27]

अनेक शास्त्रों का आधार लेकर पंडित प्रवर टोडरमल जी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में निश्चय-व्यवहारनय का सांगोपांग विवेचन किया है[28] जिसका सार इस प्रकार है :-

(1) सच्चा निरूपण सो निश्चय और उपचरित निरूपण सो व्यवहार है।[29]

(2) एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप कहना निश्चयनय है और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावरूप कहना व्यवहारनय है। जैसे - मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना निश्चयनय है और घी का संयोग देखकर घी का घड़ा कहना व्यवहारनय का कथन है।[30]

(3) जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उस ही द्रव्य का कहना निश्चयनय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहनेवाला व्यवहारनय है।[31]

(4) व्यवहारनय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है तथा निश्चयनय उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है।[32]

4. निश्चयनय के भेद :-

(1) परमशुद्ध निश्चयनय - परमशुद्ध निश्चयनय में त्रिकाली शुद्ध परम पारणामिक सामान्यभाव का ग्रहण होता है। यथा - ''परमशुद्धनिश्चयनय से सहजज्ञानादि परमस्वभावभूत गुणों का आधार होने से कारण शुद्धजीव है।''[33]

(2) शुद्धनिश्चयनय - निरूपाधिक गुण-गुणी को अभेद रूप विषय करने वाला शुद्धनिश्चयनय है। जैसे - जीव को शुद्ध केवलज्ञानादि रूप कहना। ''शुद्धनिश्चयनय से निरुपाधि स्फटिक मणि के समान आत्मा समस्त रागादिविकल्प की उपाधि से रहित है।''[34]

(3) एकदेशशुद्ध निश्चयनय - एकदेश शुद्धता से तन्मय द्रव्यसामान्य को पूर्णशुद्ध देखना एकदेशशुद्ध निश्चयनय है। जब जीव शुभ-अशुभरूप तीनयोग के व्यापार से रहित, शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावरूप से परिणमन करता है तब छद्मस्थ अवस्था में भावना रूप से विवक्षित अनंतज्ञान-सुखादि शुद्धभावों का एकदेशशुद्ध निश्चयनय से कर्ता है।(35)

5. व्यवहारनय के भेद :-

(1) सद्भूतव्यवहारनय - एक अखण्ड वस्तु में भेद को विषय करनेवाला सद्भूत व्यवहारनय है।(36) गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभाववान में और कारक-कारकवान में भेद करना अर्थात् वस्तुत: जो अभिन्न है, उनमें भेद व्यवहार करना सद्भूतव्यवहारनय का अर्थ (विषय) है।(37) यह दो प्रकार का है -:

(क) अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय - निरुपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है, जैसे - जीव के केवलज्ञानादिगुण है।(38)

(ख) उपचरित सद्भूतव्यवहारनय - "उपाधि सहित गुण व गुणी में भेद को विषय करने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।"(39) जैसे - जीव का राग।

(2) असद्भूत व्यवहारनय - अन्यत्र (अन्यद्रव्य में) प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र (अन्य द्रव्य में) आरोप करने को असद्भूतव्यवहार नय कहते हैं।(40) इसके भी दो भेद हैं -

(क) अनपुचरित असद्भूत व्यवहारनय - संश्लेष सहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे- "जीव का शरीर है।"(41) इस नय से आत्मा निकटवर्ती द्रव्यकर्मों का कर्ता और उसके फलस्वरूप सुख-दु:ख का भोक्ता कहा जाता है तथा नोकर्म अर्थात् शरीर का भी कर्ता कहा जाता है। (42)

(ख) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय - संश्लेष रहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करनेवाला उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे - देवदत्त का धन है।(42) असद्भूत व्यवहार ही उपचार है और उपचार में भी जो उपचार करता है वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।(43) इस नय से आत्मा घट, पट और रथ का कर्ता कहा जाता है।(44)

सन्दर्भ - सूची

(1) *णत्थि णएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो त्व जिनवरमदम्हि।*
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया णेंति॥
धवला, पुस्तक 1, खण्ड 1, भाग-1, गाथा 68.

(2) *तह णयमूलं अणेयंते।*
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 175.

(3) *जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धि।*
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति॥ *वही, गाथा 181.*

(4) *(क)* *प्रमीयते परिच्छद्यते वस्तुत्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम्।*
आलाप पद्धति, पृ. 225.

(ख) *प्रमीयते परिच्छद्यतेऽर्थोऽनेकान्तविशिष्टोऽनेन इति प्रमाणम्।*
स्वाद्वाद मंजरी, पृ. 241.

(ग) *वत्थू पमाणविषयं णयविसयं हवइ वत्थुएकंसं।*
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 171.

(5) *(क)* *सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणं।*
आलाप पद्धति, पृ. 225.

(ख) सकलादेश: प्रमाणाधीनो ।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 6.
(ग) सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं ।
अध्यात्म न्यायदीपिका, पृ. 57.

(6) (क) प्रमाणेन वस्तुसंग्रहीतार्थैकांशो नय: ।
आलाप पद्धति, पृ. 214.
(ख) प्रमाणप्रकाशितार्थविशेष प्ररूपको नय: ।
राजवार्तिक, भाग 1, अध्याय 1, सूत्र 33 की टीका ।
(ग) प्रमाणपरिग्रहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नय: ।
धवला, पुस्तक 1, खण्ड 1, भाग 1, सूत्र 1.
(घ) नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयतीति नय: ।
आलाप पद्धति, पृ. 225.

(7) (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 169-170.
(ख) आलाप पद्धति, पृ. 213.

(8) श्रुतविकल्पो वा (नय:) ।
आलाप पद्धति, पृ. 225.

(9) (क) आचार्य देवसेन: श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृ. 25-26.
द्वारा- डॉ. हुकमचंद भारिल्ल : परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृ. 172.
(ख) आलाप पद्धति, पृ. 228.
(ग) वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 3 की ब्रह्मदेवविरचित टीका, पृ. 14.

(10) (क) तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिक: पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिक: ।
समयसार, गाथा 13 की आत्मख्याति टीका ।
(ख) पज्जय गउणं किच्चा दव्वं पिय जो हु गिह्णइलोए ।
सो दव्वत्थिय भणिओ विवरीओ पज्जयत्थिणओ ।
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 189.

(11) (क) समासतस्तु द्विभेदा द्रव्यार्थिक: पर्यायार्थिकश्च । आद्यो नैगमसंग्रह-व्यवहारभेदात् त्रेधा । पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्र: शब्द: समभिरूढ: एवंभूतश्च ।
स्वाद्वादमंजरी, अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक 28 की टीका, पृ. 28.
(ख) नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नया: ।
तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 1, सूत्र 33.

(12) (क) विस्तरेणेति सप्तैते विज्ञेया नैगमादय: ।
तथाति विस्तरेणैतद्भेदा संख्यात विग्रहा: ॥
तत्वार्थश्लोकवार्तिक (नय विवरण), श्लोक 19, पृ. 235.
(ख) एवमेते संक्षेपेण नया: सप्तविधा: अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येया: ।
धवला, पुस्तक 1, खण्ड 1, भाग 1, सूत्र 1.
(ग) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 183.
(घ) सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 33 की टीका ।

(13) जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति नयवादा ।
(क) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा 184.
(ख) सन्मतितर्क, कारिका 3, गाथा 47.

(14) (क) नयो ज्ञातुरभिप्राय: ।
लघीयस्त्रय, श्लोक 52.
(ख) प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय: ।
प्रमाणनयतत्त्वालंकार 7.
द्वारा - क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग - 2, पृ. 514.

(15) णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेयविवक्खादो, णत्थि णिवक्खा हु सेसाणं ॥
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 264.

(16) (क) प्रमेयकमलमार्तण्ड., पृ. 676.
द्वारा - डॉ. हुकमचंद भारिल्ल : परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृ. 24.
(ख) नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंशस्तदितरांशौदा-सोन्यत: स प्रतिपत्तुरभिप्राय-विशेषोनय: इति।
प्रमाणतत्त्वालंकार 7/1.
द्वारा - क्षुल्लकजिनेन्द्रवर्णी : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग - 2, पृ. 514.

(17) डॉ. हुकमचंद भारिल्ल : परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृ. 24.

(18) (क) वस्तु का जो स्वभाव उसे आगम कहते है। आत्मा का जो अधिकार उसे अध्यात्म कहते है।
परमार्थवचनिका (मोक्षमार्ग प्रकाशक के अंतर्गत) परिशिष्ट 3, पृ. 352.
(ख) आगम व अध्यात्म शैली में मूलभूत अन्तर यह है कि आगम शैली में नयों का प्रयोग छह द्रव्यों की मुख्यता से होता है जबकि अध्यात्म शैली में आत्मा की मुख्यता से नयों का प्रयोग होता है। आगम की शैली में वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन मुख्य रहता है और अध्यात्म शैली में आत्मा के हित की मुख्यता रहती है।
डॉ. हुकमचंद भारिल्ल : परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृ. 172.
(ग) आगम व अध्यात्म पद्धति के संबंध में विशेष द्रष्टव्य है-परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृ.172-185.

(19) (क) पुनराप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयों द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च।
आलाप पद्धति, पृ. 228.
(ख) वृहद्रव्यसंग्रह, गाथा 3 की टीका ब्रह्मदेवविरचित।

(20) णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेउं वज्जयदव्वत्थियं मुणह ॥
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 182.

(21) अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चय:। भेदापचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहार:।
आलाप पद्धति, पृ. 227.

(22) लक्षणमेकस्य सतो यथाकथच्चिद्यथा द्विधाकरणम्।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुन: ॥
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध), गाथा 614.

(23) जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स।
सो ववहारो भणियो विवरीओ णिच्छयो होई ॥
द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 264.

(24) अभिन्न कर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नय:।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचर: ॥
तत्त्वानुशासन, श्लोक 29.

(25) आत्माश्रितो निश्चयनय पराश्रितो व्यवहारनय:।
समयसार, गाथा 272 की आत्मख्याति टीका ॥

(26) (क) ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ। समयसार, गाथा 11.
(ख) निश्चयमिह भूतार्थ व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक 5.

(27) पुरुषार्थसिद्धिउपाय, श्लोक 4.

(28) मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 248-257.

(29) वही, पृ. 248-249.

(30) वही, पृ. 249.

(31) वही, पृ. 250.

(32) वही, पृ. 251.

(33) (क) शुद्धनिश्चयनयेनसहजज्ञानादिपरमस्वभावगुणानामाधार-भूत्वात्कारण- शुद्धजीव:। नियमसार, गाथा 9 की तात्पर्यवृति टीका, पृ. 23.

(ख) आत्माहि शुद्धनिश्चयेन सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणैर्जीवति । पंचास्तिकाय, गाथा 27 की तात्पर्यवृति टीका, पृ. 61.

(34) (क) तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयक: शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानदयो जीव इति। आलाप पद्धति, पृ. 228.

(ख) शुद्धनिश्चयनयेन निरुपाधिस्फटिकवत् समस्तरागादिविकल्पोधि रहितम् । प्रवचनसार, तात्पर्यवृति टीका का परिशिष्ट, पृ. 409.

(35) शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यथा परिणमति तदानन्तज्ञान-सुखादिशुद्धभावानां छद्मस्थावस्थायां भावनारूपेण विवक्षितैकदेश शुद्धनिश्चयेन कर्ता। वृहदद्रव्यसंग्रह, गाथा 8 की टीका, पृ. 26.

(36) तत्रैक वस्तुविषय: सद्भूतव्यवहार: । आलाप पद्धति, पृ. 228.

(37) गुणगुणिनो पर्याय पर्यायिणो: स्वभावस्वभाविनो: कारकाकारकिणोर्भेद: सद्भूतव्यवहारस्यार्थ:। वही, पृ. 227.

(38) (क) निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा-जीवस्य केवलज्ञानदयो गुणा:। आलाप पद्धति, पृ. 228.

(ख) शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्ध स्पर्शरसगंधवर्णानामाधारभूतपुद्गल- परमाणुवत् केवलज्ञानादि शुद्धगुणानामधारभूतम् । प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका का परिशिष्ट, पृ. 409.

(39) (क) सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा-जीवस्य मतिज्ञानदयो गुणा: । आलाप पद्धति, पृ. 228.

(ख) अशुद्धसद्भूतव्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणनामाधारभूतत्वाद-शुद्धजीव: । नियमसार, गाथा 9 की तात्पर्यवृति टीका.

(40) अन्यत्रप्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहार: । आलाप द्धति, पृ. 227.

(41) संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा-जीवस्य शरीरमिति । वही, पृ. 228.

(42) आसन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्फलरुपाणां सुखदुखानां भोक्ता च .... ।

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणांकर्ता । नियमसार, गाथा 18 की तात्पर्यवृत्ति टीका ।

(43) संश्लेषरहितवस्तुसम्बंधविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा - देवदत्तस्य धनमिति । आलाप पद्धति, पृ. 228.

(44) (क) असद्भूतव्यवहार: एवोपचार:, उपचारादप्युपचारं य: करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहार: । वही. पृ. 227.

(ख) उपचरितासद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीनां कर्ता । नियमसार, गाथा 18 की तात्पर्यवृत्ति टीका.

परिशिष्ट : दो

ज्ञान - ज्ञेय मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य

ज्ञान - ज्ञेय मीमांसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य

षट् द्रव्यमयी इस विश्व में एक जीव द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अचेतन अर्थात् अजीव हैं। जीव द्रव्य में पाया जाने वाला ''ज्ञान गुण'' उसकी ऐसी विशिष्टा है जो उसे अन्य द्रव्यों से तथा अपने में ही पाये जाने वाले अन्य गुणों से उसे पृथक सिद्ध करती है।

लोक में भी किसी एक ऐसी विशेषता की अपेक्षा किसी व्यक्ति को सम्बोधित करने की पद्धति है कि जो उसका सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सके। जैसे किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के नाम से संबोधित करते हैं। न्यायाधीशत्व उसकी ऐसी विशेषता है जिससे वह सब मनुष्यों से भिन्न पहिचाना जाता है। यद्यपि उसमें अन्य सामान्य मनुष्यों जैसी तथा व्यक्तिगत अपनी अनेक विशेषताऐं भी हैं। वह केवल न्यायाधीश ही नहीं है किन्तु न्यायाधीश संज्ञा में उसका संपूर्ण सामान्य-विशेष व्यक्तित्व गर्भित हो जाता है अर्थात् वह व्यक्ति जितना कुछ है वह सब न्यायाधीशत्व में समवेत है। इसी प्रकार ज्ञान आत्मा (जीव) के अनंत गुण धर्मों के समान यद्यपि जीव (आत्मा) का एक गुण विशेष ही है, किन्तु उसके बिना जीव को पहिचाना ही नहीं जा सकता है। ज्ञान का व्यापार प्रगट अनुभव में आता है। अत: ''उपयोगो लक्षणम्'' की छाया में अनंत पदार्थों के समुदाय इस घुले मिले से विश्व में ज्ञान से ही आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व सिद्ध होता है। न केवल आत्मा वरन् जगत् के अस्तित्व की सिद्धि भी ज्ञान ही करता है। ज्ञान आत्मा का सर्वस्य है। उसके बिना विश्व में आत्मसंज्ञक किसी चेतना तत्त्व की कल्पना ही व्यर्थ है। अत: मनीषी कुन्दकुन्द ने अपने समयसार परमागम में आत्मा को ज्ञान मात्र कुछ ज्ञान की स्मृति मात्रा में ही अखंड चेतन तत्त्व अपनी अनंत विभूतियों के साथ दृष्टि में आता है।

''ज्ञान का स्वभाव जानना अर्थात् वस्तु का सर्वांग प्रतिभासन करना है क्योंकि स्वभाव असहाय, अकृत्रिम एवं निरपेक्ष होता है। अत: ज्ञान भी जगत् से पूर्ण निरपेक्ष एवं असहाय रहकर अपना अनादि अनंत जानने का व्यापार करता रहता है। अपने जानने के कार्य के संपादन हेतु उसे जगत् से कुछ भी आदान-प्रदान नहीं करना पड़ता है। दर्पण के समान ज्ञान से वस्तु को जानने की रीति यह है कि वह सदा अपने एक रूप अखण्ड स्वरूप को सुरक्षित रखकर ज्ञेयाकार (ज्ञेय जैसे आकार) में परिणत होता रहता है। ज्ञेयाकार परिणति में ज्ञानत्व का अन्वय उसका सामान्य भाव है।

जिस प्रकार दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वस्तुओं को अपने में प्रतिबिम्बित करता है। दर्पण में वस्तुओं के अनेक आकार बनते बिगड़ते रहते हैं किन्तु दर्पण प्रत्येक परिवर्तन में अक्षुण्ण रहता है। वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार के संगठन और विघटन में दर्पण की एकरूपता अप्रभावित रहती है। साथ ही उन आकार-प्रकारों से दर्पण की स्वच्छता को आँच नहीं आती। जैसे दर्पण में अग्नि प्रतिबिम्बित होती है किन्तु दर्पण में अग्नि के प्रतिबिम्ब से न तो दर्पण टूटता है और न गर्म ही होता है। क्योंकि दर्पण में जो अग्नि दिखाई देती है, वह साक्षात् अग्नि नहीं वरन् वह तो दर्पण की अपनी अग्नि है वह

दर्पण की अपनी पर्याय है। अत: वस्तुत: वह दर्पण ही है। दर्पण में प्रतिबिम्बित अग्नि की रचना के नियामक उपादान दर्पण के अपने स्वतंत्र हैं। अपनी अग्नि की रचना में दर्पण ने बाह्य अग्नि से कुछ भी सहयोग नहीं लिया है। यह अग्नि दर्पण की स्वतंत्र सृष्टि एवं संपत्ति है। दर्पण की अग्नि का आकार बाह्य अग्नि तुल्य होते हुए भी बाह्य अग्नि इसमें रंच मात्र कारण नहीं है तथा बाह्य अग्नि जल रही है इसलिए दर्पण में अग्नि प्रतिबिम्बित हो रही है यह भी नितांत असत्य है यदि ऐसा स्वीकार कर लिय जाये तो वस्तुओं को प्रतिबिम्बित करना दर्पण का स्वभाव नहीं रह जायेगा। दर्पण का स्वभाव अग्नि सापेक्ष होकर "स्वभाव" संज्ञा को खो देगा। वस्तुत: दर्पण के स्वच्छ स्वभाव में यदि अग्न्याकार परिणमन की शक्ति और योग्यता न हो तो सारा विश्व मिलकर भी उसे अग्न्याकार नहीं कर सकता और यदि स्वयं दर्पण में अग्न्याकार होने की शक्ति व योग्यता है तो फिर उसे अग्नि की क्या अपेक्षा है ?"[1]

वास्तविकता तो यह है कि जो शक्ति शून्य है उसे शक्ति नहीं दी जा सकती और जो शक्तिमय है उसे अपनी शक्ति के प्रयोग में किसी की अपेक्षा नहीं होती। यदि दर्पण में प्रतिबिम्बित अग्नि का कारण बाह्य अग्नि है तो पाषाण में भी अग्नि प्रतिबिम्बित होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अत: अग्नि की रचना की सम्पूर्ण सामग्री दर्पण के अपने अक्षय कोष में ही पड़ी है उसे किसी से कुछ उधार नहीं लेना पड़ता।

पदार्थ अर्थात् ज्ञेय और प्रकाश के ज्ञानकारणता के निषेध में तर्क देते हुए आचार्य माणिक्यनंदी अपने न्यायग्रंथ परीक्षामुख सूत्र के परिच्छेद 2 के 7 वें सूत्र में लिखते हैं कि -"तदन्वयव्यतिरेकानुविधाना भावाच्च केशोण्डुकज्ञान वन्नक्तंचर ज्ञानवच्च ॥"[2]

अर्थात् पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के कारण नहीं, क्योंकि ज्ञान का पदार्थ और प्रकाश के साथ अन्वय-व्यतिरेक रूप संबंध का अभाव है। जैसे केश में भ्रम से होने वाले मच्छर ज्ञान के साथ तथा नक्तंचर अर्थात रात्रि में चलने वाले उलूक आदि की रात्रि में होने वाले ज्ञान के साथ देखा जाता है।

इसके आगे 8 वें सूत्र में वे ज्ञान की अर्थजन्यता और अर्थाकारता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि - "अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥"

अर्थात् पदार्थ से उत्पन्न नहीं होकर भी ज्ञान पदार्थ का प्रकाशक होता है, दीपक के समान।[3]

आचार्य कुन्दकुन्द अपने ग्रंथ "प्रवचनसार" की 23 वीं गाथा में कहते हैं :-

आदा णाण पमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं।[4]

अर्थात् आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, ज्ञेय लोकालोक है इसलिए ज्ञान सर्वगत है - सर्व व्यापक है।

इसी गाथा की आचार्य अमृतचन्द की तत्त्वप्रदीपिका टीका में वे लिखते हैं -[5]

'सम गुणपर्यायं द्रव्यं' इस वचन के अनुसार आत्मा ज्ञान से हीनाधिकता रहित रूप से परिणमित होने के कारण ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ (ज्ञेयों का अवलंबन करने वाला) होने से, दाह्यनिष्ठ दहन की भांति ज्ञेय प्रमाण है। ज्ञेय तो लोक और अलोक

के विभाग से विभक्त अनंत पर्यायमाला से आलिंगित स्वरूप से सूचित नाशवान दिखाई देता हुआ भी ध्रुव ऐसा षट् द्रव्य समूह अर्थात् सब कुछ है। इसलिए नि:शेष आवरण के क्षय के समय ही लोक और अलोक के विभाग से विभक्त समस्त वस्तुओं के आकारों के पार को प्राप्त करके इसी प्रकार अच्युत रूप रहने से ज्ञान सर्वगत है।

इसी ग्रंथ की 28 वीं गाथा की टीका करते हुए वे लिखते हैं -[6]

आत्मा और पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथकत्व के कारण एक दूसरे में नहीं वर्तते परंतु उनमें मात्र नेत्र और रूपी पदार्थ की भांति ज्ञान-ज्ञेय स्वभाव संबंध होने वाली एक दूसरे में प्रवृत्ति पाई जाती है। जैसे नेत्र और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना ही ज्ञेयाकारों को ग्रहण और समर्पण करने के स्वभाववाले हैं उसी प्रकार आत्मा और पदार्थ एक दूसरे में प्रविष्ट हुए बिना ही समस्त ज्ञेयाकारों के ग्रहण और समर्पण करने के स्वभाव वाले हैं। जिस प्रकार आँख रूपवान पदार्थों में प्रवेश नहीं करती और रूपी पदार्थ आँख में प्रवेश नहीं करते तो भी आँख रूपी पदार्थों के ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने - जानने के स्वभाववाली है और रूपी पदार्थ स्वयं के ज्ञेयाकारों को समर्पित करने, जानने में आने के स्वभाव वाले हैं उसी प्रकार आत्मा पदार्थों के समस्त ज्ञेयाकारों को ग्रहण कर लेने, जान लेने के स्वभाव वाला है और पदार्थ स्वयं समस्त ज्ञेयाकारों को समर्पित हो जाने - ज्ञात होने के स्वभाव वाले हैं।

इस प्रकार शक्ति वैचित्र्य के कारण ज्ञान के ज्ञेयभूत पदार्थों में अप्रविष्ट रहकर (उनमें पाये बिना) व प्रविष्ट होकर (सर्वप्रकार से जानने के कारण) जानने के कारण व्यवहार से ज्ञेय-ज्ञायक संबंध कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञायक-ज्ञेय से निरपेक्ष रहकर भी अपनी ज्ञान प्रभा के द्वारा दूध में पड़ी इन्द्र नील मणि की भांति सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है।

इसी प्रकार का भाव आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार जी ग्रंथ की 320 वीं गाथा में भी प्रस्तुत किया है।[7]

ज्ञान नेत्र की भांति अकारक व अवेदक ही है। यह नेत्र की भांति मात्र देखता, जानता ही है।

''इस चर्चा में ऐसा तर्क प्रस्तुत किया जाता है, कि यदि बाह्य अग्नि दर्पणाग्नि का कारण नहीं है और दर्पण में उस समय अग्न्याकार परिणमन की योग्यता है तो फिर जब अग्नि न हो तब भी दर्पण का अग्न्याकार परिणाम होना चाहिए अथवा अग्नि की समक्षता में भी दर्पण में अग्नि प्रतिभासित न होकर कुछ अन्य प्रतिभासन होना चाहिए। विचित्र तर्क है; यह तो दर्पण के स्वभाव की स्वतंत्रता पर सीधा प्रहार है। यदि दर्पण के समक्ष अग्नि हो और वह वैसी की वैसी अग्नि दर्पण में प्रतिबिम्बित न हो, तो उसे फिर हम दर्पण किस वस्तु को कहेंगे। वस्तुत: जैसी हो उसे वैसी ही प्रतिबिम्बित करे उसे ही तो दर्पण कहते हैं। पुन: यदि अग्नि के अभाव में भी दर्पण में अग्नि प्रतिबिम्बित हो अथवा अग्नि की समक्षता में दर्पण में अग्नि के स्थान पर घट प्रतिबिम्बित हो तो दर्पण की प्रामाणिकता ही क्या कहलायेगी। अत: अग्नि का भी होना और दर्पण में भी सांगोपांग वही प्रतिबिम्बित होना यही वस्तुस्थिति है और यही वस्तु स्वभावगत अनादि निधन नियम भी है। इसमें परस्पर कारण-कार्य से उत्पन्न किसी परतंत्रता या सापेक्षता के

लिए रंच मात्र भी अवकाश नहीं है। इस प्रकार दर्पण और उसका अग्न्याकार अग्नि से सर्वथा पृथक् तथा निर्लिप्त ही रह जाता है।"[8]

दर्पण के समान ज्ञान भी ज्ञेय से अत्यंत निरपेक्ष रहकर अपने ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार अर्थात् ज्ञेय के आकार जैसी अपनी ज्ञान की रचना) का उत्पाद-व्यय करता है। ज्ञान में ज्ञेय या ज्ञेयाकार के इस अभाव को ज्ञान का अतत् स्वभाव कहते हैं और उनके ज्ञेयों के आकार परिणमित होकर भी प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञानत्व की धारावाहिकता कभी भंग नहीं होती। अर्थात् ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञान सामान्य का अन्वय अखण्ड तथा अपरिवर्तित है। ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञान ही प्रतिध्वनित होता है, इसे आगम में ज्ञान का तत् स्वभाव कहा जाता है। अपने में अनंत लोकालोक रूप चित्र-विचित्र ज्ञेयाकार नियत समय में उत्पादन करने में ज्ञान अत्यंत स्वतंत्र है इसमें इसे लोकालोक की कोई उपेक्षा नहीं, न ही लोक से उसे कुछ लेना पड़ता है और न ही कुछ देना पड़ता है। ज्ञान में जो लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है ज्ञान के उस ज्ञेय जैसा आकार की रचना ज्ञान की उपादान सामग्री से होती है। लोकालोक रूप निमित्त की उसमें रंच भी कारणता नहीं है। अत: ज्ञान लोकालोक को जानता है यह कथन व्यवहार रूप से अपने ज्ञेयाकारों को ही जानता है। यही परिनिष्ठित कथन है।

इस संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द जी की कृति समयसार जी की 6 वीं गाथा पर आचार्य अमृतचन्द्र की तात्पर्यवृत्ति टीका भी द्रष्टव्य है जो इस प्रकार है -

"जैसे दाह्य (जलने योग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं तथापि उसमें दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' की ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायक रूप से ज्ञात हुआ वह स्वरूप प्रकाशन की अवस्था में भी, दीपक की भांति, कर्ताकर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से ज्ञायक ही है - स्वयं जानने वाला है इसलिए स्वयं कर्ता और अपने को जाना इसलिए स्वयं ही कर्म है। जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है और अपने को अपनी ज्योति रूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं, उसी प्रकार ज्ञायक को समझना चाहिए।"[9] इसमें कर्तृ-कर्म विरोध देखना एक अन्यथा दृष्टि है।

इसी गाथा का भावार्थ लिखते हुए आगे कहा है - "ज्ञायक" नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है, क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है तथापि उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है। यह जो मैं जानने वाला हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं - ऐसा अपने को अपना अभेद रूप अनुभव हुआ तब इस जानने रूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसे जाना वह कर्म भी स्वयं ही है। ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र स्वयं शुद्ध है। यह शुद्ध नय का विषय है। अन्य जो परद्रव्य संयोग जनित भेद हैं वे सब भेदरूप अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं। अशुद्ध नय को असत्यार्थ कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि आकाश के फूल की भांति वह वस्तु धर्म सर्वथा ही नहीं है, ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है, इसलिए स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का आलंबन लेना चाहिए।

"जैसे हम किसी अट्टालिका की कल्पना करते हैं। अट्टालिका तो पाषाण की बनी होती है किन्तु हमारी कल्पना की अट्टालिका तो हमारी कल्पना से बनी है पाषाण से नहीं। उसी प्रकार ज्ञान के ज्ञेयाकार सब ज्ञान की ही सृष्टि है और वे ज्ञेय से अत्यंत भिन्न रहते हैं तथा जगत् में ज्ञेय है अतः ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं यह तर्क भी भ्रममूलक है जो ज्ञान की अप्रतिहत शक्ति की अवहेलना करके ज्ञान के क्लैत्य की घोषणा करता है। ज्ञेय जैसा आकार ज्ञान में जानने का अर्थ यह तो कदापि नहीं हो सकता कि ज्ञान का वह कार्य ज्ञेय की कृपा से निष्पन्न हुआ है। यह तो ज्ञान की स्वच्छता तथा प्रामाणिकता का प्रतीक है। जगत् में सदृश कार्य तो अनेक होते हैं किन्तु किसी की कृपा की उसमें कोई अपेक्षा नहीं होती। जैसे हमारे पड़ोसी के घर भात बनाया जाय और हमारे घर भी भात बनाया जाय तो हमने पड़ोसी का अनुकरण करके या पड़ोसी से कुछ लेकर तो अपना भात बनाया नहीं, हमारा भात स्वतंत्र रूप से अपने नियत समय में हमारी संपत्ति से बना है और इसी प्रकार पड़ोसी का भी, दोनों में कोई संबंध ही नहीं बनता। हाँ सादृश्य तो दोनों में है, किन्तु संबंध कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान में कोई ज्ञेय अथवा घट प्रतिबिम्बित होता है तो ज्ञान घटाकर तो ज्ञान की अपनी शक्ति से अपने नियत समय में उत्पन्न हुआ है, मिट्टी का घट तो पहले भी विद्यमान था किन्तु ज्ञान का घट पहले नहीं था। ज्ञान ने अपने क्रमबद्ध प्रवाह में अपना घट अब बनाया है और उस घटाकार की रचना में ज्ञान में मृणमय घट का अनुकरण नहीं किया है। वरन् ज्ञान का घटाकार मृणमय घटाकार से नितांत पृथक् ज्ञान का अपने समय का स्वतंत्र निरपेक्ष उत्पादन है। ज्ञान में घटाका र की रचना, ज्ञान के अनादि अनंत प्रवाह क्रम में नियत क्षण में ही हुई है। उसके एक क्षण भी आगे पीछे की कल्पना एकांत मिथ्या है। "ज्ञान के सामने घड़ा है" अतएव घट ही प्रतिबिम्बित हुआ यह बात तर्क और सिद्धांत की कसौटी पर भी सिद्ध नहीं होती। यदि उसे सिद्धांततः स्वीकार कर लिया जाय तो लोकालोक तो सदा ही विद्यमान है, केवलज्ञान क्यों नहीं होता ? पुनः यदि पदार्थ ज्ञान का कारण हो तो फिर सीप के दर्शन से चांदी की भ्रांति क्यों हो जाती है ? अथवा वस्तु के न होते हुए भी केश मशकादि का ज्ञान कैसे उत्पन्न हो जाता है तथा भूत और भावी पर्यायें तो वर्तमान में विद्यमान नहीं हैं उनका ज्ञान कैसे हो जाता है। अतः ज्ञेय से ज्ञान की सर्वांङ्गीण निरपेक्षता निर्विवाद है।"[10]

ज्ञान में प्रतिबिम्बित ज्ञेयाकार के संबंध में जिसको "यह क्यों" यह विषम भाव उत्पन्न होता है वह वस्तुतः ज्ञान के ज्ञेयाकार ज्ञान स्वभाव और आत्मा का ही अभाव चाहता है। ज्ञान स्वभाव की यह प्रतीति निर्भयता एवं निशंकता को जन्म देती है। ज्ञानी इस प्रतीति में सदा ही निश्चिंत है कि मेरी ज्ञान परिधि में जगत् का प्रवेश ही निषिद्ध है। अतः अनेकाकार होते हुए भी ज्ञान निर्मल ही रहता है और वे अनेकाकार भी ज्ञान के ही विशेष होने के कारण ज्ञान ही हैं। ज्ञानी उन विशेषों का भी तिरोभाव करके त्रैकालिक ज्ञान सामान्य पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है। इसके विपरीत अज्ञानी सदा ही ज्ञेयाकारों के ज्ञान में प्रवेश की भ्रांति से उद्वेलित रहता है। उसे सदा ज्ञेय मिश्र ज्ञान की अशुद्ध अनुभूति ही होती है। श्री समयसार जी की 15 वीं गाथा की टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्रजी इसका अत्यंत मार्मिक चित्रांकन करते हैं।

"अनेक प्रकार के ज्ञेय के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला ज्ञान वह अज्ञानी ज्ञेय लुब्ध जीवों के स्वाद में आता है। किन्तु ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आने वाला एकाकार अभेद रूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता और परमार्थ से विचार किया जाये तो, जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध ज्ञानियों को तो जैसे सैंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर सर्वत: एक क्षार रसत्व के कारण क्षार रूप से स्वाद में आती है, उसी प्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का अनुभव किया जाने पर सर्वत: एक विज्ञानहीनता के कारण ज्ञान रूप से स्वाद में आता है।"[11]

"वस्तुत: ज्ञान सामान्य की विस्मृति कर देने पर ज्ञान के अनेकाकार की सृष्टि न बनकर ज्ञेय की दृष्टि बन जाती है और शाक तथा लवण के मिश्रण की भांति अज्ञानी को सदा ही 'यह देह मैं ही हूँ' यह ज्वर मुझे ही है, ऐसा मिश्र स्वाद आता है किन्तु ज्ञानी को तो सदा ही ज्ञान सामान्य की ही स्मृति है। मेरा ज्ञान ज्वर तथा देहाकार परिणत होने पर भी मैं देह तथा ज्वर से भिन्न ज्ञान ही हूँ, ज्ञान को देह नहीं और कभी ज्वर चढ़ता ही नहीं। अत: ज्ञान के ज्वराकार और देहाकार परिणाम भी ज्ञानी को दृष्टव्य नहीं। इससे यह तर्क भी अपेक्षित नहीं कि यदि निरंतर ज्ञान सामान्य की ही दृष्टि रहे तो फिर ज्ञान के विशेषों का क्या होगा ? वस्तुत: ज्ञान तो सहज ही ज्ञेय निरपेक्ष रहकर अनेकाकार में परिणत होना रहता है। किसी प्रबंध के बिना ही वे अनेकाकार ज्ञान में होते रहते हैं। जैसे हमारे घर में झूलते हुए दर्पण में पड़ोसी के मकान, मनुष्य आदि सहज मौन भाव से प्रतिबिम्बित होते रहते हैं, हम उसकी व्यवस्था नहीं करते और दर्पण के वे खण्ड भाव (प्रतिबिम्ब) हमारे प्रयोजन की वस्तु भी नहीं होते। यद्यपि वे हमारे जानने में अवश्य आते हैं किन्तु हमारी अविरल दृष्टि तो अपने अखंड दर्पण पर ही केन्द्रित रहती है। यदि हमारी दृष्टि उन खंड भावों और प्रतिबिम्बों पर केन्द्रित हो जाये और हम दर्पण की अखण्डता को विस्मृत कर दें तो हमें लगेगा कि हमारे दर्पण में तो कोई मनुष्य अथवा मकान प्रविष्ट हो गया। अत: हम विह्वल हो उठेंगे। किन्तु इन अनेकाकारों में भी दर्पण तो ज्यों का त्यों विद्यमान है, यह दृष्टि और प्रतीति निराकुलता को जन्म देती है। इस प्रकार ज्ञान के वज्र कपाटों का भेदन करके कोई भी अन्यज्ञेयपदार्थ प्रविष्टि नहीं पाता।"[12]

एक ही ज्ञेय पदार्थ को देखकर भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न भाव होते हैं, यदि ज्ञेय पदार्थ से ज्ञान होता हो तो सभी के एक से भाव होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। इस बात को हम एक दृष्टांत के द्वारा समझेंगे। रास्ते में मरी पड़ी हुई एक वेश्या को एक साधु ने, युवक ने, चोर ने तथा एक कुत्ते ने देखा उसको देखकर साधुजी को विचार आया कि इस वेश्या ने अपना जीवन धर्म में न लगाकर विषय भोगों में व्यर्थ ही गंवा दिया। युवक वेश्या को देखकर विचारता है कि कितनी खूबसूरती पाई थी यदि पहले पता होता तो मैं उसके पास जरूर जाता। चोर उसे देखकर उसके आभूषणों को निहारकर विचार करता है कि यदि सब चले जाते तो मैं झट से उसके आभूषण उतार लेता। कुत्ता उसे मृतक जानकर विचार करता है कि कैसे मौका लगे कि मैं मांस खा लूँ।

इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि ज्ञेय से ज्ञान नहीं होता वरन् ज्ञान स्वत: अपनी योग्यता से अपने ही स्वकाल में होता है। उसमें ज्ञेय की किसी भी प्रकार की पराधीनता उसे नहीं है।

इसी संदर्भ आचार्य अमृतचंद्र समयसार जी की तात्पर्य-वृत्ति टीका के 271 वें कलश में कहते हैं :-

''योऽयं भावे ज्ञानमात्रोऽहमस्मि, ज्ञेयो ज्ञेय ज्ञानमात्र: स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेय ज्ञान कल्लोल वल्गन्, ज्ञान ज्ञेय ज्ञातृमद्वस्तुमात्र: ॥''[13]

अर्थात् जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए। परंतु ज्ञेयों के आकार से होने वाली ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिए।

ज्ञान मात्र भाव ज्ञातृक्रिया रूप होने से ज्ञान स्वरूप है और वह स्वयं ही निम्न प्रकार से ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्टि नहीं पाते, ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकार रूप दिखाई देता है परंतु वे ज्ञान की ही तरंगे हैं वे ज्ञान तरंगे ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती है। इस प्रकार स्वयं ही स्वत: जानने योग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेय रूप है और स्वयं ही अपना जानने वाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता - इन तीनों भावों से युक्त सामान्य विशेष स्वरूप वस्तु है। ऐसा ज्ञानमात्र भाव 'मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव करने वाला पुरुष ज्ञानी है।

''ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा'' करने से हम निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते है :-

(1) जीव ज्ञान स्वभावी है। ज्ञान का स्वभाव स्वपर प्रकाशक होता है। स्वभाव पर निरपेक्ष, असहाय होने से ज्ञान को अपने जानने रूप व्यवसाय को करने में पर की (ज्ञेय) की किंचित् भी अपेक्षा नहीं होती।

(2) जीव से भिन्न अन्य पर वस्तुओं में प्रमेयत्व गुण होने के कारण वे ज्ञान के ज्ञेय बनने की सामर्थ्य युक्त होते हैं।

(3) जीव अर्थात् ज्ञान पर वस्तुओं को अर्थात् भिन्नरूप ज्ञेय वस्तुओं को अतन्मयपने होकर जानता है।

(4) बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते।

(5) ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता, ज्ञान से ही ज्ञान होता है।

(6) ज्ञान जड़ को जानने से जड़रूप नहीं होता तथा अपने अनंत गुणों को जानने से अनंतगुण रूप नहीं होता। ज्ञान तो सदाकाल ज्ञानरूप ही रहता है।

(7) ज्ञान तो सहज ही ज्ञेय निरपेक्ष रहकर ज्ञेयाकार रूप परिणत होता है। ज्ञान के ज्ञेयाकार वास्तव में ज्ञान ही है।

(8) ज्ञेयाकार रूप परिणत होने पर भी ज्ञान अपने ज्ञानत्वपने को नहीं छोड़ता।

(9) ज्ञान दीपक की भांति पर प्रकाशन की अवस्था में भी स्वप्रकाशपने को प्रकाशित करता है। अत: ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए अन्य ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं होती क्योंकि ज्ञान स्वभाव से ही स्वपर प्रकाशी होता है।

(10) ज्ञान अपने को तन्मयपने होकर जानने के कारण स्वयं ही ज्ञान व स्वयं ही ज्ञेय है।

ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा द्वारा वस्तु स्वातंत्र्य की सिद्धि-

जैन दर्शन के अनुसार जीव मात्र ज्ञान गुण से सम्पन्न प्राणी है। जीव का यह ज्ञान-स्वभाव स्वपर प्रकाशी होता है। अत: जीव स्वयं ज्ञानमयी है और दीपक की भांति स्वयं ही अपने ज्ञान का ज्ञेय भी बनता है अत: ज्ञान-ज्ञेय रूप से अभिन्न वस्तु है तथा साथ ही उसमें पर को भी यथावत जानने का सामर्थ्य स्वभाव से ही है इसमें उसे किसी परद्रव्य रूप ज्ञेय का सहारा नहीं लेना पड़ता तथा साथ ही भिन्न रूप ज्ञेय (जिनमें जड़ वस्तुऐं व अन्य जीव भी शामिल हैं) अपने में अपना प्रमेयत्व गुण रखने के कारण ज्ञान का ज्ञेय बनने की सामर्थ्य रखने के कारण जीव के ज्ञान की सहज ही ज्ञेय बन जाती हैं। इस प्रकार इस ज्ञान-ज्ञेय संबंध में सहजरूपता स्वभाव से ही रहती है। न तो ज्ञान को ज्ञेयों की पराधीनता होती है कि ज्ञेय हो तो वह जाने। क्योंकि वह तो स्वभाव से ही जानना स्वरूपता को धारण किये है और स्वभाव किसी अन्य की अपेक्षा कभी नहीं रखता तथा ज्ञेय भी जनाने रूप (जानने में आने रूप) धर्म के धारी होने से सहज ही ज्ञान के ज्ञेय बन जाते हैं। अत: ज्ञेयरूप वस्तुओं को भी ज्ञान की पराधीनता नहीं कि ज्ञान रूप वस्तु हो तो वे जानने में आये। इस प्रकार ज्ञानमयी वस्तु तथा ज्ञेयरूप वस्तु दोनों अपने-अपने में अपनी स्वरूप संपदा से परिपूर्ण होने के कारण परस्पर एक दूसरे के आधीन नहीं हैं। वे एक दूसरे से किसी प्रकार भी परतंत्र नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञान व ज्ञेय मयी समस्त वस्तुओं को उनकी स्वशक्तियाँ उन्हें पर से निरपेक्ष व स्वभाव से सहज संपन्न रखती हैं इस कारण पर के हस्तावलंबन अथवा हस्तक्षेप का कोई विकल्प ही पैदा होने की गुंजाइश नहीं रहती।

इस प्रकार यह ज्ञान-ज्ञेय प्रकरण भी वस्तुस्वातंत्र्य की उद्घोषणा करता हुआ अकृत विश्व व्यवस्था में अपनी सम्मति देता हुआ शोभायमान होता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. *चैतन्य बिहार - श्री जगुलकिशारे जी "युगल", अखिल भा. जैन युवा फेडरेशन कोटा (राज.), प्रथम संस्करण 2002, पृष्ठ 43।*
2. *श्री परीक्षामुख सूत्र - आचार्य माणिक्यनंदी, सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट ए-4 बापूनगर, जयपुर, प्रथम संस्करण, दूसरा अध्याय सूत्र - 7।*
3. *श्री परीक्षामुख सूत्र - वही, दूसरा अध्याय, सूत्र - 8, पृष्ठ 24*
4. *श्री प्रवचनसार जी - आचार्य कुन्दकुन्द, चतुर्थ आवृत्ति, वि.सं. 2035 गाथा 24, पृष्ठ 42।*
5. *श्री प्रवचनसार जी - वही, गाथा 28, पृष्ठ 48।*
7. *श्री समयसार जी - आचार्य कुन्दकुन्द, सप्तम आवृत्ति, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर 1983, गाथा 320, पृष्ठ 505।*
8. *चैतन्य विहार - वही, पृष्ठ 45।*
9. *श्री समयसार जी - वही, गाथा 6 वीं पृष्ठ 61।*
10. *चैतन्य विहार - वही, पृष्ठ 46।*
11. *श्री समयसार जी - वही, गाथा 15, पृष्ठ 42।*
12. *चैतन्य बिहार- वही, पृष्ठ 50।*
13. *श्री समयसार जी- वही, कलश 271, पृष्ठ 682।*

बिब्लियोग्राफी

(I)

प्राथमिक स्त्रोत ग्रंथ

(1) अष्टसहस्त्री (संस्कृत) : आचार्य विद्यानंद, समयसार प्रकाशन, सोलापुर ; 1990.

(2) अष्टसहस्त्री (भाग-1) : आचार्य विद्यानंद, हिन्दी अनुवाद आर्यिका ज्ञानमती, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर ; प्रथम संस्करण, 1974.

(3) अष्टसहस्त्री (भाग-2) : आचार्य विद्यानंद, हिन्दी अनुवाद-आर्यिका ज्ञानमती, दिगम्बर जैन शोध संस्थान, हस्तिनापुर, प्रथम संस्करण ; वी.नि. सं. 2515.

(4) आप्तपरीक्षा : आचार्य विद्यानंद, सम्पादन-अनुवाद-दरबारीलाल जैन कोठिया, वीर सेवा मंदिर सरसावा (सहारनपुर) ; 1949.

(5) आप्तमीमांसा : आचार्य समन्तभद्र, हिन्दी अनुवाद-डॉ. रमेशचन्द्र जैन, अखिल भारतीय दिगम्बर जैन परिषद्, बड़ौत (उ.प्र.) ; 1993.

(6) अकलंकग्रंथत्रयम् : आचार्य अकलंक देव, संपादक-महेन्द्र कुमार शास्त्री, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद ; 1996.

(7) अध्यात्म न्यायदीपिका : आचार्य धर्मभूषण, हिन्दी अनुवाद-वीरसागर महाराज, सुभाष गाँधी रविवार पेठ, फलटण ; 2000.

(8) आलापपद्धति : आचार्य देवसेन, संपादन-अनुवाद-सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचंद शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1971.

(9) अष्टपाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात) ; वी. नि. सं. 2502.

(10) अर्थववेद : भाष्यकार जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल अजमेर ; वि. सं. 1986.

(11) अनगारधर्मामृत : पंडित आशाधर, सम्पादन-अनुवाद-सिद्धान्ताचार्य कैलाशचंद्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1996.

(12) अर्थप्रकाशिका : पं. सदासुखदास, सम्पादन-अनुवाद-मन्नूलाल जैन (वकील जैन-संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर ; 2003.

(13) अग्निपुराण : मनसुखराय मोर, कलकत्ता ; प्रका. वर्ष (ति.न.).

(14) इष्टोपदेश : आचार्य पूज्यपाद, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास; 1973.

(15) इष्टोपदेश (संस्कृतटीका) : पं. आशाधर, परमश्रुतप्रभावक मण्डल, अगास; 1973.

(16) ऋग्वेद (हिन्दी) : रामगोविन्द त्रिवेदी, इण्डियन प्रेस पब्लिकेशन, प्रयाग ; 1954.

(17) कारिकावली : विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य, सम्पादक- चन्द्रधारीसिंह, भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली ; 1990.

(18) कातंत्र-व्याकरण : आचार्य शर्ववर्म, हिन्दी अनुवाद-आर्यिका ज्ञानमती, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ) ; 1992.

(19) कार्तिकियानुप्रेक्षा : आचार्य कार्तिकेय, हिन्दी अनुवाद-पंडित महेन्द्र कुमार पाटनी काव्यतीर्थ, जयपुर ; 1996.

(20) कषायपाहुड : आचार्य गुणधर, भारतीय दिगम्बर जैन संघ चौरासी, मथुरा ; वि. सं. 2000.

(21) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) : आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, टीकाकर्त्री - आर्यिक आदिमती, आचार्य शिवसागर ग्रंथमाला, महावीर जी ; 1980.

(22) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) (भाग-2) : आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सम्पादन व अनुवाद - डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये व अन्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1997.

(23) छान्दोगय उपनिषद : (सानुवाद शंकरभाष्यसहित), गीता प्रेस गोरखपुर ; प्रका. वर्ष (ति.न.).

(24) तत्त्वार्थसूत्र : आचार्य उमास्वामी, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1996.

(25) तर्कसंग्रह : अन्नम्भट्ट, व्याख्याकार-डॉ. दयानंद भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ; 1971.

(26) तर्कभाषा : केशवमिश्र, सम्पादक-श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ-2 ; 1981.

(27) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (नय निवरणम्) : आचार्य विद्यानंद, संपादन-अनुवाद-पं. कैलाशचंद सिद्धान्त शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1971.

(28) तत्त्वानुशासन : आचार्य रामसेन, सम्पादक-जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर', दिगम्बर जैन महिला शास्त्र सभा, नई दिल्ली ; 1994.

(29) द्रव्यसंग्रह : आचार्य नेमिचन्द्र, हिन्दी अनुवाद-पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ; वी. नि. सं. 2502.

(30) द्रव्यस्वभावप्रकाशक - नयचक्र : आचार्य माइल्लधवल, संपादन-अनुवाद-पं. कैलाशचंद सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1971.

(31) धवला (पुस्तक 1,6,,9,10,12,13,14,1). : आचार्य वीरसेन, जैन साहित्योद्धार फण्ड अमरावती ; प्रका. वर्ष (ति. न.)

(32) धम्मपद : अनुवादक-भदन्त आनंद कौसल्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी) ; प्रका. वर्ष (ति.न.).

(33) न्यायकुमुदचंद्र (भाग-1) : आचार्य प्रभाचन्द्र, माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बंबई ; प्रका. वर्ष (ति. न.).

(34) न्यायविनिश्चय वृति : आचार्य अकलंक, ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी ; प्रका. वर्ष (ति.न.).

(35) न्यायकुसमांजलि : आचार्य उदयन, हिन्दी अनुवाद-विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ; प्रका. वर्ष (ति. न.).

(36) नियमसार : आचार्य कुन्दकुन्द, श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैनतीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर ; 1993.

(37) नियमसार (तात्पर्यवृति टीका) : आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव, हिन्दी अनुवाद-पं. परमेष्ठीदास, श्रीकुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैनतीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर ; 1993.

(38) पंचास्तिकाय : आचार्य कुन्दकुन्द, श्री कुन्दकुन्द कहान जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर ; 1984.

(39) पंचास्तिकाय (समयव्याख्या टीका) : आचार्य अमृतचन्द्र, श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर ; 1984.

(40) पंचास्तिकाय (तात्पर्यवृति टीका) : आचार्य जयसेन, सम्पादन-अनुवाद-पं. मन्नूलाल जैन (वकील), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 2000.

(41) पद्मपुराण (भाग-2) : आचार्य रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1977.

(42) पदार्थधर्मसंग्रह : आचार्य प्रशस्तपाद, गंगानाथ झा ग्रंथमाला, वाराणसी ; प्रका. वर्ष (ति. न.).

(43) परमार्थ प्रकाश : आचार्य योगेन्दु, हिन्दी अनुवाद-डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, परमश्रुतप्रभावक, अगास ; 1973.

(44) पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध) : आचार्य अमृतचन्द्र, टीकाकार-पं. देवकीनंदन, श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा ; 1932.

(45) पुरुषार्थसिद्धिउपाय : आचार्य अमृतचन्द्र, भाषा टीका-आचार्यकल्प पं. टोडरमल, पं. टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर ; 1995.

(46) पुरुषार्थसिद्धिउपाय : आचार्य अमृतचंद्र, टीकाकार-पं. सरनाराम जैन, श्री दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अलवर ; 1995.

(47) प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द, श्री कुन्दकुन्द कहान सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर ; 1996.

(48) प्रवचनसार (तत्त्वप्रदीपिका टीका) : आचार्य अमृतचन्द्र, श्री कुन्दकुन्द कहान सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर ; 1996.

(49) प्रवचनसार (तात्पर्यवृति टीका) : आचार्य जयसेन, हिन्दी अनुवाद-ब्र. कल्पना जैन शास्त्री, श्री दिगम्बर जैन धर्म शिक्षण संयोजन समिति, इंदौर ; 1994.

(50) प्रमेयरत्नमाला : आचार्य अनंतकीर्ति, संपादन-अनुवाद-श्री हीरालाल जैन 'न्यायतीर्थ', चौखम्बा भवन, वाराणसी - 1; 1964.

(51) प्रमेयकमलमार्तण्ड (भाग-1) : आचार्य प्रभाचन्द्र, हिन्दी अनुवाद-आर्यिका जिनमती, श्री लालामुसद्दी-लाल जैन, नई दिल्ली ; वी. नि. सं. 2504.

(52) प्रमेयकमलमार्तण्ड (भाग-2) : आचार्य प्रभाचन्द्र, हिन्दी अनुवाद-आर्यिका ज्ञानमती, नई दिल्ली ; वी.नि.सं. 2507.

(53) ब्रह्मपुराण (भाग-2) : मनसुखराय मोर, कलकत्ता ; 1954.

(54) ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य) : आचार्य शंकर, अनुवादक-वासुदेव शर्मा, निर्णसागर प्रेस ; 1915.

(55) भगवती आराधना (विजयोदया टीका) : आचार्य अपराजित, सम्पादन-अनुवाद-पं. कैलाशचंद सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर ; 198.

(56) भगवद्गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर ; प्रका. वर्ष (ति. न.).

(57) मीमांसाश्लोकवार्तिक : आचार्य कुमारिल भट्ट, हिन्दी अनुवाद-पं. दुर्गाधर झा, दरभंगा विश्वविद्यालय, दरभंगा ; 1979.

(58) मनुस्मृति : टीकाकार-पं. जर्नादन झा, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता ; वि.सं. 1983.

(59) महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर ; प्रका. वर्ष (ति.न.)

(60) मत्स्यपुराण : श्री जीवानंद विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता ; 1876.

(61) मोक्षमार्ग प्रकाशक : आचार्यकल्प पं. टोडरमल, हिन्दी अनुवाद-मगनलाल जैन, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1995.

(62) मूलाचार (भाग-1) : आचार्य वट्टेकर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1984.

(63) योगसार : आचार्य अमितगति, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी ; वी. नि. सं. 2495.

(64) युजर्वेद : भाष्यकार जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर ; वि. सं. 2005.

(65) युक्त्यनुशासन : आचार्य समन्तभद्र, श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सांगानेर (जयपुर); 1969.

(66) रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र, हिन्दी अनुवाद-पं. मन्नूलाल जैन 'वकील', श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, अजमेर ; प्रथम संस्करण.

(67) राजवार्तिक (भाग 1-2) : आचार्य अकलंक, संपादन-अनुवाद-प्रो. महेन्द्र जैन 'न्यायाचार्य', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1993.

(68) लघुतत्त्वस्फोट : आचार्य अमृतचन्द्र, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सिवनी ; 2004.

(69) विनयापिटक : अनुवाद-राहुलसांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ ; 1995.

(70) वायुपुराण : मनसुखराय मोर, कलकत्ता ; 1959.

(71) वाल्मीकि रामायण : संपादक - वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ; 1930.

(72) वृहद द्रव्यसंग्रह : टीकाकार- आचार्य ब्रह्मदेव, हिन्दी अनुवाद - श्री राजकिशोर जैन पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1995.

(73) श्लोकवार्तिक (भाग-2) : आचार्य विद्यानंद, टीकाकार-पं. माणिकचंद कौन्देय, कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर, प्रथम संस्करण.

(74) षड्दर्शन समुच्चय : आचार्य हरिभद्रसूरि, सम्पादक-डॉ. महेन्द्र जैन 'न्यायाचार्य', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 2004.

(75) सागरधर्मामृत : पं. आशाधर, सम्पादन-अनुवाद-सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचंद्र सिद्धान्त, शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1999.

(76) समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1983.

(77) समयसार (आत्मख्याति टीका) : आचार्य अमृतचंद्र, हिन्दी अनुवाद-पंडित परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1983.

(78) समयसार (तात्पर्यवृत्ति टीका) : आचार्य जयसेन, हिन्दी अनुवाद-वीरसागर महाराज, सोलापुर ; 2000.

(79) समयसार कलश : आचार्य अमृतचंद, हिन्दी अनुवाद-पंडित फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री, श्री दिगम्बर जैनधर्म शिक्षण संयोजन समिति, इंदौर ; 1994.

(80) समयसार (सप्तदशांगी टीका) : सहजानंद वर्णी, भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मंदिर, मुफ्फरनगर ; 1997.

(81) स्वयंभूस्त्रोत : आचार्य समन्तभद्र, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा ; 1951.

(82) सूत्रकृतांगसूत्र : श्री सुधर्माचार्य, हिन्दी अनुवाद-पंडित हेमचंद, आत्मज्ञानपीठ, मानसा मण्डी (पंजाब) ; 1979.

(83) संयुक्तनिकाय (भाग-1) : अनुवाद - भिक्षु जगदीश कश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ ; 1954.

(84) स्वाद्वाद मंजरी : आचार्य मल्लिषेण सूरि, श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, अगास (गुजरात) ; 1979.

(85) सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यवाद, संपादन-अनुवाद-पंडित फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1998.

(86) सिद्धिविनिश्चय : आचार्य अकलंक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; 1951.

(87) सन्मतिसूत्र : आचार्य सिद्धसेन, सम्पादक - डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, ज्ञानपीठ-प्रकाशन वाराणसी ; 1971

(88) सुत्तनिपात : अनुवाद भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी); 1951.

(II)

Primary sources (English)

(89) Apastamba Grhya Sutra : Sacred Books of the East, Vol. XXX. pt. II.
(90) Apastamba Darma Sutra : Sacred Books of the East, Vol. II, Part - I, oxford, 1896.
(91) Baudhayan Dharmasutra : Sacred Books of the East , Vol. XIV.
(92) Gautham Dharma Sutra : Sacred Books of the East, Vol. XIV.
(93) Khadira Grhya Sutra : Sacred Books of the East, Vol. XXIX.
(94) Paraskara Grhya Sutra : Sacred Books of the East, Vol. XXIX.
(95) Sankha-yana Grhya Sutra : Sacred Books of the East, Vol. XXIX.
(96) Shribhasya of Ramanuja : R.O. Karmarkar, University of poona, 1959-64.
(97) Vasistha Dharma Sutra : Sacred Books of the East, Vol. XIX.

(III)

द्वितीयक स्त्रोत ग्रंथ

(1) अहिंसा (भाग-1) : महात्मा गाँधी, सम्पादक-कमलापति त्रिपाठी व अन्य, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 1948.
(2) आत्मप्रसिद्धि : ब्र. हरिलाल जैन, अनुवाद-मगनलाल जैन, श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई : वी. नि. सं. 2490.
(3) आचार्य अमृतचंद्र-व्यक्तित्व व कृतित्व : डॉ. उत्तमचंद जैन, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1988.
(4) आप्तमीमांसा तत्त्वप्रदीपिका : प्रो. उदयचंद जैन, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नाटिया (वाराणसी) ; वीर. नि. सं. 2501.
(5) अध्यात्मपद संग्रह : भैया भगवतीदास, सम्पादक-पं. महेन्द्र कुमार अजमेरा 'प्रभाकर' व अन्य, मदनगंज-किशनगढ़ (राज.) प्रका. वर्ष (ति. न.).
(6) कार्य-कारण रहस्य : डॉ. उज्जवलाशहा, वीतरागवाणी प्रकाशन, मुंबई ; 2001.
(7) खानिया तत्त्वचर्चा (पुस्तक - 2) : पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री (संपा.), आचार्यकल्प पं. टोडरमल ग्रंथमाला, जयपुर ; 1967.
(8) जैनतत्त्वमीमांसा : पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री, अशोक प्रकाशन मंदिर वाराणसी : वी.नि.सं. 2504.
(9) जैनसिद्धान्त : सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचंद शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली ; प्रका. वर्ष (ति. न.).
(10) जैनदर्शन मनन एवं मीमांसा : आचार्य महाप्रज्ञ, सम्पादक-मुनिदुलहराज, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु (राज.) ; 1995.
(11) जैनधर्म में अहिंसा : डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी; 2002.
(12) जैनदर्शन : डॉ. महेन्द्र जैन, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी 5 ; 1996.
(13) जैनदर्शन एवं संस्कृति - आधुनिक संदर्भ में : बाबूलाल पटौदी (संपा.), इंदौर विश्वविद्यालय, इंदौर; प्रका. वर्ष (ति. नं.).
(14) जैनसिद्धान्त प्रवेशिका : पं. गोपालदास बरैया, मोहनलाल शास्त्री मार्ग, जबलपुर, पंचम संस्करण; प्रका. वर्ष (ति. न.).
(15) जैनसिद्धान्त प्रवेश-रत्नमाला (भाग-2) : श्री कैलाशचंद जैन (संग्रहकर्ता), श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून; 1978.
(16) जैनसिद्धान्त प्रवेश-रत्नमाला (भाग-2) : श्री कैलाशचंद जैन (संग्रहकर्ता), श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून; चतुर्थ संस्करण; प्रका. वर्ष (ति. न.)
(17) ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव : ब्र. हरिलाल जैन, हिन्दी अनुवाद-मगनलाल जैन, श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैनतीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर ; 1988.

(18) तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ : डॉ. हुकमचंद भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1993.

(19) न्यायकुमुदचंद परिशीलन : प्रो. उदयचंद जैन, प्राच्य श्रमण भारती, मुज्जफरनगर (उ.प्र.) ; 2001.

(20) निमित्तोपादान विवेचन : देवेन्द्र कुमार जैन (संपा.), अनुवाद-वैद्य गंभीरचंद जैन, श्री कुन्दकुन्द कहान ग्रंथमाला, आगरा ; प्रका. वर्ष (ति. न.).

(21) निमित्तोपादान- एक अनुशीलन : डॉ. हुकमचंद भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1997.

(22) परमभावप्रकाशक नयचक्र : डॉ. हुकमचंद भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1989.

(23) प्रवचन रत्नाकर (भाग-3) : डॉ. हुकमचंद भारिल्ल (संपा.) हिन्दी अनुवाद-पं. रत्नचंद भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1983.

(24) पं. फूलचंद सिद्धान्त अभिनंदन-ग्रंथ : बाबूलाल जैन फागुल्ल (संपादक); सिद्धान्ताचार्य शास्त्री पं. फूलचंद प्रकाशन समिति, वाराणसी ; 1985.

(25) बनारसी विलास : कविवर बनारसीदास, अखिल भारतीय युवा फेडरेशन, जयपुर ; 1987.

(26) बौद्धदर्शन-मीमांसा : बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्या भवन, बनारस - 1, प्रका. वर्ष (ति.न.).

(27) बुधजन विलास : कवि बुधजन, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता; वी.नि.सं. 2477.

(28) भारतीय दर्शन : नंदकिशोर देवराज (संपा.), उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ; 1975.

(29) भारतीय दार्शनिक समस्यायें : डॉ. नंदकिशोर शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर- 4 ; 1976.

(30) भर्तृहरि का वाक्यपदीय : के. ए. सुब्रह्मण्य अय्यर, अनुवाद-डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर ; 1981.

(31) भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्यायें : परिसंवाद से तैयार, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर ; 1984.

(32) भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग-1) : डॉ. एस. एन. दासगुप्त, अनुवाद-कलानाथ शास्त्री व अन्य, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर - 4, 1988.

(33) भारतीय दर्शन (खण्ड-2) : डॉ. राधाकृष्णन, अनुवाद-नंदकिशोर गोमिल, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली ; 1969.

(34) भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्यायें : डॉ. महेश भारतीय, इन्डोविजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद ; प्रका. वर्ष (ति. नं.).

(35) भारतीय दर्शन (खण्ड-2) : गगनदेव गिरि, वाराणसी, 1983.

(36) भारतीय दर्शनों में अहिसा : तत्त्व का तार्किक : डॉ. सुरेन्द्र त्यागी, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नई दिल्ली ; 1999.

(37) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला : श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, बुलन्दशहर (उ.प्र.) ; प्रका. वर्ष (ति.न.).

(38) लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका: पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1995.

(39) वीतरागता : एक समीचीन दृष्टि : डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन, नीमच ; 1979.

(40) वैशेषिक दर्शन- एक अध्ययन : श्री नारायण मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-1 ; 1968.

(41) वैशेषिक दर्शन- तुलनात्मक अध्ययन : बी. एन. सिंह, आशा प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण ; प्रका. वर्ष (ति.न.).

(42) समयसार - एक सरल अध्ययन : पं. रत्नचंद भारिल्ल (संपा.), पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; 1989.

(IV)

Secondary sources (English)

(43) The Philosophy Nyaya Vaisesika and its conflict with Buddist Dighag : D.N. Shastri, Bhartiya Vidha Prakashan. Delhi; 1976.

(V)

हिन्दी कोश

(1) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग-1) : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पंचम संस्करण ; 1996.
(2) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग-2) : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पंचम संस्करण ; 1997.
(3) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग-3) : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण; 1995.
(4) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग- 4) : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण ; 1996.
(5) भारतीय दर्शन परिभाषा कोश : डॉ. दीनानाथ शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 1993.
(6) भारतीय दर्शन वृहद कोश : अर्जुन मिश्र व बच्चूलाल, सागर (अप्रकाशित)
(7) वृहद् वाच्सपत्यम्

(VI)

ENCYCLOPADIAS

(1) Encyclopaedia of Indian philosophies : Karl H. Potter, Motilal Banarasidas, Delhi.
(2) Encylopaedia of Religion and Ethics : Ed. - James Hastings Edinourgh, Vol-I; 1908.

(VII)

शोध-पत्रिकायें

(1) अनेकान्त : डॉ. जयकुमार जैन (संपादक), नई दिल्ली.
(2) उन्मीलन : दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर.
(3) दार्शनिक त्रैमासिक : अखिल भारतीय दर्शन परिषद्.
(4) मध्यभारती : डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
(5) रिसर्चलिंक : रमेश सोनी (संपादक), इंदौर.
(6) समाज धर्म एवं दर्शन : श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान, इलाहाबाद.
(7) सन्मति सन्देश : प्रकाश हितैषी (संपादक), नई दिल्ली.
(8) Indian philosophical quaterly : Dept. of philosophy, Pune.
(9) JICPR : Indian council of philosophical research, New Delhi.
(10) The philosophical quaterly : North Maharastra University's, Pratap centre of philosophy Amalner; India.

अल्पना जैन

अल्पना जैन का जन्म (1976) गौरझामर, सागर (म.प्र.) में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा 'जैन शिक्षा-वीतराग विज्ञान पाठशाला' गौरझामर में सम्पन्न हुई। स्नातक (1996) एवं स्नातकोत्तर **(दर्शनशास्त्र, स्वर्णपदक सम्मानपूर्वक-1998)** अध्ययन का सुअवसर डॉ. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर में प्राप्त हुआ। इसी विद्या संस्थान से **डॉ. अम्बिका दत्त शर्मा** के निर्देशन में पी-एच.डी. करते हुए यू.जी.सी. **'नेट'** परीक्षा उत्तीर्ण की और शोध कार्य के लिए **भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्** से **'अध्येता वृत्ति'** प्राप्त करने में सफल हुई। कई एक राष्ट्रीय सम्मेलनों एवं संगोष्ठियों में भाग लेने एवं दार्शनिक विषयों पर शोध-पत्रों को प्रस्तुत करने का मौका मिला जिनका प्रकाशन **दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श, मध्यभारती** इत्यादि पत्रिकाओं में हुआ। समसामयिक विषयों पर कुछ आलेख **'जनसत्ता'** में भी प्रकाशित हुए।

विश्वविद्यालय प्रकाशन
सागर (मध्यप्रदेश)

विश्वविद्यालय प्रकाशन
सागर (मध्यप्रदेश)